नासा (नासिका) कर्म

नासा कर्म छः प्रकार का होता है—१. नता, २. मन्दा, ३. विकृष्टा, ४. सोच्छ्वासा, ५. विकूणिता, ६. स्वाभाविका।

नासापुट यदि बार-बार मिलते हों (चपटे हो जायें), तो उसे 'नता' कहते हैं। यदि नासापुट स्थिर हों, तो उसे 'मन्दा' और यदि फूले हों, तो उसे 'विकृष्टा' कहते हैं। जब साँस को नासापुटों में खींचा जाये, तो उसे 'सोच्छ्वासा' कहते हैं। यदि नासापुट सिकुड़े हों, तो इस क्रिया को 'विकूणिता' और यदि वे सहज भाव में रहें, तो उसे 'समा' कहते हैं।

स्त्री अथवा नायिका को मनाने में, मन्द कम्पन से युक्त रहने में तथा साँस लेने में, रोदन के रुक जाने या मन्द हो जाने में तथा उसाँस लेने में 'नता' का प्रयोग किया जाता है। निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता तथा शोक में 'मन्दा' का प्रयोग किया जाता है। तीव्रगन्ध, श्वास, रोष, भय, पीड़ा तथा वीररस से सम्बन्धित भाव प्रदर्शित करने में 'विकृष्टा' का प्रयोग किया जाता है। मधुर अर्थात् इष्ट गन्ध, दीर्घश्वास तथा उसाँस में 'सोच्छवासा' का प्रयोग किया जाता है। जुगुप्सा, असूया तथा हास्य का भाव प्रदर्शित करने में 'विकूणिता' का प्रयोग किया जाता है और अन्य सहज भावों में 'स्वाभाविका' (समा) का प्रयोग किया जाता है।

□□□

कपोल (गाल) कर्म

कपोल कर्म छः प्रकार के बताये गये हैं—१. क्षाम, २. फुल्ल, ३. पूर्ण, ४. कम्पित, ५. कुञ्चित, ६. सम।

यदि कपोल अवनत या बैठे हुए हों, तो उन्हें 'क्षाम' कहते हैं। फूले या भरे हुए कपोल 'विकसित' कहलाते हैं। उन्नत या ऊँचे उठे कपोल 'पूर्ण' कहलाते हैं। कम्पित या स्फुरित कपोल हों, तो उन्हें 'कम्पित' कहते हैं। संकुचित या सिकुड़े हुए कपोल 'कुंचित' तथा स्वाभाविक दिशा में स्थित कपोल 'सम' कहलाते हैं।

दुःख के भाव में 'क्षाम' का प्रयोग करना चाहिए। हर्ष में 'फुल्ल' का, और उत्साह तथा गर्व में 'पूर्ण' का प्रयोग करना चाहिए। रोष तथा हर्ष में 'कम्पित' का प्रयोग करना चाहिए। रोमांच, स्पर्श, शीत, भय तथा ज्वर का भाव प्रदर्शित करने में 'कुञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। शेष भावों में 'सम' का प्रयोग करना चाहिए।

□□□

अधरोष्ठ (होठ) कर्म

अधरोष्ठ कर्म छः प्रकार के बताए गए हैं—१. विवर्तन, २. कम्पन, ३. विसर्ग, ४. विनिगूहन, ५. सन्दष्टक, ६. समुद्गक।

निचले अधर का फड़कना अथवा उसका नीचे झुकना 'विवर्तन' कहलाता है। अधर का हिलना 'कम्पन' और उसका बाहर निकलना 'विसर्ग' कहलाता है। अधर को अन्दर की ओर ले जाना 'विनिगूहन' कहलाता है। अधर का दाँतों से दबाना 'सन्दष्टक' तथा अधर को बाहर की ओर ऊँचा करना 'समुद्गक' कहलाता है।

असूया, वेदना, लज्जा, अनादर तथा हास्य इत्यादि के भाव-प्रदर्शन में 'विवर्तन' का प्रयोग करना चाहिए। वेदना, शीत, भय, क्रोध तथा वेग इत्यादि में 'कम्पन' का प्रयोग करना चाहिए। स्त्रियों के विलास, बिब्बोक तथा रंजन में 'विसर्ग' का प्रयोग करना चाहिए। श्रम तथा आयास में 'विनिगूहन' का प्रयोग करना चाहिए। क्रोध इत्यादि के भाव प्रदर्शन में 'सन्दष्टक' का प्रयोग करना चाहिए और अनुकम्पा, अभिनन्दन तथा चुम्बन में 'समुद्गक' का प्रयोग करना चाहिए।

□□□

चिबुक (ठोड़ी) कर्म

चिबुक कर्म सात प्रकार के बताए गए हैं—१. कुट्टन, २. खण्डन, ३. छिन्न, ४. चुम्कित, ५. लेहित, ६, सम, ७. दष्ट ।

दाँतों के संघर्ष या कड़कड़ाने को 'कुट्टन' कहते हैं । दाँतों को बारबार चबाना 'खण्डन' कहलाता है । दाँतों को जोर से मिलाना 'छिन्न' कहलाता है । दाँतों को परस्पर ऊपर तक हटा लेना 'चुक्कित' कहलाता है । दाँतों को जिह्वा से चाटना 'लेहित' कहलाता है । दाँतों का थोड़ा मिलना 'सम' तथा दाँतों से अधर को दबाना 'दष्ट' कहलाता है ।

भय, शीत, व्याधि तथा ज्वर में 'कुट्टन' का प्रयोग किया जाता है । जप, अध्ययन, संलाप (संवाद) तथा भक्षण करने के भाव में 'खण्डन' का प्रयोग किया जाता है । व्याधि, भय, शीत, व्यायाम, रोदन तथा मरण में 'छिन्न' का प्रयोग किया जाता है । चुम्बन लेने में 'चुक्कित' का तथा चाटने या चंचलता के भाव में 'लेहित' का प्रयोग करना चाहिए । स्वाभाविक चेष्टाओं में 'सम' तथा क्रोध के कार्यों में 'दष्ट' (सन्दष्ट) का प्रयोग करना चाहिए ।

□□□

मुखज (मुँह) कर्म

मुखज कर्म छः प्रकार के बताये गये हैं—१. विनिवृत्त, २. विधुत, ३. निर्भुग्न, ४. भुग्न, ५. विवृत्त, ६. उद्वाही।

सीधा खुला हुआ मुख 'विनिवृत्त' कहलाता है। तिरछा खुला मुख 'विधुत' कहलाता है। नीचे की ओर झुका हुआ मुख 'निर्भुग्न' और कुछ खुला हुआ मुख 'भुग्न' (व्याभुग्न) कहलाता है। अधरों से खुला हुआ मुख 'विवृत्त' तथा ऊपर की ओर उठा हुआ मुख 'उद्वाही' कहलाता हैं।

स्त्रियों के असूया, ईर्ष्या, कोप, अवज्ञा तथा विहृत (विहार) इत्यादि भावों में 'विनिवृत्त' का प्रयोग करना चाहिए। निवारण तथा निषेध कथन में 'विधुत' का और गम्भीर अवलोकन इत्यादि में 'निर्भुग्न' का प्रयोग करना चाहिए। लज्जित व्यक्ति तथा निर्वेद, औत्सुक्य, चिन्ता, विनय, मन्त्रणा (विचार) इत्यादि के भाव प्रदर्शन में 'भुग्न' का प्रयोग करना चाहिए। हास्य, शोक, भय इत्यादि में 'विवृत्त' का प्रयोग करना चाहिए। स्त्रियों की लीला, गर्व, अनादर तथा आदेशात्मक कथन एवं क्रोधपूर्ण वचनों में 'उद्वाही' मुख का प्रयोग करना चाहिए।

□□□

मुखराग कर्म

मुखराग चार प्रकार के बताये गये हैं—१. स्वाभाविक, २. प्रसन्न, ३. रक्त, ४. श्याम।

स्वाभाविक अभिनय तथा मध्यस्थ इत्यादि के भाव में 'स्वाभाविक' मुखराग का प्रयोग किया जाता है। अद्भुत, हास्य तथा श्रृंगार में 'प्रसन्न' मुखराग का प्रयोग किया जाता है। वीर, रौद्र तथा मद के भावों में रक्त मुख राग का तथा करुण, भयानक तथा बीभत्स रस में 'श्याम' मुखराग का प्रयोग किया जाता है। मुखराग का प्रयोग भाव तथा रस के प्रस्तुत करने में किया जाता है।

शाखा, अंग और उपांग आदि का अभिनय श्रेष्ठ होने पर भी यदि वह मुखराग से रहित हो, तो उसकी शोभा नहीं होती। यदि शरीराभिनय के अल्प मात्रा में प्रस्तुत करते हुए भी यदि उसे मुखराग से युक्त रखा जाये, तो उसकी शोभा रात्रि में चन्द्रमा के समान दुगुनी हो जाती है।

नयनाभिनय भी यदि मुखराग से युक्त रहे, तो वह अनेक भाव तथा रसों को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करता है, क्योंकि 'नाट्य' इसी पर निर्भर रहता है। नेत्र जिस प्रकार मुख, भृकुटी, दृष्टि इत्यादि से युक्त होते हैं, उसी प्रकार मुखराग को भी तत्सम्बन्धी भाव एवं रसों से युक्त रखते हुए नाट्य में प्रयोग करना चाहिए।

□□□

ग्रीवा (गर्दन) कर्म

ग्रीवा कर्म नौ प्रकार के बताये गये हैं—१. समा, २. नता, ३. उन्नता, ४. त्र्यस्रा, ५. रेचिता, ६. कुञ्चिता, ७. अञ्चिता, ८. वलिता, ९. विवृत्ता।

जो ग्रीवा अपनी सहज अवस्था में रहे, वह 'समा' कहलाती है। झुकी हुई ग्रीवा 'नता' कहलाती है। ऊपर की ओर चेहरे को उठाकर रखी हुई ग्रीवा 'उन्नता' कहलाती है। यदि ग्रीवा को किसी एक ओर मोड़ा जाये, तो वह 'त्र्यस्रा' कहलाती है। ग्रीवा कम्पित या घूमते हुए रखी जाये तो 'रेचिता' कहलाती है। ग्रीवा को मस्तक सहित नीचे की ओर झुकाया जाये, तो उसे 'कुञ्चिता' कहते हैं। ग्रीवा को मस्तक सहित पीछे की ओर मोड़ा जाये, तो वह 'अञ्चिता' कहलाती है। ग्रीवा चेहरे सहित बगल में मोड़ ली जाये, तो उसे 'वलिता' और यदि सामने की ओर स्थित रहे, तो उसे 'विवृत्ता' कहते हैं।

अलंकारों को धारण करने तथा किसी व्यक्ति के कंठ का सहारा लेने में 'नता' का प्रयोग किया जाता है। ऊपर की ओर देखने के भाव में 'उन्नता' का प्रयोग किया जाता है। कंधों द्वारा भार वहन करने तथा दुःख का प्रदर्शन करने में 'त्र्यस्रा' का प्रयोग किया जाता है। भ्रांति के भाव, मंथन के भाव तथा नृत्त में 'रेचिता' का प्रयोग किया जाता है। भारयुक्त होने तथा गले का बचाव करने में 'कुञ्चिता' का प्रयोग किया जाता है। ऊपर की ओर लटकने अथवा फाँसी लगाने, बालों को खींचने तथा ऊपर की ओर देखने में 'अञ्चिता' का प्रयोग किया जाता है। ग्रीवा को झुकाकर देखने के भाव में 'वलिता' का प्रयोग किया जाता है और अपने निश्चित स्थान की ओर प्रस्थान करने में 'विवृत्ता' का प्रयोग किया जाता है।

सभी ग्रीवा कर्म मस्तक की क्रिया का अनुसरण करते हैं और मस्तक के कर्म ग्रीवा के कर्मों से ही प्रवृत्त होते हैं।

□

हस्त कर्म

नृत्य में हस्तमुद्राओं का विशेष महत्व होता है। विभिन्न ग्रन्थों में तथा नाट्यशास्त्र के पाठान्तरों में हस्तमुद्राओं के नामों में भिन्नतायें दिखाई देती हैं। कुछ ग्रन्थों में मुद्राओं से सम्बन्धित उनके उद्भव की कथायें, उनसे सम्बन्धित देवता, वर्ण इत्यादि का उल्लेख भी किया गया है। आङ्गिक अभिनय में हस्ताभिनय का महत्व सर्वोपरि है, इसीलिए नाट्यशास्त्र में इस पर एक स्वतन्त्र अध्याय रखा गया है। हस्तमुद्राएँ नर्तक के आन्तरिक भावों को साकार करने में विशेष सहायक सिद्ध होती हैं। इसीलिए महर्षि भरत ने उनका उल्लेख विस्तार से किया है, जो यहाँ दिया जा रहा है।

असंयुत हस्त–

असंयुत हस्त मुद्राएें चौबीस बतायी गयी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— १. पताक, २. त्रिपताक, ३. कर्त्तरीमुख, ४. अर्द्धचन्द्र, ५. अराल, ६. शुकतुण्ड, ७. मुष्टि, ८. शिखर, ९. कपित्थ, १०. कटकामुख, ११. सूच्यास्य (सूचीमुख), १२. पद्मकोष, १३. सर्पशीर्ष, १४. मृगशीर्ष, १५. काङ्गूल, १६. अलपद्म, १७. चतुर, १८. भ्रमर, १९. हंसास्य, २९. हंसपक्ष, २१. सन्दंश, २२. मुकुल, २३. ऊर्णनाभ, २४. ताम्रचूड।

संयुत हस्त–

संयुत हस्त मुद्राएँ तेरह बतायी गयी हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं— १. अंजलि, २. कपोत, ३. कर्कट, ४. स्वस्तिक, ५. कटकावर्द्धमान, ६. उत्संग, ७. निषध, ८. दोल, ९. पुष्पपुट, १०. मकर, ११. गजदन्त, १२. अवहित्थ, १३. वर्द्धमान।

नृत्तहस्त–

नृत्तहस्तों के तीस प्रकार बताए गए हैं—१. चतुरस्र, २. उद्वृत्त ३. तलमुख, ४. स्वस्तिक, ५. विप्रकीर्ण, ६. अरालकटकामुख, ७. आविद्धवक्र, ८. सूच्यास्य, ९. रेचित, १०. अर्द्धरेचित, ११. उत्तानवञ्चित, १२. पल्लव, १३. नितम्ब, १४. केशबन्ध, १५. लता, १६. करिहस्त, १७. पक्षवञ्चित, १८. पक्षप्रद्योतक,

१९. गरुड़पक्ष, २०. दण्डपक्ष, २१. ऊर्ध्वमण्डलिन्, २२. पार्श्वमण्डलिन्, २३. उरोमण्डली, २४. उरःपार्श्वमण्डली, २५. मुष्टिकस्वस्तिक, २६. नलिनीपद्मकोश, २७. अलपल्लव, २८. उल्बण, २९. ललित, ३०. वलित।

इस प्रकार 'नाट्यशास्त्र' में हस्तमुद्राओं के नाम बताए गए हैं, जिनकी कुल संख्या ६७ होती है। महर्षि भरत ने ६४ संख्या का उल्लेख किया है और 'अभिनय दर्पण' के रचयिता नन्दिकेश्वर ने भी ६४ मुद्राएँ बतायी हैं। लेकिन उनके प्रयोग और नामों में काफ़ी भिन्नता है।

उपर्युक्त हस्त मुद्राओं के लक्षण तथा कर्म इस प्रकार बताए गए हैं—

पताका

पताक

सभी अंगुलियों को फैलाकर यदि अंगूठे को तिरछा (कुञ्चित) करके उसे तर्जनी के मूल में लगा दिया जाए, तो उसे 'पताक' हस्त मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग प्रहार (चोट) करने, शीतनिवारण के लिए, आग तापने, प्रेरणा देने, हर्ष तथा गर्व का भाव बताने में किया जाता है। 'पताक' मुद्रा से युक्त हाथ को ललाट प्रदेश से उठाते हुए रखना चाहिए। इस मुद्रा के देवता ब्रह्मा, जाति ब्राह्मण और वर्ण श्वेत बताया गया है।

दोनों हाथों को पताक मुद्रा में रखते हुए अँगुलियों को घुमाए, तो उनके द्वारा वर्षा, पुष्पवृष्टि और उग्र कम्पन के द्वारा अग्नि की ताप या ज्वालाओं को प्रदर्शित किया जाता है।

यदि पताक मुद्रा वाले दोनों हाथों से स्वस्तिक करते हुए उसे हटा लिया जाय, तो उसके द्वारा पल्लव एवं पुष्पों का उपहार, लहलहाती घास तथा पृथ्वी पर स्थित किए हुए बलि इत्यादि पदार्थों को बतलाया जाता है।

यदि हाथों को स्वस्तिक दशा से हटाकर उन्हें नीचे की ओर जाता हुआ रखे, तो उससे किसी वस्तु के बन्द करने, उघाड़ने, रक्षा करने, ढकने, घना करने तथा छिपाये जाने वाले गोपनीय भाव का प्रदर्शन किया जाता है।

यदि इसी मुद्रा युक्त हाथ को नीचे की ओर ले जाकर ऊपर उठाए तथा उसी समय अँगुलियों को आगे पीछे घुमाया जाय, तो इसके द्वारा वायु का चलना, लहरों का वेग, समुद्र से सम्बन्धित वातावरण, क्षोभ तथा बाढ़ का वेग बतलाया जाता है।

इसी मुद्रा में जब हाथ को रेचक करण युक्त अर्थात् रेचित किया जाए, तो उसके द्वारा प्रोत्साहन, भारी संख्या में विद्यमान मनुष्यों का कोलाहल, ऊँचाई, ढोल जैसे वाद्यों का पीटना तथा पक्षियों का पंखों को फड़फड़ाते हुए ऊपर उठकर उड़ना बतलाया जाता है।

इसी मुद्रा में यदि दोनों हाथों को परस्पर मसला जाए, तो उनके द्वारा धोना, मसलना, माँजना, गूँथना, पीसना, पर्वत को उठाना या उखाड़ना जैसे भावों को बतलाया जाता है।

त्रिपताक

त्रिपताका

यदि 'पताक' युक्त हाथ में अनामिका अँगुली को झुका दिया जाए तो उसे 'त्रिपताक' मुद्रा कहते हैं।

'पताक' मुद्रा के द्वारा आवाहन, अवतरण (नीचे उतरना), विसर्जन या धारण, प्रवेश, उन्नामन (ऊपर की ओर चढ़ाना), प्रणाम, तुलना करना (निदर्शन) वैकल्पिक-कथन (विविध वचन), मांगलिक वस्तुओं का स्पर्श तथा मस्तक पर धारण, पगड़ी या मुकुट जैसी वस्तु का धारण तथा नासिका, मुख एवं कानों का ढकना बताया जाता है।

इसी मुद्रा से युक्त दोनों हाथों को नीचे की ओर जाने तथा ऊपर की ओर उठने वाली अँगुलियों वाला रखे, तो उनके द्वारा छोटे पक्षियों का पतन, स्रोत, सर्प तथा भ्रमर इत्यादि बतलाए जाते हैं।

त्रिपताक मुद्रा वाले हाथ में अनामिका अँगुली के स्पर्श द्वारा आँसुओं का पोंछना, तिलक करना, गोरोचन का तिलक आदि के लिए ग्रहण करना, पत्रलेखा-रचना (जो भुजाओं तथा वक्ष पर की जाती है) और अलग स्पर्श बतलाया जाता है।

यदि 'त्रिपताक' हाथ स्वस्तिक दशा में रहें, तो उससे गुरुजन के चरण स्पर्श तथा स्वस्तिक दशा युक्त होकर एक दूसरे के कोनों को छूते हों, तो उससे विवाह-दर्शन बतलाया जाता है।

'त्रिपताक' हाथ एक दूसरे से हटते हुए तथा कम्पित अवस्था में रखे जाएँ तो उनके द्वारा राजा का दर्शन बतलाते हैं और यदि ये स्वस्तिक दशा में तिरछे रखे जाएँ, तो इनके द्वारा ग्रहों के दर्शन बतलाए जाते हैं।

'त्रिपताक' मुद्रा वाले हाथ ऊपर की ओर उठें तथा उनको फिर पीछे की ओर रखा जाए, तो इसके द्वारा तपस्वियों का दर्शन बतलाया जाता है। यदि यही हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखे जाएँ, तो उनसे द्वार का स्वरूप या दर्शन बतलाया जाता है।

'त्रिपताक' हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखकर फिर अँगुलियों को हिलाते हुए नीचे की ओर मुख वाले किए जाएँ, तो उससे बड़वानल, संग्राम तथा मकर के भाव का प्रदर्शन किया जाता है। त्रिपताक मुद्रा के ही द्वारा वानर का उछलना, लहरें, पवन तथा स्त्रियों को भी बतलाया जाता है।

यदि त्रिपताक मुद्रा वाले हाथ को सम्मुख रखते हुए अँगूठे को फैला दें, तो उससे बालचन्द्र का प्रदर्शन किया जाता है, परन्तु यदि इसी हाथ को पीछे की ओर मोड़ लिया जाए तो उससे शत्रु के विरुद्ध राजा की चढ़ाई बतलायी जाती है। इस मुद्रा के देवता शिव, जाति क्षत्रिय और वर्ण रक्त बताया गया है।

कर्तरीमुख

कर्तरीमुख

'त्रिपताक' मुद्रा वाले हाथ में तर्जनी अँगुली मध्यमा के पीछे फैलाकर रखी जाए या झुकायी जाए, तो उसे 'कर्तरीमुख' मुद्रा कहते हैं।

'कर्तरीमुख' मुद्रा वाला हाथ नीचे की ओर मुँह वाला रखते हुए रखा जाय, तो उसके द्वारा मार्ग में पैर रखना, पैर को रंजित या अलंकृत करना, रंगोली की रचना करना बतलाया जाता है। यदि यही हाथ ऊँचे मुँह वाला रहे तो उसके द्वारा दंशन, शृङ्ग तथा चित्र-लेखन कर्म बतलाया जाता है।

यदि इसी मुद्रा को नीचे की ओर झुकाया या रखा जाए तथा अँगुलियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने लगें और मध्यमा पीछे की ओर झुकी रहे, तो उसके द्वारा पतन, मरण, अपराध (व्यतिक्रम) पराङ्मुखी-भवन, तर्क करना तथा धरोहर को रखना बताया जाता है।

यदि दो 'कर्तरीमुख' हस्तों या एक 'कर्तरीमुख' हस्त का प्रयोग किया जाये तो इनके द्वारा रुरुमृग, चमरी गाय, महिष (भैंसा), ऐरावत हाथी, वृषभ, गोपुर तथा शैलशिखर इत्यादि का भाव प्रदर्शित किया जाता है। इस मुद्रा के देवता चक्रपाणि विष्णु, जाति क्षत्रिय और वर्ण ताम्र है।

अर्द्धचन्द्र

अर्धचन्द्र

जब अंगुलियाँ अंगूठे सहित धनुष जैसी झुकाकर फैला दी जायें, तो उसे 'अर्द्धचन्द्र' मुद्रा कहते हैं।

अर्द्धचन्द्र के द्वारा छोटे वृक्ष, चन्द्रलेखा, शंख, कलश, कंकण (कटक) बाहर ढकेलना (निर्घाटन), परिश्रम (आयस्त), कृशता (कटिप्रदेश की तुलना में निर्देशित की जाने वाली) तथा पीनता (मोटाई) जैसे भाव बतलाये जाते हैं।

इस 'अर्द्धचन्द्र' हस्त के द्वारा स्त्रियों की करधनी (मेखला), जंघा, कटि, चेहरा (आनन), तलपत्र (कानों में धारण करने वाला अलंकार विशेष) तथा कुण्डल का अभिनय प्रस्तुत करना चाहिए। इस मुद्रा के देवता महादेव, जाति वैश्य तथा वर्ण धूम्र बताया गया है।

अराल

अराल

तर्जनी अंगुली झुकी हुई और अंगूठा उससे मिलाने के लिए सिकुड़ा हुआ रहे तथा शेष अंगुलियाँ उससे पृथक् एवं ऊपर की ओर खड़ी रखी जायें, तो उसे 'अराल' मुद्रा कहते हैं।

'अराल' मुद्रा के द्वारा सत्त्व (स्थैर्य), गर्व, पराक्रम (वीर्य), शोभा (कान्ति), धृति, दिव्य वस्तु, गाम्भीर्य, आशीर्वाद देना तथा इसी प्रकार के अन्य हितप्रद भावों को बतलाया जाता है।

स्त्रियों का केश-गूंथना और उनका फैलाना तथा अपने सम्पूर्ण शरीर को ध्यानपूर्वक देखना, या दो अराल हस्तों की अंगुलियों के अग्रभागों के स्पर्श द्वारा बतलाया जाना चाहिए। इसी में एक गोल घुमाव देने पर विवाह के पूर्व होने वाली भावरों (भँवरों), (कौतुक-विवाह योग) का विधान तथा दोनों वर-वधू के हाथों का मिलाप बतलाया जाता है। इसी हस्त के द्वारा प्रदक्षिणा, गोलवस्तु (परिमण्डल), जनकोलाहल तथा पृथ्वी में स्थित या उस पर सजायी गयी वस्तुएं भी बतलायी जाती हैं। किसी व्यक्ति को बुलाना, रोकना, उदय होना, अनेक बात कहना, पसीना पोंछना, मीठी सुगन्ध लेना तथा शुभ कार्यों का निर्देशन इसी मुद्रा से किया जाता है।

'त्रिपताक' मुद्रा द्वारा जिन कार्यों का प्रदर्शन बतलाया गया है वे सभी कार्य स्त्रियों के द्वारा 'अराल' मुद्रा से भी प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इस मुद्रा के देवता वासुदेव, जाति मिश्र और वर्ण रक्त बताया गया है।

शुकतुण्ड

शुकतुंड

'अराल' हस्त की अनामिका अंगुली को टेढ़ा करके झुका लिया जाये, तो उसे 'शुकतुण्ड' मुद्रा कहते हैं।

'शुकतुण्ड' हस्त के द्वारा 'मैं इसे नहीं....तुम इसे नहीं तथा यह किये जाने योग्य नहीं', इन अर्थों को और आवाहन, विदाई (विसर्ग) तथा अवज्ञापूर्वक धिक्कारना आदि अर्थों को बताया जाता है। इस मुद्रा के देवता मरीचि, जाति ब्राह्मण और वर्ण रक्त बताया गया है।

मुष्टि

मुष्टि

यदि सभी अंगुलियाँ हथेली में बाँध दी जायें और अंगूठा ऊपर की ओर उठा लिया जाये, तो उसे 'मुष्टि' मुद्रा कहते हैं।

'मुष्टि' के द्वारा प्रहार, व्यायाम, निर्गम, पीड़न (स्तन तथा पशु-थन के उत्पीड़न), मिट्टी, तलवार, डण्डे तथा भाले को ग्रहण करने, तथा संवाहन (पैरों का दबाना) में इसका प्रयोग किया जाता है। शास्त्रों के अनुसार मधु राक्षस के वध के समय भगवान् विष्णु ने इसी मुद्रा का प्रयोग किया था। इस मुद्रा के देवता चन्द्र, जाति शूद्र और वर्ण नील बताया गया है।

शिखर

शिखर

'मुष्टि' हस्त में अंगूठे को ऊपर सीधा उठा लिया जाये, तो उसे 'शिखर' मुद्रा कहते हैं।

धनुष की डोरी, किरण या लगाम, कुश, अंकुश, धनुष इत्यादि धारण करने, शक्ति और तोमर अस्त्र को छोड़ने, होंठ (अधर) तथा पैरों को रंगने एवं बालों को झाड़ने या संवारने का भाव इस मुद्रा द्वारा बताया जाता है। इस मुद्रा के देवता कामदेव, जाति ब्राह्मण, वर्ण धूमिल बताया गया है।

कपित्थ

कपित्थ

शिखर हस्त में तर्जनी अंगुली को झुकाकर अंगूठे पर रख दिया जाए, तो उसे 'कपित्थ' मुद्रा कहते हैं।

तलवार, धनुष, चक्र, तोमर, कुन्त (भाला), गदा, शक्ति, वज्र, तथा बाण को छोड़ने एवं सत्य तथा हितकर कार्य से सम्बन्धित भाव बताने में 'कपित्थ' मुद्रा का प्रयोग किया जाता है। इस मुद्रा के देवता गद्मगर्भ विष्णु, जाति ऋषि और वर्ण श्वेत बताया गया है।

कटकामुख (खटकामुख)

कटकामुख

'कपित्थ' हस्त मुद्रा में अनामिका तथा कनिष्ठिका अंगुलियों को ऊपर उठाकर मोड़ा जाये, तो उसे 'कटकामुख' या 'खटकामुख' कहते हैं।

'कटकामुख' के द्वारा होम (हवन) एवं उसके द्रव्य, छत्र, रास खींचना, पंखा, दर्पण-धारण, पंखों का तोड़ना, पीसना, लम्बे दण्डकाष्ठ का ग्रहण, मौक्तिकमाला का संभालना, पुष्पमाला तथा अन्य मालाओं का धारण करना, वस्त्र का कोना थाम लेना या खींचना, मंथनी तथा बाण खींचना, पुष्प तोड़ना, चाबुक लगाना, अंकुश लगाना, रस्सी खींचना तथा स्त्री चेष्टाओं का दर्शन अर्थात् घूंघट इत्यादि का भाव दिखाया जाता है। इस मुद्रा के देवता रघुराम, जाति देव और वर्ण ताम्र बताया गया है।

सूचीमुख

सूचीमुख

'कटकामुख' मुद्रा वाले हाथ की तर्जनी अँगुली फैला दी जाए, तो उसे 'सूचीमुख' मुद्रा कहते हैं।

'सूचीमुख' मुद्रा में यदि तर्जनी अँगुली को ऊपर की ओर उठाकर घुमाया जाए, तो उसके द्वारा चक्र, बिजली, पताका,

पुष्प मंजरी, कर्णपूर (कर्णचूलिका), सभी प्रकार की तिरछी रेखाएँ (कुटिलगति), साधुवाद की ध्वनियाँ, बालसर्प, लताकुंर, पल्लव, धूप, दीप, बल्लि, लता, शिखण्ड, अधःपतन, तिरछा तथा गोलमण्डल बतलाया जाता है ।

इसी मुद्रा में जब तर्जनी को ऊपर की ओर उठाया जाए, तो उसके द्वारा तारे, नासिका, एक की संख्या, दण्ड देना तथा लकड़ी (लाठी) का अर्थ सूचित होता है। परन्तु जब किसी अँगुली को झुका लिया जाए, तो उससे दाढ़ वाले प्राणीजन का, यदि उसी अँगुली को गोल घुमाया जाए, तो उससे किसी व्यक्ति द्वारा सभी वस्तु का ग्रहण करना, यदि झुकाकर उसी अँगुली को ऊपर उठा लिया जाए, तो उससे दीर्घ अभ्यास, दिवस तथा यदि वही अँगुली मुँह के समीप ले जाकर मोड़ी और ऊपर नीचे ले जायी जाए, तो उससे वाक्यों का अर्थबोध प्रदर्शित किया जाता है ।

यदि 'सूचीमुख' द्वारा निषेध तथा सम्भाषण का अर्थ प्रदर्शित करना हो, तो इस मुद्रा में तर्जनी अँगुली को फैलाकर उसे हिलाते हुए ऊपर की ओर उठा लेना चाहिए। इसी मुद्रा को यदि कम्पित रखा जाए, तो उससे क्रोध, स्वेद, केश, कुण्डल, अंगद तथा गंडस्थल का सजाना बतलाया जाता है एवं ललाट पर रखने से गर्व, क्रोध और शत्रु का निर्देश सूचित किया जाता है ।

'सूचीमुख' मुद्रा द्वारा 'कौन है ?' ऐसा प्रश्न करने तथा कानों के खुजलाने का अर्थ सूचित करना हो, तो तर्जनी को ललाट प्रदेश के पास रखना चाहिए। दोनों हाथों को 'सूचीमुख' मुद्रा में मिलाने से संयोग तथा हटा लेने पर वियोग की स्थिति सूचित की जाती है । यदि दोनों हाथों को 'स्वस्तिक' कर लें तो उससे पारस्परिक कलह तथा दोनों 'सूचीमुख' हाथ एक दूसरे के सम्मुख रखकर फिर बायीं ओर अलग ले जाएँ, तो उससे रात्रि की समाप्ति अथवा शयन से उठने का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है ।

यदि दो 'सूचीमुख' हस्त हों तो उससे सम्पूर्ण चन्द्र मण्डल का तथा यदि वे ललाट के समीप खड़ी स्थिति में रहें, तो उससे इन्द्र का उत्कर्ष बतलाया जाता है ।

'सूचीमुख' हस्त को यदि गोल घुमाव दे दिया जाए, तो उससे स्वरूप, शिला, भँवर (आवर्त्त), यन्त्र तथा शैल-शिखर बतलाए जाते हैं । यदि इसी मुद्रा में हाथों को नीचे मुँहवाला करके रखा जाए, तो उससे अन्न या भोजन परोसना प्रदर्शित किया जाता है । यदि ललाट के पास नीचा मुँह रखते हुए इसी मुद्रा वाले हाथ को रखा जाए, तो उससे त्रिनेत्र-धारी शिव का रूप बताया जाता है। और यदि ऊपर की ओर मुँह रखकर तिरछा कर लिया जाए, तो सहस्र नेत्र वाले इन्द्र का स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है । इस मुद्रा के देवता विश्वकर्मा तथा जाति देव और वर्ण श्वेत बताया गया है ।

पद्मकोष

पद्मकोष

अँगूठे सहित सभी अंगुलियाँ ऊपर की ओर मुँह वाली अलग-अलग तथा सिकुड़ी हुई रखी जाएँ, तो उसे 'पद्मकोष' हस्त कहते हैं।

'पद्मकोष' के द्वारा बिल्व तथा कैथ (कपित्थ) फल तथा स्त्रियों के उरोजों का अर्थ सूचित होता है। यदि इन अँगुलियों के अग्र भाग सिकुड़े हुए रखे जायें, तो उसके द्वारा किसी वस्तु के ग्रहण करने, माँस की प्राप्ति, विविध प्रकार के फल, बिजौरा (बीजपूर) तथा माँस खण्ड का प्रदर्शन किया जाता है।

इस मुद्रा के द्वारा देवार्चन, बलि प्रदान, डलिया (गोल संदूक), प्रथम पिण्ड प्रदान तथा पुष्पों का विसर्जन प्रदर्शित किया जाता है। यदि पद्मकोश मुद्रा वाले दोनों हाथों को कलाई से मिलाते हुए पीछे की ओर ले जाया जाए तथा अँगुलियाँ हिलती रहें, तो उससे विकसित कमल एवं कुमुदिनी के भाव को प्रदर्शित किया जाता है। इस मुद्रा के देवता भार्गव, जाति यक्ष-किन्नर तथा वर्ण श्वेत बताया गया है।

सर्पशीर्ष

सर्पशीर्ष

सभी अँगुलियाँ अंगूठे सहित एक दूसरे से मिली रहें और हथेली झुकी या गड्ढेदार रखो जाए, तो सर्प के फन के समान हो जाने के कारण उसे 'सर्पशीर्ष' मुद्रा कहा गया है।

'सर्पशीर्ष' का प्रयोग पितरों को जलांजलि प्रदान करने, सर्पगति, जलसिंचन, मल्लयुद्ध में जँघा तथा भुजाओं के ठोकने और हाथी के कुम्भस्थल (मस्तक) को थपथपाने में किया जाता है। इसके देवता शिव, जाति देव तथा वर्ण पीत है।

मृगशीर्ष

मृग शीर्ष

कनिष्ठिका अँगुली तथा अँगूठे को सीधा रखा जाए और शेष अँगुलियाँ झुके हुए मुंह वाली रखी जायें, तो उसे 'मृगशीर्ष' हस्त कहते हैं।

'मृगशीर्ष' के द्वारा 'यहाँ', 'अभी', 'यह है', 'आज' जैसे अर्थ वाला भाव एवं शक्ति के उठाने तथा पाँसों के फेंकने का भाव प्रदर्शित किया जाता है। यदि इसी मुद्रा में हाथ को कम्पित रखा जाए, तो उससे पसीने का पोंछना और स्त्रियों की कुट्टमित चेष्टा को प्रदर्शित किया जाता है। इस मुद्रा के देवता महेश्वर-शिव, जाति ऋषि तथा वर्ण श्वेत बताया गया है।

कंगुल

कंगुल

मध्यमा, तर्जनी तथा अँगूठे अलग-अलग रहें, अनामिका अँगुली टेढ़ी रहे तथा कनिष्ठिका अँगुली खड़ी रहे, तो उसे 'कंगुल' हस्त कहते हैं।

'कंगुल' हस्त-मुद्रा के द्वारा विभिन्न प्रकार के छोटे-छोटे फलों (सुपारी, बेर इत्यादि) तथा स्त्रियों के रोषपूर्ण वचनों को अँगुली के आक्षेप (घुमाने) के भाव को प्रस्तुत किया जाता है। बिल्ली के बैठने का स्थान पुष्पों का ग्रहण, मरकतमणि और वैदूर्य (लहसुनियाँ) जैसे रत्न का प्रदर्शन भी 'कंगुल' हस्त के द्वारा किया जाता है। इसके देवता पद्म, जाति सिद्ध तथा वर्ण सुवर्ण हैं।

अलपल्लव (अलपद्म)

समस्त अँगुलियाँ हथेली में गोल आकार में सिकुड़ी हुई एवं बिखरी हुई रखी जायें, तो उसे 'अलपल्लव' हस्त कहते हैं।

'अलपल्लव' के द्वारा प्रतिषेध, 'तुम कौन हो', जैसे प्रश्न सूचक वाक्य, 'नहीं हैं', शून्य वचन (मिथ्याधिक्षेप-जैसे मूर्ख, इत्यादि वचन) तथा स्त्रियों के अहम् का आपादन (स्थापना) या विस्मय के भाव का प्रदर्शन किया जाता है। इस मुद्रा के देवता सूर्य, जाति गान्धर्व और वर्ण धूलि बताया गया है।

चतुर

चतुर

तीनों अँगुलियों को सामने फैलाकर कनिष्ठिका अँगुली को सीधा उठाया जाए और उनके मूल में अँगूठे को रखें, तो उसे 'चतुर' हस्त कहते हैं।

'चतुर' हस्त का प्रयोग नीति, विनय, निपुणता या चतुरता, बाला (कन्या), रोगी, बल (सत्त्व), कैतव युक्त (छलपूर्ण) प्रयोजन या बात एवं हितकर वचन, सत्य तथा प्रशम (निवृत्ति या शांति) का अर्थ बतलाया जाता है।

एक या दो 'चतुर' मुद्रा वाले हस्तों के अल्प घुमाव द्वारा-प्रकट करना अर्थात् विवृत करना, विचार करना, आचरण करना (चलना-हिलना), आशंका करना तथा लज्जा के भाव को प्रस्तुत किया जाता है।

दो संयुक्त 'चतुर' हस्तों द्वारा कमलदलों से नयनों की उपमा देना तथा हिरणों के कानों को बतलाया जाता है। इसके अतिरिक्त 'चतुर' हस्त के द्वारा क्रीड़ा (लीला), अनुराग (रति), प्रभा (रुचि), स्मृति, बुद्धि, तर्क (ऊहापोहात्मक-कार्य-विभावन), क्षमा, पुष्टि, संकेत (संज्ञामात्र), प्रणय, विचार, मिलन, पवित्रता, चातुर्य, माधुर्य, दाक्षिण्य, मार्दव, सुख, चरित्र (शील), प्रश्न, वार्ता (कथा या अर्थशास्त्र), युक्ति,

वेशस्थान या वेशरचना, कोमल घास, अल्प परिमाण, समृद्धिशालिता तथा समृद्धिहीनता, सुरत कर्म, गुण तथा अवगुण, यौवन, गृह-पत्नी तथा अनेकविध रंगों को भी बतलाया जाता हैं। रंगों को बताने में हाथ को ऊपर की ओर उठाकर श्वेत वर्ण बताना चाहिए, गोल घुमाव द्वारा रक्त व पीतवर्ण तथा एक हाथ से दूसरे हाथ को दबाकर (परिमृदित) नील वर्ण बताया जाना चाहिए। इस मुद्रा के देवता सूर्य, जाति मिश्र और वर्ण धूलि बताया गया है।

भ्रमर

भ्रमर

मध्यमा अँगुली और अंगूठे को एक दूसरे से मिलाकर अँगुली को टेढ़ी करले तथा शेष दो अँगुलियाँ ऊपर की ओर फैला दे, तो उसे 'भ्रमर' हस्त कहते हैं।

'भ्रमर' हस्त के द्वारा कमल, कुमुदिनी तथा अन्य लम्बे डण्ठल या टहनी वाले पुष्पों का चयन और कान के कुण्डल (कर्णाभूषण) को बतलाया है।

'भ्रमर' हस्त मुद्रा वाले हाथ को कुछ शब्द करते हुए नीचे झुकाया जाये, तो डाँटना (निर्भर्त्सना), बलशीलता का गर्व (बलालाप) बतलाना, शीघ्रता, ताल देना, तथा विश्वास करने का अर्थ प्रकट होता है। इस मुद्रा के देवता गरुड, जाति मिश्र और वर्ण घन (काला) बताया गया है।

हंसास्य (हंसवक्त्र)

हंसास्य

तर्जनी तथा मध्यमा अँगुली अँगूठे के अग्र भाग पर रहे तथा दो अँगुलियाँ फैली हुई रहें, तो उसे 'हंसास्य' हस्त कहते हैं।

'हंसास्य' हस्त युक्त हाथ के अग्र भाग को कुछ कम्पन युक्त रखने पर, इसके द्वारा स्निग्ध, अल्प, शिथिल, लाघव, निःसार वस्तु या निष्क्रमण तथा मृदुता के भाव का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है। इस मुद्रा के देवता ब्रह्मा, जाति मिश्र और वर्ण श्वेत बताया गया है।

हंसपक्ष

हंसपक्ष

यदि तीन अँगुलियाँ फैली हुई तथा कनिष्ठिका अँगुली सीधी एवं ऊपर की ओर उठी रहे और अँगूठा सिकुड़ा हुआ हो, तो उसे 'हंसपक्ष' कहते हैं।

'हंसपक्ष' मुद्रा के द्वारा पितरों को जल-प्रदान (तर्पण) करने का अर्थ बताया जाता है तथा कपोल (गाल) के समीप ले जाने पर किसी दान के ग्रहण करने का भाव प्रकट किया जाता है। इसी मुद्रा के द्वारा भोजन के समय किए

इस प्रकार भरत ने उपर्युक्त २४ असंयुत हस्त मुद्राओं का उल्लेख किया है।

संयुत हस्त

संयुत हस्त मुद्राएँ तेरह बतायी गयी हैं, जिनके लक्षण इस प्रकार हैं :—

अंजलि

जब दो 'पताक' हस्त मिला दिये जाते हैं, तो उसे 'अंजलि' हस्त मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग देवता, गुरुजन तथा मित्रों के अभिवादन में किया जाता है। अभिवादन के तीन स्थान हैं—वक्षःस्थल, मुख तथा मस्तक (शिर)। इनमें देवताओं को शिरस्थ, गुरुजनों को मुख के सम्मुख तथा मित्रों को वक्षःस्थल के बराबर हाथ रखते हुए नमस्कार करना चाहिए। शेष व्यक्तियों के अभिवादन में कोई नियत स्थल नहीं होते। स्त्रियों के द्वारा नमस्कार प्रस्तुत करने में विशेष नियम नहीं होते हैं।

कपोत

दो सर्पशीर्ष हस्तों को परस्पर दोनों कोनों से मिलाने पर 'कपोत' मुद्रा बन जाती है। इस मुद्रा का प्रयोग विनम्रता इत्यादि सौजन्यपूर्ण भाव के प्रदर्शन, पूज्यजनों को प्रणाम करने तथा उनसे सम्भाषण करने में किया जाता है। शीत तथा भय के अर्थ का प्रदर्शन करने में स्त्रियों के द्वारा इस मुद्रा को वक्षःस्थल पर स्थित रखना चाहिए। इसी मुद्रा में यदि दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलाकर हटा लिया जाये, तो उससे खिन्न वचनों, 'इतना करना' तथा 'यह अभी नहीं करना' जैसे अर्थ का भाव प्रस्तुत किया जाता है।

कर्कट

जब दोनों हाथों की अँगुलियाँ मिलकर एक दूसरे के बीच से निकली हुई रहें, तो उसे 'कर्कट' मुद्रा कहते हैं।

'कर्कट' मुद्रा का प्रयोग काम के मद में अंग मरोड़ना, सोकर उठते समय जंभाई लेने, विशाल शरीर, ठुड्डी को हाथ से सहारा देने तथा शंख के ग्रहण करने में किया जाता है।

स्वस्तिक

दो 'अराल' हस्तों को कलाई पर सामने की ओर से ऊपर मुँह रखते हुए बायें बाजू की ओर रख दिया जाये, तो उसे 'स्वस्तिक' मुद्रा कहते हैं। इसका प्रयोग स्त्रियों के लिये बताया गया हैं।

'स्वस्तिक' हस्त मुद्रा का प्रदर्शन करके दोनों हाथों को हटा लेने पर, उसके द्वारा दिशाओं, आकाश, वन, समुद्र, ऋतुओं, पृथ्वी, वेग तथा अन्य विस्तीर्ण पदार्थों का अभिनय प्रस्तुत किया जाता है।

कटका (खटका)

दो 'कटका' मुख हस्तों को 'स्वस्तिक' दशा में एक दूसरे की कलाई के ऊपर रखा जाये, तो 'कटका' या 'खटका-वर्धमानक' मुद्रा बन जाती है।

'कटकामुख' का प्रयोग श्रृंगार के भावों को प्रस्तुत करने, प्रणाम करने तथा कुमुद, उत्पल, कुन्दपुष्पों एवं शंख के धारण करने में किया जाता है।

उत्संग

ऊपर की ओर मुँहवाले दो 'अराल' हस्त जब स्वस्तिक दशा में दोनों कंधों पर रख लिये जायें, तो उसे 'उत्संग' हस्त कहते हैं।

'उत्संग' हस्त का प्रयोग बहुत प्रयत्न द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्य, रोष, ईर्ष्या, किसी पदार्थ को दबाना या उसका पीड़न करना तथा स्त्रियों की ईर्ष्या का भाव प्रस्तुत करने में किया जाता है।

निषध

'मुकुल' हस्त को 'कपित्थ' हस्त से परिवेष्टित कर दिया जाये, तो इस मुद्रा को 'निषध' कहते हैं।

'निषध' का प्रयोग संग्रह, दान, ग्रहण, प्रतिज्ञा, सत्यवचन, संक्षेप तथा समेटने का भाव बताने में किया जाता है।

यदि बायाँ हाथ दाहिनी भुजा पर रखा जाये, तथा दाहिना हाथ बायीं भुजा पर 'मुष्टि' हस्त के रूप में स्थित हो, तो उसे भी 'निषध' हस्त कहा गया है। इसका प्रयोग धैर्य, मद, गर्व, सौष्ठव, औत्सुक्य, पराक्रम, शौर्य, उद्दण्डता (आरोप), स्वाभिमान, हठ, स्तम्भ तथा स्थैर्य इत्यादि भावों का अभिनय प्रस्तुत करने में किया जाता है।

यदि दो विभिन्न दिशाओं में दो हंसपक्ष हस्तों को रखा जाये, तो वह भी 'निषध' हस्त होता है, जिसका प्रयोग झरोखा, खिड़की आदि से टक्कर लगने का भाव बताने में किया जाता है।

दोला

दो कंधों को ढीला रखते हुए दोनों 'पताक' हस्तों को हिलाते हुए रखें, तो करण में प्रयुक्त होने वाली 'दोला' हस्त मुद्रा बन जाती है।

'दोला' का प्रयोग सम्भ्रम, विषाद, मूर्च्छा, नशे के झटके (मदाभिघात), आवेग, व्याधियुक्तता तथा शस्त्रों से आहत दशा का भाव बताने में किया जाता है।

पुष्पपुट

दो 'सर्पशीर्ष' हस्तों की अंगुलियों को सटाकर दोनों हाथों को एक दूसरे से सटा दिया जाये, तो उसे 'पुष्पपुट' मुद्रा कहते हैं।

'पुष्पपुट' मुद्रा के द्वारा धान्य, फल, पुष्प तथा इसी प्रकार की वस्तुओं का ग्रहण, अर्पण, जल का लाना तथा हटाना सूचित किया जाता है।

मकर

दो 'पताक' हस्तों को अंगूठा उठाते हुए फैलाकर एक दूसरे पर रख दिया जाये, तो उसे 'मकर' हस्त मुद्रा कहते हैं।

'मकर' का प्रयोग सिंह, हाथी, गेंडा, घड़ियाल (मगर), मत्स्य तथा अन्य हिंसक जन्तुओं का प्रदर्शन करने में किया जाता है।

गजदन्त

दो 'सर्पशीर्ष' हस्त स्वस्तिक स्थिति में एक दूसरे कंधों पर रखे जायें, तो उसे 'गजदन्त' हस्त मुद्रा कहते हैं।

'गजदन्त' का प्रयोग वर-वधू का पाणिग्रहण, अत्यधिक भार के वहन, स्तम्भग्रहण तथा पर्वत एवं पत्थर उखाड़ने का भाव बताने में किया जाता है।

अवहित्थ

दो 'शुकतुण्ड' हस्तों को छाती पर नीचे मुँह वाले और लटकते हुए रखा जाये, तो उसे 'अवहित्थ' कहते हैं।

'अवहित्थ' का प्रयोग दुर्बलता, निःश्वास, शारीरिक सौन्दर्य का प्रदर्शन, शरीर का पतलापन तथा उत्कंठा का भाव दिखाने में किया जाता है।

वर्धमान

'मुकुल' हस्त को 'कपित्थ' हस्त से लपेटा जाये, तो उसे 'वर्धमान' हस्त मुद्रा कहते हैं, जिसका प्रयोग झरोखा तथा खिड़की के खुलने में किया जाता है।

यदि दोनों हाथ नीचे की ओर 'हंसपक्ष' मुद्रा में रखे जायें तो उसे भी 'वर्धमान' मुद्रा कहते हैं।

'वर्धमान' मुद्रा में जब एक हाथ को दूसरे हाथ से दबाया जाये, तो उसके द्वारा संग्रह, वस्तु का आदान, उद्धार, प्रतिज्ञा, सत्यवचन तथा संक्षेपकरण का भाव प्रस्तुत किया जाता है।

इस प्रकार चौबीस असंयुत और तेरह संयुत हस्त मुद्राओं के द्वारा नृत्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार का अभिनय समय, स्थिति एवं कथानक के अनुसार प्रस्तुत किया जा सकता है। महर्षि भरत के अनुसार अभिनेता के द्वारा हस्त मुद्राओं को उनकी आकृति, गतिविधि, चिह्न तथा जाति को स्वयं के अनुभव द्वारा देख समझकर प्रयुक्त करना चाहिए। संसार में हाथों का ऐसा कोई कार्य नहीं, जो किसी अर्थ को न व्यक्त करता हो। परन्तु जिस हस्त का जो स्वरूप या कार्य अनेक बार देखा गया है, उसी को उन्होंने प्रकट किया है। भरत ने यह भी कहा है, कि इन हस्तों के अतिरिक्त अन्य अर्थों को प्रकट करने वाले लोक में प्रचलित जो हस्त हों, उन्हें भी रस तथा भावों की सूचक चेष्टाओं के साथ स्वेच्छानुसार प्रयुक्त किया जा सकता है। ये हस्त मुद्राएँ पुरुषों तथा विशेषतया स्त्रियों के द्वारा देश, काल, प्रयोग तथा योग्यता को देखकर प्रयुक्त की जानी चाहिए।

हस्त मुद्राओं की विविध क्रियायें

'नाट्यशास्त्र' में हस्त मुद्राओं की जिन क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, वे इस प्रकार हैं—

उत्कर्षण (ऊपर की ओर उछलना), विकर्षण (खींचना अथवा विरुद्ध दिशा की ओर खींचना), व्याकर्षण (बाहर की ओर छिटकना अथवा लुभाना), परिग्रह (ग्रहण करना), निग्रह (विनास करना), आह्वान (बुलाना या संकेत करना), तोदन (ताड़ना या पीड़ा देना), संश्लेष (मिलना या मिलाना), वियोग (अलग करना या अलग हटना), रक्षण (रक्षा करना), मोक्षण (फेंकना या छोड़ना), विक्षेप (बिखेरना या घबराहट), धूनन (हिलाना या कँपाना), विसर्ग (निर्माण या परित्याग), छेदन (तोड़ना), भेदन (काटना), स्फोटन (विकसित या विदीर्ण करना), मोटन (संकोच करना) तथा ताड़न (डाँटना या प्रताड़ित करना)।

हस्त मुद्राओं का प्रचार (हस्तप्रचार)

'नाट्य' के सिद्धान्तानुसार हस्तप्रचार तीन प्रकार से किया जाता है, यथा—
१. उत्तान (ऊपर की ओर मुँह करके), २. पार्श्वग (दायीं या बायीं ओर मुँह करके),
३. अधोमुख (नीचे की ओर मुँह करके)।

इनका प्रयोग शास्त्र में निर्देशित विधि के अनुसार नेत्र, भौंह, मुखराग इत्यादि के द्वारा किया जाना चाहिए। इन हस्तों का प्रयोग लोक व्यवहार के अनुसार करना चाहिए तथा उसी समय इनसे सम्बन्धित करण, कर्म, स्थान, प्रचार युक्ति तथा क्रिया को देखकर निश्चित कर लेना चाहिए। उत्तम पात्रों के हस्तों को ललाट प्रदेश के समीप, मध्यम पात्रों के हस्तों को वक्षस्थल के समीप तथा अधम पात्रों के हस्तों को इससे नीचे वाले शरीर के भाग के समीप क्रियाशील रखना चाहिए। ज्येष्ठ अभिनय में हस्त मुद्राओं का प्रचार अल्प रहना चाहिए, मध्य अभिनय में मध्यम

प्रचार तथा अधम अभिनय में विपुलता से प्रचार रहना चाहिए। उत्तम तथा मध्यम पात्रों के द्वारा इन हस्त मुद्राओं का प्रयोग शास्त्रीय लक्षण के अनुसार किया जाना चाहिए, परन्तु अधम पात्रों के द्वारा लोक क्रियाओं का अनुसरण करते हुए किया जाना चाहिए।

जब कोई असामान्य प्रयोग या समय हो, तो इन हस्त मुद्राओं का प्रयोग शास्त्रोक्त लक्षणों से भिन्न स्वरूप में भी किया जा सकता है। जब कोई पात्र खिन्न, मूर्छित, लज्जित, घृणा, शोक से पीड़ित, मलिन, सोया हुआ, लूला, बेहोश, तन्द्रिल, जड़, बीमार, वृद्धावस्था से त्रस्त, भय पीड़ित, ठंड से ठिठुरता हुआ या त्रस्त, मदमत्त, पामल, चिंतित, तप में स्थित बर्फ या बर्षा के कारण त्रस्त, क़ैद में, जल या नाव में संचारशील, स्वप्न में प्रलाप करते हुए, भ्रान्तियुक्त और नखों से कुरेदने या पटकने वाला रहे, तो ऐसी दशा में हस्त की योजना नहीं की जानी चाहिए। परन्तु उस समय अनेक अर्थ, रस तथा भावों को अभिव्यक्त करने वाला और विभिन्न स्वरों से अभिव्यक्त होने वाला रसाभिनय प्रारम्भ करना चाहिए।

वाचिक अभिनय के समय विभिन्न तथा वर्णित उन सभी दृष्टियों तथा अवलोकन क्रियाओं को हस्त क्रियाओं के अनुसार ऐसी दक्षता के साथ प्रस्तुत करना चाहिए, कि उनके द्वारा प्रदर्शित वाचिक अभिनय के विराम इत्यादि नियमानुसार अर्थ की अभिव्यक्ति वाले सिद्ध हो सकें।

नाट्य तथा नृत्त में प्रयोग किए जाने वाला हस्त प्रचार तीन प्रकार का बताया गया है, यथा—१. उत्तान, २. पार्श्वग, ३. अधोमुख।

अभिनय तथा नृत्य में हस्त प्रचार की पाँच विधाएँ बतायी गयी हैं, यथा—१. उत्तान (हथेली का ऊपर की ओर रहना), २. वर्तुल (गोलाई में घुमाव), ३. त्र्यस्र (तिरछे या मोड़कर घुमाना), ४. स्थित (स्थिर रहना), ५. अधोमुख (हथेली को उल्टी करना)।

□□□

नृत्तहस्त

नृत्त के अन्तर्गत जिन विभिन्न चाल, शारीरिक मुद्राओं तथा स्थितियों में शोभा, सौन्दर्य तथा आकर्षण उत्पन्न करने के लिये नृत्तहस्तों की सर्जना की गयी है, जो कि हाथ की विभिन्न अवस्थायें ही हैं, उनसे किसी अर्थविशेष या भाव की प्रतीति नहीं होती। लेकिन अंग भंगिमाओं से जो सौन्दर्य प्रकट होता है, उसमें नृत्त-हस्तों का भी काफी सहयोग रहता है। नृत्तहस्त हाथ, पैर तथा शरीर के सामञ्जस्य द्वारा सौन्दर्य उत्पन्न करते हैं, अतः नृत्य प्रदर्शन शोभा को प्राप्त होता है, इसीलिये इनको नृत्य का अलंकार जानना चाहिये। नृत्तहस्तों की उत्पत्ति संयुत तथा असंयुत हस्त मुद्राओं से होती है, परन्तु कुछ नृत्तहस्तों में मिश्रित मुद्राओं का प्रयोग भी किया जाता है।

चतुरस्र

छाती से आठ अंगुल के अन्तर पर सामने की ओर दोनों हाथों को कटकामुख मुद्रा में तथा दोनों कन्धों और कोहनियों को समान ऊंचाई में रखा जाय, तो उसे 'चतुरस्र' नृत्तहस्त कहते हैं।

उद्वृत्त (तालवृन्तक)

जहाँ दो हंसपक्ष हस्तों को पंखे के समान हिलाया जाये, तो उसे 'उद्वृत्त' नृत्तहस्त कहा जाता है। इसे 'तालवृन्तक' भी कहते हैं।

तलमुख

चतुरस्र दशा में हंसपक्ष हस्तों को तिरछे तथा एक-दूसरे के सम्मुख रखा जाये, तो उसे 'तलमुख' नृत्तहस्त कहते हैं।

स्वस्तिक

यदि 'तलमुख' नृत्तहस्त कलाई पर स्वस्तिक आकृति में रख दिये जायें, तो उसे 'स्वस्तिक' नृत्तहस्त कहा जाता है।

विप्रकीर्ण

'स्वस्तिक' नृत्तहस्त के प्रदर्शन के उपरान्त उन्हें कलाई से हटा दिया जाय, तो 'विप्रकीर्ण' नृत्तहस्त हो जाता है।

अरालकटकामुख

दोनों अलपल्लव हस्तों को ऊपर की ओर ऊर्द्धमुख रखकर पद्मकोश हस्तमुद्रा में परिवर्तित कर दिया जाय, तो वह 'अरालकटकामुख' नृत्तहस्त होता है। इसे 'अरालखटकामुख' भी कहा जाता है।

अथवा

यदि दो अराल हस्तों को कलाई पर से स्वस्तिक के बाद हटा लिया जाय, तो उसे 'अरालकटकामुख' जानना चाहिये।

आविद्धवक्र

यदि विपरीत बाहु, कन्धा तथा कोहनी के कोनों को तिरछी गति से दोनों हाथों से छूते हुए दोनों अराल मुद्रा की हथेलियों को ऊपर तथा नीचे की ओर कँपाते हुए बदल दिया जाय, तो वह 'आविद्धवक्र' नृत्तहस्त होता है।

सूचीमुख

यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों को अपने अँगूठों के साथ तिरछा फैलाया जाय और हथेली के मध्य का अर्थात् मध्यमा अँगुली का स्पर्श करते हुए रखा जाय, तो 'सूचीमुख' नृत्तहस्त होता है।

अथवा

स्वस्तिक के पश्चात् यदि दो सर्पशीर्ष हस्तों को मध्यमा अँगुली के पास हथेली में अँगूठों का स्पर्श करते हुए रखना 'सूचीमुख' नृत्तहस्त कहा जाता है।

रेचित

यदि दो हंस पक्ष हस्तों को तेजी से घुमाकर हथेली को ऊपर की ओर मुँह कराते हुए फैला दिया जाए, तो उसे 'रेचित' नृत्त हस्त कहते हैं।

अर्द्धरेचित

बायें हाथ को चतुरस्र तथा दाहिने हाथ को रेचित कर दिया जाय, तो नृत्ततत्त्व के ज्ञाताओं द्वारा उसे 'अर्द्धरेचित' नृत्तहस्त कहा गया है।

उत्तानवंचित

यदि दो त्रिपताक हस्तों को कुछ तिरछे और कुछ झुकाते हुए रखा जाय तथा कन्धों और कोहनियों को हिलाया जाय, तो वहाँ 'उत्तानवंचित' नृत्तहस्त होता है।

पल्लव

यदि कलाई से दो पताक हस्तों को मिलाया जाय तथा हाथों को कन्धे के बराबर रखा जाए, तो वह 'पल्लव' नृत्तहस्त होता है।

नितम्ब

पल्लव हस्त को अथवा दो पताक हस्तों को कन्धे से ऊपर निकालकर ले जाया जाय, तो उसे 'नितम्ब' नृत्तहस्त कहते हैं।

केशबन्ध

केश प्रदेश या शिखा पर से ऊपर घुमाकर दोनों पताक हस्तों को दोनों बाजुओं में सीधा रखा जाय, तो 'केशबन्ध' नृत्तहस्त होता है।

लता

दोनों हाथों को तिरछे फैलाया जाय, तत्पश्चात् दोनों बाजुओं में फैलाया जाय, तब 'लता' नृत्तहस्त होता है।

करिहस्त

यदि ऊँचा किया हुआ एक लताहस्त एक बाजू से दूसरे बाजू में झूले तथा दूसरा त्रिपताक मुद्रा में कान के पास रहे, तो वह 'करिहस्त' नृत्तहस्त कहा जाता है।

पक्षवंचितक

यदि एक त्रिपताक हस्त कटि प्रदेश पर तथा दूसरा शीर्षस्थान पर रखा जाय, तो उसे 'पक्षवंचितक' नृत्तहस्त जानना चाहिए।

पक्षप्रद्योतक

यदि पक्षवंचितक हस्तों को उलटे कर दिया जाय, तो उसे 'पक्षप्रद्योतक' नृत्तहस्त कहा जाता है।

गरुडपक्ष

पक्षवंचितक हस्त को अधोमुख हथेली करते हुए रखा जाय, तो उसे 'गरुडपक्ष' नृत्तहस्त कहा जाता है।

दण्डपक्ष

दोनों हंसपक्ष हस्तों को क्रमशः उलटे सीधे घुमाकर तथा बाद में कोहनी से कंधे तक बाहुओं को सीधे फैलाकर रखा जाय, तब वह 'दण्डपक्ष' नृत्तहस्त होता है।

ऊर्ध्वमण्डली

यदि दण्डपक्ष हस्त को ऊपर को ओर गोल चक्कर में घुमाया जाय, तो 'ऊर्ध्वमण्डली' नृत्तहस्त कहलाता है।

पार्श्वमण्डली

यदि ऊर्ध्वमण्डली हस्तों को एक बाजू में रखा जाय, तो 'पार्श्वमण्डली' नृत्तहस्त होता है।

उरोमण्डली

एक ऊपर की ओर उठे हुए हस्त को तथा दूसरे नीचे की ओर झुके हुए हस्त को, वक्षस्थल के समीप घुमाते हुए रखा जाय, तो 'उरोमण्डली' नृत्तहस्त कहलाता है।

उरःपार्श्वमण्डल

अलपल्लव तथा अराल हस्तों को आधा घुमाव देकर एक को बाजू में तथा दूसरे को ऊपर वक्षःस्थल के समीप रखा जाय, तो 'उरःपार्श्वमण्डल' नृत्तहस्त होता है।

मुष्टिक स्वस्तिक

दो खटकामुख हस्तों को कलाई के कोनों पर झुकाते हुए तथा गोल घुमाव देते हुए उद्वेष्टित करण में रखा जाय, तो 'मुष्टिकस्वस्तिक' नृत्तहस्त कहलाता है।

नलिनीपद्मकोश

पद्मकोश हस्तों को औंधे सीधे घुमाव दिया जाय अथवा पलटा जाय, तो 'नलिनीपद्मकोश' नृत्तहस्त कहलाता है।

अलपल्लव

दोनों हाथों को ऊपर की ओर घुमाव देते हुए उद्वेष्टित करण में रखा जाय, तो 'अलपल्लव' नृत्तहस्त कहलाता है।

उल्वण

अलपल्लव हस्तों को ऊपर की ओर फैलाकर कन्धे के बराबर घुमाया जाय, तो 'उल्वण' नृत्तहस्त होता है।

ललित

दो पल्लव हस्तों को सिर पर ले जाया जाय, तो 'ललित' नृत्तहस्त कहलाता है।

वलित

दो लता हस्तों को कोहनी पर (अन्य मत के अनुसार कलाई पर) स्वस्तिक कर दिया जाय, तो 'वलित' नृत्तहस्त कहलाता है।

विशेष बात यह है, कि नृत्तहस्तों का प्रयोग करणों के निर्माण के लिए होना चाहिए तथा इनका प्रयोग अर्थ के अभिनय के प्रदर्शन में भी होना चाहिए, पताक आदि हस्त मुद्राओं का अर्थ प्रदर्शन के लिए प्रयोग किया जाता है, किन्तु अर्थवश इनका प्रयोग मिश्रित भी हो सकता है, किन्तु नाट्य तथा नृत्त में मुख्यतः इन हस्तों का प्रयोग इनके कथित नामों के अनुसार ही होता है। नृत्तहस्त दोनों ही प्रकार के होते —संयुत और असंयुत।

□ □ □

विविध हस्त मुद्राएँ

देवहस्त, दशावतार हस्त, जातीय हस्त, बान्धव हस्त, नृत्तहस्त तथा नवग्रह हस्त ।

कुछ विशिष्ट हस्त-मुद्राओं का विवरण 'अभिनय दर्पण' में प्राप्त होता है जैसे—देव हस्त, दशावतार हस्त, जाति हस्त, बांधव हस्त तथा नवग्रह हस्त ।

देवहस्त

अभिनय तथा मूर्ति-निर्माण के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले ब्रह्मा-रुद्रादि देवता-हस्तों का क्रमानुसार वर्णन इस प्रकार है :—

ब्रह्महस्त

बाएँ हाथ में चतुर तथा दाहिने में 'हंसास्य-हस्त' द्वारा ब्रह्मा की मुद्राओं की अभिव्यक्ति को 'ब्रह्म-हस्त' कहते हैं ।

शिवहस्त

बाएँ हाथ से 'मृगशीर्ष' तथा दाहिने हाथ से 'त्रिपताका-हस्त' की मुद्राओं को 'शिव-हस्त' कहते हैं ।

विष्णुहस्त

यदि दोनों हाथों में 'त्रिपताका-हस्त' की मुद्राएँ हों, तो उसे 'विष्णु-हस्त' कहते हैं ।

भारतीहस्त

भारती (सरस्वती) की मुद्राओं की अभिव्यक्ति में दाहिना हाथ सूचीहस्त तथा बायाँ हाथ कंधे के बराबर ऊँचा उठा हुआ 'कपित्थ-हस्त' की मुद्रा में प्रयुक्त हो, तो उसे 'भारती-हस्त' कहते हैं ।

पार्वतीहस्त

यदि बाएँ हाथ में ऊपर उठा हुआ 'अर्धचन्द्र-हस्त' हो तथा दोनों हाथ अभयदान और वरदान देने की मुद्रा में हों, तो उसे 'पार्वती-हस्त' कहते हैं।

लक्ष्मीहस्त

यदि कंधे के बराबर उठे हुए दोनों हाथों में 'कपित्थ-हस्त' की मुद्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो उसे 'लक्ष्मी-हस्त' कहते हैं।

विनायकहस्त

दोनों 'कपित्थ-हस्त' छाती (वक्ष) पर स्थित हों, तो उसे गणेश की अभिव्यक्ति करने वाले 'विनायक-हस्त' कहते हैं।

षण्मुखहस्त

बाएँ हाथ में 'त्रिशूल' तथा ऊपर उठे हुए दाहिने हाथ में 'शिखर-हस्त' द्वारा कार्तिकेय (शंकर के पुत्र) की अभिव्यक्ति को 'षण्मुखहस्त' कहते हैं।

मन्मथहस्त

बाएँ हाथ में 'शिखर-हस्त' तथा दाहिने हाथ में 'कटकामुख-हस्त' हो, तो उसे नाट्यशास्त्र के आचार्य 'मन्मथ (कामदेव) हस्त' कहते हैं।

शक्रहस्त

यदि एक हाथ में 'त्रिपताका' तथा दूसरे हाथ में 'स्वस्तिक-हस्त' हो, तो उसे 'शक्र (इन्द्र) हस्त' कहते हैं।

अग्निहस्त

दाहिने हाथ में 'त्रिपताका' एवं बाएँ हाथ में 'कांगुल-हस्त' हो, तो उसे 'अग्नि-हस्त' कहते हैं।

यमहस्त

यदि बाएँ हाथ से 'पाश' एवं दाहिने हाथ से 'सूची-हस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो उसे 'यमहस्त' कहते हैं।

निर्ऋतिहस्त

एक हाथ में 'खट्वा' तथा दूसरे हाथ में 'शकट-हस्त' हो, तो उसे 'निर्ऋति (दरिद्रता की देवी या विपत्ति)-हस्त' कहते हैं।

वरुणहस्त

दाहिने हाथ में 'पताका' तथा बाएँ हाथ में 'शिखर-हस्त' हो, तो उसे 'वरुण-हस्त कहते हैं।

वायुहस्त

दाहिने हाथ में 'अराल' एवं बाएँ हाथ में 'अर्धपताका-हस्त' हो, तो उसे 'वायु-हस्त' कहते हैं।

कुबेरहस्त

बाएँ हाथ में 'पद्म' तथा दाहिने हाथ में 'गदा' हो, तो उसे 'कुबेर (यक्षपति) हस्त' कहते हैं।

दशावतारहस्त

मत्स्यावतारहस्त

यदि कंधे के बराबर उठे हुए दोनों हाथों में 'मत्स्य-हस्त' की मुद्राएँ हों, तो उसे 'मत्स्यावतार-हस्त' कहते हैं।

कूर्मावतारहस्त

कंधे के बराबर उठे हुए दोनों हाथों में 'कूर्म-हस्त' की मुद्राएँ हों, तो उसे 'कूर्मावतार-हस्त' कहते हैं।

वराहावतारहस्त

दोनों बगल में कमर तक समान स्तर में उठे हुए दोनों हाथों द्वारा 'वराह-हस्त' की मुद्राओं की अभिव्यक्ति को 'वराहावतार-हस्त' कहते हैं।

नृसिंहावतारहस्त

बाएँ हाथ में सिंहमुख तथा दाहिने हाथ में 'त्रिपताका-हस्त' द्वारा नृसिंहावतार की अभिव्यक्ति को 'नृसिंहावतार-हस्त' कहते हैं।

वामनावतारहस्त

यदि ऊपर उठे हुए बाएँ हाथ में 'मुष्टि-हस्त' और इसी प्रकार नीचे झुके हुए दाहिने हाथ में भी 'मुष्टि-हस्त' हो, तो उसे 'वामनावतार-हस्त' कहते हैं।

परशुरामावतारहस्त

बायाँ हाथ कमर पर हो तथा दाहिने हाथ में 'अर्धपताका-हस्त' की मुद्रा हो, तो उसे 'परशुरामावतार-हस्त' कहते हैं।

रामचन्द्रावतारहस्त

यदि दाहिने हाथ में 'कपित्थ' एवं बाएँ हाथ में 'शिखर-हस्त' की मुद्राएँ हों, तो उसे 'रामचन्द्रावतार-हस्त' कहते हैं।

बलरामावतारहस्त

दाहिने हाथ द्वारा पताका एवं बाएँ हाथ द्वारा 'मुष्टि-हस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो उसे 'बलरामावतार-हस्त' कहते हैं।

कृष्णावतारहस्त

यदि दोनों हाथों द्वारा प्रदर्शित 'मृगशीर्ष हस्त' एक दूसरे के मुँह के सामने स्थित हों, तो उसे 'कृष्णावतार-हस्त' कहते हैं।

कल्क्यावतारहस्त

यदि दाहिने हाथ में पताका एवं बाएँ हाथ में 'त्रिपताका-हस्त' हो, तो उसे कल्क्यावतार (कल्कि अवतार)-हस्त' कहते हैं।

तत्तज्जातीयहस्त

राक्षसहस्त

यदि मुख के समीप स्थित दोनों हाथों में 'शकट-हस्त' की मुद्राएँ हों, तो उसे 'राक्षस-हस्त' कहते हैं।

ब्राह्मणहस्त

दोनों हाथों में 'शिखर-हस्त' की मुद्राएँ हों, दाहिना हाथ टेढ़ा हो तथा हाथों की मुद्राओं द्वारा जनेऊ की ओर संकेत हो, तो उसे 'ब्राह्मण-हस्त' कहते हैं।

क्षत्रियहस्त

यदि बायाँ हाथ टेढ़ा हो तथा उससे 'शिखर-हस्त' और दाहिने हाथ द्वारा 'पताका-हस्त' की मुद्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो उसे 'क्षत्रिय-हस्त' कहते हैं।

वैश्यहस्त

यदि बाएँ हाथ द्वारा 'हंसास्य' एवं दाहिने द्वारा 'कटकामुख-हस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो भरत मुनि इत्यादि के अनुसार उसे 'वैश्य-हस्त' कहते हैं।

शूद्रहस्त

जब बाएँ हाथ द्वारा 'शिखर' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'मृगशीर्ष-हस्त' की मुद्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो उसे विद्वानों तथा भरत इत्यादि मुनियों ने 'शूद्र-हस्त' कहा है।

इसी प्रकार आचार्यों ने १८ जातियों के कर्मानुसार तथा देश-भेद से विभिन्न हस्तों का ज्ञान प्राप्त किया है।

बांधवहस्त

दम्पतिहस्त

जब बाएँ हाथ में 'शिखर' एवं दाहिने हाथ में 'मृगशीर्ष-हस्त' मुद्राएँ हों, तो भरत इत्यादि के अनुसार उसे 'दम्पति (पति-पत्नी)-हस्त' कहते हैं।

मातृहस्त

यदि बाएँ हाथ में अर्धचन्द्र एवं दाहिने हाथ में 'सन्दंश-हस्त' हो तथा बायाँ हाथ घुमाकर उदर प्रदेश पर रखा जाए, तो बुद्धिमान उसे 'मातृ-हस्त' कहते हैं।

विनियोग (प्रयोग)

माँ तथा अविवाहित कन्या की अभिव्यक्ति में 'मातृ-हस्त' का प्रयोग होता है।

पितृहस्त

जब 'मातृ-हस्त' की मुद्रा में दाहिने हाथ द्वारा 'शिखर-हस्त' दिखाया जाए, तो मनीषियों के अनुसार उसे 'पितृ-हस्त' कहते हैं।

विनियोग (प्रयोग)

पिता तथा दामाद की अभिव्यक्ति में 'पितृ-हस्त' का प्रयोग होता है।

श्वश्रूहस्त

यदि दाहिने हाथ में गले के समीप 'हंसास्य-हस्त' हो तथा बाएँ हाथ में उदर प्रदेश में 'सन्दंश-हस्त' स्थित हो, तो उसे 'श्वश्रू-हस्त' कहते हैं।

विनियोग (प्रयोग)

सास की अभिव्यक्ति में 'श्वश्रू-हस्त' का प्रयोग होता है।

श्वशुरहस्त

यदि 'श्वश्रू-हस्त' के दाहिने हाथ में 'शिखर-हस्त' हो, तो बुद्धिमान लोग उसे 'श्वशुर (ससुर)-हस्त' कहते हैं।

भर्तृभ्रातृहस्त

यदि बाएँ हाथ में 'शिखर-हस्त' तथा दाहिने हाथ में 'कर्तरीमुख-हस्त' हो, तो उसे 'भर्तृभ्रातृ (देवर)-हस्त' कहते हैं।

ननान्दृहस्त

यदि 'देवर-हस्त' की समाप्ति के उपरान्त दाहिने हाथ द्वारा 'मृगशीर्ष-हस्त' की मुद्रा प्रदर्शित की जाए, तो उसे नाट्यकला के आचार्यों के मतानुसार 'ननान्दृ (ननद)-हस्त' कहते हैं।

ज्येष्ठकनिष्ठभ्रातृहस्त

यदि दोनों हाथों द्वारा 'मयूर-हस्त' आगे और बगल की ओर प्रदर्शित किया जाए, तो उसे 'ज्येष्ठ (बड़ा भाई)' या 'कनिष्ठ (छोटा भाई) भ्रातृ हस्त' कहते हैं।

पुत्रहस्त

यदि दाहिने हाथ में 'सन्दंश-हस्त' उदर प्रदेश पर स्थित हो तथा बाएँ हाथ द्वारा घुमाकर 'शिखर-हस्त' प्रदर्शित किया जाय, तो उसे 'पुत्र-हस्त' कहते हैं।

स्नुषाहस्त

यदि 'पुत्र-हस्त' के प्रदर्शन के बाद दाहिने हाथ द्वारा 'स्त्रीहस्त' (मृगशीर्ष) प्रदर्शित किया जाए, तो भरत आदि ज्ञाता उसे 'स्नुषा (पुत्रवधू)-हस्त' कहते हैं।

सपत्नीहस्त

यदि 'पाश-हस्त' के प्रदर्शन के बाद दोनों हाथों द्वारा 'स्त्रीहस्त' (मृगशीर्ष) प्रदर्शित किया जाए, तो उसे आचार्य-गण 'सपत्नी-हस्त' कहते हैं।

नृत्तहस्तों की गतियाँ

'नृत्त-हस्त' की पाँच प्रकार की गतियाँ होती हैं। यथा—ऊपर, नीचे, दाहिने, बाएँ तथा आगे की ओर। पैरों की गति के समान ही हाथों की भी गति होती है। बायाँ हाथ अथवा बायाँ पैर बायीं ओर तथा दाहिना हाथ अथवा दाहिना पैर दाहिनी ओर होना चाहिए, यही नृत्त-सिद्धान्त का लक्षण है।

जिस दिशा में हाथ जाएँ, उसी ओर आँखें जाएँ और जहाँ आँखें जाएँ वहीं मन जाए। इस प्रकार जहाँ मन जाता है, वहीं भाव की उत्पत्ति हो जाती है, जिसके द्वारा रस (आनन्द) की अनुभूति होती है।

नृत्तहस्त

'पताका', 'स्वस्तिक', 'डोल', 'अञ्जली', 'कटकावर्धन', 'शकट', 'पाश', 'कीलक', 'कपित्थ', 'शिखर', 'कूर्म', 'हंसास्य' और 'अलपद्म' ये १३ प्रकार के 'नृत्य-हस्त' होते हैं, जो नृत्त-कर्म में उपयोगी होते हैं।

नवग्रहहस्त

१. सूर्यहस्त

अंसोपकण्ठे हस्ताभ्यामलपद्मकपित्थक: ।
धृतो यदि करौ ह्येव दिवाकरकर: स्मृत: ॥

जब गले के निकट, दोनों हाथों द्वारा 'अलपद्म' एवं 'कपित्थ-हस्त' प्रदर्शित किए जाएँ, तो उसे 'सूर्य-हस्त' कहते हैं।

२. चन्द्रहस्त

अलपद्मो वामहस्ते दक्षिणे च पताकिका ।
निशाकरकर: प्रोक्तो भरतागमदर्शिभि: ॥

यदि बाएँ हाथ द्वारा 'अलपद्म' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'पताकाहस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो भरत आदि ज्ञाताओं के अनुसार उसे 'चन्द्रहस्त' कहते हैं।

३. कुजहस्त या अङ्गारकहस्त

वामे करे तु सूची स्यान्मुष्टिहस्तस्तु दक्षिणे ।
धृतश्चेन्नाट्यशास्त्रज्ञैरङ्गारककर: स्मृत: ॥

यदि बाएँ हाथ द्वारा 'सूची' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'मुष्टि-हस्त' प्रदर्शित किया जाए ,तो 'नाट्यशास्त्र' के मर्मज्ञ उसे 'अङ्गारक-हस्त' अर्थात् 'कुज (मंगल) हस्त' कहते हैं।

४. बुधहस्त

तिर्यग्वामे च मुष्टि: स्याद्दक्षिणे च पताकिका ।
बुधग्रहकर: प्रोक्तो भरतागमवेदिभि: ॥

यदि बाएँ हाथ को टेढ़ा करके 'मुष्टिहस्त' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'पताकाहस्त' की मुद्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो भरत आदि ज्ञाताओं के अनुसार उसे 'बुधहस्त' कहते हैं।

५. गुरुहस्त, ऋषिहस्त या ब्राह्मणहस्त

हस्ताभ्यां शिखरं धृत्वा यज्ञसूत्रस्य वर्तनम् ।
ऋषिब्राह्मणहस्तोऽयं गुरोश्चापि प्रकीर्तित: ॥

यदि दोनों हाथों के 'शिखरहस्त' की मुद्राओं द्वारा यज्ञसूत्र (जनेऊ) की ओर संकेत किया जाए, तो उसे 'ऋषिहस्त', 'ब्राह्मणहस्त' अथवा 'गुरुहस्त' कहते हैं।

६. शुक्रहस्त

वामोर्ध्वभागे मुष्टि: स्यादधस्ताद्दक्षिणे तथा ।
शुक्रग्रहकर: प्रोक्तो भरतागमवेदिभि: ॥

यदि दोनों हाथों में 'मुष्टि-हस्त' हो, बायाँ हाथ ऊपर उठा हुआ एवं दाहिना हाथ नीचे की ओर झुका हुआ हो, तो भरत आदि ज्ञाता उसे 'शुक्रहस्त' कहते हैं।

७. शनिहस्त

वामे करे तु शिखरस्त्रिशूलो दक्षिणे करे ।
शनैश्चरकर: प्रोक्तो भरतागमकोविदै: ॥

यदि बाएँ हाथ द्वारा 'शिखर' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'त्रिशूलहस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो भरत आदि ज्ञाता उसे 'शनिहस्त' कहते हैं।

८. राहुहस्त

सर्पशीर्षो वामकरे सूची स्याद्दक्षिणे करे ।
राहुग्रहकरः प्रोक्तो नाट्यविद्याधिपैर्जनैः ॥

बाएँ हाथ द्वारा 'सर्पशीर्ष' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'सूची-हस्त' प्रदर्शित किया जाए, तो नाट्यविद्या विशारद उसे 'राहुहस्त' कहते हैं ।

९. केतुहस्त

वामे करे तु सूची स्याद्दक्षिणे तु पताकिका ।
केतुग्रहकरः प्रोक्तो भरतागमदर्शिभिः ॥

यदि बाएँ हाथ द्वारा 'सूची' एवं दाहिने हाथ द्वारा 'पताका-हस्त' की मुद्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो भरत आदि ज्ञाता उसे 'केतु-हस्त' कहते हैं ।

□□□

हस्तकरण

नाट्य तथा हस्ताभिनय के विशेषज्ञों ने हाथों के चार विभाग किए हैं, इनको ध्यानपूर्वक जान लेना चाहिए। सभी हाथों के करण चार प्रकार के होते हैं—आवेष्टित, उद्वेष्टित, व्यावर्तित और परिवर्तित।

आवेष्टित

तर्जनी अंगुली से प्रारम्भ होकर सभी अंगुलियाँ वेष्टित हो रही हों तथा हाथ गोल घुमाव ले रहा हो, तो यह करण 'आवेष्टित' कहलाता है।

उद्वेष्टित

यदि तर्जनी से आरम्भ होकर सभी अँगुलियों द्वारा क्रमपूर्वक हाथ को बाहरी भाग से आवेष्टित किया जा रहा हो और फिर हाथ गोल घुमाव लेने लगे, तो वह 'उद्वेष्टित' करण कहलाता है।

व्यावर्तित

यदि कनिष्ठिका अंगुली से प्रारम्भ होकर सभी अंगुलियों को क्रमशः भीतरी भाग से आवेष्टित किया जा रहा हो और हाथ गोल घुमाव ले रहा हो, तो वह 'व्यावर्तित' करण कहलाता है।

परिवर्तित

जब कनिष्ठिका अंगुली से प्रारम्भ होकर सभी अंगुलियाँ क्रमशः हस्त को बाहरी भाग से आवेष्टित करती हों और हस्त गोल घुमाव ले रहा हो, तब यह 'परिवर्तित' करण कहलाता है।

जब नृत्त और नाट्याभिनय की दशा में इन हस्तों को उनकी विभिन्न क्रियाओं में दर्शाया जा रहा हो, तो उन्हें मुख, भोहें तथा नेत्रों के अनुसार करणों के द्वारा अनुसृत करते हुए रखा जाना चाहिए। नर्तकों को करणों में स्थित बाहुओं के निम्न-लिखित १० प्रकारों का सदैव ज्ञान रहना चाहिए—तिर्यक, ऊर्ध्वसंस्थ, अधोमुख, अंचित, अपविद्ध, मण्डलगति, स्वस्तिक, पृष्ठानुसारी, उद्वेष्टित तथा प्रसारित।

□□□

उत्प्लुतीकरण

मानस ने देसी पद्धति के १८ करणों की चर्चा की है। इनका वर्णन 'नाट्यशास्त्र' में उत्प्लुतीकरण के रूप में प्राप्त होता है। लेकिन इनकी संख्या ३६ बतायी है, जिनमें उछलने की प्रक्रिया (आकाशचारी) का अधिक प्रयोग किया जाता है। अन्य अनेक ग्रन्थकारों ने उत्प्लुतीकरणों की संख्या भिन्न-भिन्न दी है, जिन्हें समाहित करके इनकी संख्या ६५ हो जाती है। परन्तु यहाँ शार्ङ्गदेव द्वारा रचित संगीतरत्नाकर ग्रन्थ में दिए ३६ करणों का वर्णन किया जा रहा है :—

१. अञ्चित, २. एकचरणाञ्चित, ३. भैरवाञ्चित, ४. दण्डप्रणामाञ्चित, ५. कर्तर्याञ्चित, ६. अलग, ७. कूर्मालग, ८. ऊर्द्धवालग, ९. अन्तरालग, १०. लोहडी, ११. कर्तरीलोहडी, १२. एकपाद लोहाडी, १३. दर्पसरण, १४. जलशयन, १५. नागबन्ध, १६. कपालचूर्णन, १७. नतपृष्ठ, १८. मत्स्यकरण, १९. करस्पर्शन, २०. एणप्लुत, २१. तिर्यक्करण, २२. तिर्यगञ्चित, २३. तिर्यक्स्वस्तिक, २४. सूच्यन्त, २५. बाह्यभ्रमरी, २६. अन्तर्भ्रमरी, २७. छत्रभ्रमरी, २८. तिरिपभ्रमरी, २९. अलगभ्रमरी, ३०. चक्रभ्रमरी, ३१. अञ्चितभ्रमरी, ३२, शिरोभ्रमरी, ३३. दिग्भ्रमरी, ३४. समपादाञ्चित, ३५. भ्रान्तपादाञ्चित और ३६. स्कन्धभ्रान्त।

अञ्चित

पैरों को सम स्थिति में रखकर ऊपर की ओर उछलना।

एकचरणाञ्चित (एलपादाञ्चित)

अञ्चित की तरह एक पैर द्वारा ऊपर की ओर उछलना।

भैरवाञ्चित

जंघा के पीछे एक पैर रखकर उछाल लेना।

दण्डप्रणामाञ्चित

अञ्चित में उछलने के बाद धरती पर दण्ड की तरह गिर पड़ना।

कर्तर्याञ्चित

दोनों पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखते हुए अञ्चित की तरह उछाल लेना।

कूर्मालग

यदि अलग में कूर्मासन (कच्छप आसन) रहे, तो उसे कूर्मालग कहते हैं।

ऊर्ध्वालग

यदि नर्तक गिरने के पश्चात् पैरों की उसी मुद्रा में उठकर खड़ा हो जाय, तो उसे ऊर्ध्वालग कहते हैं।

अलग

इसमें नर्तक अधोमुख कूदना है और सामने आता हुआ कुक्करासन में स्थित हो जाता है। मानस के अनुसार—अलग्न में स्थित होता है। अभिनयदर्पण के अनुसार—नर्तक अपने कूल्हे पर शिखर हस्त रखते हुए दोनों पार्श्वों की ओर उछाल लेता है। एम. एम. घोष के अनुसार—नर्तक अपने पैर से उछाल लेता है, लेकिन मूल श्लोक में स्पष्टतः पार्श्व कहा गया है, पैर नहीं।

अन्तरालग

'अलग' के पश्चात् गिरकर छाती को ऊंची रखते हुए और सिर को नितम्बों से स्पर्श करते हुए उठना।

लोहडी

जब नर्तक समपाद स्थिति में त्रिक पर घुमाव लेता है और फिर उछलकर नीचे की ओर तिरछा आता है, तो इसे 'लोहडी' कहते हैं। कुछ अन्य ग्रन्थों में इसे 'लुंठित', 'लोहली', 'आकाश विषम नृत्य', 'लुढ़ित' और 'लोटित' भी कहते हैं।

कर्तरीलोहडी

यदि उपर्युक्त क्रिया पैरों को स्वस्तिक दशा में रखकर की जाय, तो उसे कर्तरीलोहडी कहते हैं।

एकपाद लोहडी

इस लोहड़ी को एक पैर द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इसे 'एकपाद लुण्ठित' तथा 'एकपादलोलित' भी कहा जाता है।

दर्पसरण

वैष्णव स्थान में खड़े होकर पृथ्वी पर पार्श्व भागों में गिरना।

जलशयन

उपर्युक्त क्रिया में गिरने के पश्चात् विष्णु की तरह जल पर लेटने की मुद्रा प्रदर्शित करना।

नागबन्ध

उपर्युक्त स्थिति में नागबन्ध मुद्रा प्रदर्शित करना।

कपालचूर्णन

उपर्युक्त क्रिया में खड़े होकर सिर द्वारा भूमि का स्पर्श करके पुनः सामान्य स्थिति में आ जाना।

नतपृष्ठ

कपालचूर्णन के बाद वक्ष को ऊपर की ओर रखते हुए पीछे की ओर झुकना।

मत्स्यकरण

ऊपर उछाल लेकर कमर का बायीं ओर मछली की तरह झुकाव लेना।

करस्पर्शन

'अलग' क्रिया करने के बाद पृथ्वी को हाथ से स्पर्श करते हुए नीचे चक्कर लगाना।

एणप्लुत

उछाल लेकर आकाश में ही एकपाद से सूची मुद्रा में स्थित होकर पृथ्वी पर आते समय उत्कट आसन रहे, तो उसे एणप्लुत कहते हैं।

तिर्यक्करण

एक पैर से तिरछी उछाल लेकर पृथ्वी पर आकर दूसरे पैर से खड़ा होना।

तिर्यगञ्चित

सम अवस्था में पैरों को रखते हुए तिरछी उछाल लेना।

तिर्यक्स्वस्तिक

पैरों को स्वस्तिक मुद्रा में रखकर ऊपर तिरछी उछाल लेना।

सूच्यन्त

उपर्युक्त करणों की समाप्ति के बाद सम सूची जैसे देसी स्थान धारण करना।

बाह्यभ्रमरी

सीधे पैर पर खड़े होकर बायें पैर को झुकाकर घुमाना।

अन्तर्भ्रमरी

उपर्युक्त सञ्चालन की विपरीत मुद्रा।

छत्रभ्रमरी

एक पैर भूमि पर रखकर दूसरा पैर उठा लिया जाय अर्थात् त्रिविक्रम की स्थिति में बायीं ओर घूम जाना।

तिरिपभ्रमरी

पैरों को स्वस्तिक स्थिति में रखकर तिरछा घुमाव लेना।

अलगभ्रमरी

वैष्णव स्थान में एक पैर पर खड़ होकर शरीर को तिरछा घुमाना।

चक्रभ्रमरी

खण्ड सूचीकरण के मध्य में पहिये की तरह घूमना।

अञ्चितभ्रमरी

सम पादाचारी का प्रदर्शन करने के बाद तिरछा घूमना।

शिरोभ्रमरी

शिर के बल स्थित रहकर पैरों को ऊपर उठा लेना और तीन बार घुमाव लेना।

दिग्भ्रमरी

उपर्युक्त की भाँति क्रिया करते हुए प्रत्येक बार हाथों को कुशलतापूर्वक पृथ्वी पर चारों दिशाओं में लाना।

समपादाञ्चित

पैरों को सम स्थिति में रखकर अञ्चितकरण करते हुए एक कन्धे द्वारा पृथ्वी पर गिरना और क्षितिजाभिमुख होकर एक पैर को कँपाते हुए गोल चक्कर लेना।

भ्रान्तपादाञ्चित

पिंडली पर बायें पैर के पंजे का पिछला भाग रखते हुए सीधे पैर से घुमाव लें और उसके बाद अञ्चितकरण की मुद्रा में स्थित हो। फिर पृथ्वी पर क्षितिजाभिमुख दशा में दोनों कन्धों पर गिरते हुए पैरों को कँपाते हुए घूम जाये।

स्कन्धभ्रान्त

उत्कट आसन में रहकर अञ्चितकरण करे और दोनों कन्धों से पृथ्वी का सहारा लेकर खड़ा हो जाये (दोनों पैर आकाश में रहें)। इसके बाद ऊपर की भाँति दिग्भ्रमरी करे और चारों दिशाओं में कुशलतापूर्वक प्रत्येक घुमाव के बाद रुकता जाय, तो उसे स्कन्धभ्रान्त कहते हैं।

□□□

वक्षःस्थल कर्म

वक्षःस्थल के पाँच प्रकार हैं—आभुग्न, निर्भुग्न, प्रकम्पित, उद्वाहित तथा सम।

आभुग्न

जो सामने झुका हुआ हो, पीठ उठी हुई हो, कन्धे झुके हुए और शिथिल हों, तो वह 'आभुग्न' वक्षःस्थल कहलाता है। इसकी योजना घबराहट, विषाद, मूर्च्छा, शोक, भय, व्याधि, हृदयशल्य, शीतस्पर्श, वर्षा तथा लज्जा में आवश्यकता के अनुसार की जाती है।

निर्भुग्न

यदि वक्षःस्थल दृढ़ हो, पीठ झुकी हुई हो तथा कंधे झुके हुए न होकर उठे हुए हों, तो वह 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल कहलाता है। इसकी योजना स्तम्भ, मान, विस्मय-पूर्वक अवलोकन, सत्यवचन, गर्वयुक्तवचन तथा गर्वातिशय में की जाती है अथवा दीर्घ निःश्वास, जँभाई लेने, अंगों के मरोड़ने तथा स्त्रियों के बिब्बोक की दशा में 'निर्भुग्न' वक्षःस्थल का प्रयोग करना चाहिए।

प्रकम्पित

जहाँ वक्षःस्थल निरन्तर फुलाया और सिकुड़ाया जाता है, वहाँ 'प्रकम्पित' वक्षःस्थल कहलाता है। इसकी योजना हास्य, रुदन, श्रम, भय, श्वास, कास, हिचकी तथा दुःख की दशा में स्थिति के अनुसार की जाती है।

उद्वाहित

यदि वक्षःस्थल को उठा हुआ रखा जाय, तो वह 'उद्वाहित' वक्षःस्थल कह-लाता है। इसकी योजना दीर्घ उच्छ्वास, ऊँची वस्तु का अवलोकन तथा जँभाई लेने की दशा में की जाती है।

सम

सभी अवयव यदि चतुरस्र हों तथा सौष्ठवयुक्त हों, तो वह 'सम' वक्षःस्थल कहलाता है। इसकी योजना स्वाभाविक दशा में की जाती है।

पार्श्व कर्म

पार्श्व के पाँच प्रकार कहे गए हैं—नत, समुन्नत, प्रसारित, विवर्तित तथा अपसृत ।

नत

यदि कटि तथा उसी ओर की पार्श्व थोड़ी झुकी हुई रहे और कन्धा कुछ झुका हुआ हो, तो यह 'नत' पार्श्व कहलाता है ।

समुन्नत

यदि इस नत पार्श्व का दूसरा पार्श्व ठीक विपरीत हो अर्थात् उठा हुआ हो तथा कटि, पार्श्व, भुजा और कन्धा भी युक्तिपूर्वक उठा हुआ हो, तो 'समुन्नत' पार्श्व कहलाता है ।

प्रसारित

यदि पार्श्वों को दोनों ओर फैला दिया जाय, तो 'प्रसारित' पार्श्व कहलाता है ।

विवर्तित

यदि त्रिक को एक घुमाव दे दिया जाय, तो वह 'विवर्तित' पार्श्व कहलाता है ।

अपसृत

यदि विवर्तित पार्श्व की स्थिति से पार्श्वभाग पुनः अपनी मूल स्थिति में आ जाय, तो वह 'अपसृत' पार्श्व कहलाता है ।

यदि कोई व्यक्ति पास आता है, तो 'नत' की; पीछे खिसकता है, तो 'समुन्नत' की; अत्यधिक हर्ष में होता है, तो 'प्रसारित' की; पीछे घूमता है, तो 'विर्बतित' की तथा लौटता है या सीधा घूमता है, तो 'अपसृत' की योजना की जाती है ।

□□□

उदर कर्म

उदर के तीन प्रकार कहे गये हैं—क्षाम, खल्व तथा पूर्ण। दुबला या खिंचा हुआ उदर 'क्षाम' कहलाता है। इसी तरह झुके हुए को 'खल्व' तथा भरे हुए को 'पूर्ण' उदर कहा जाता है। हास्य, रुदन, निश्वास तथा जंभाई लेने में 'क्षाम' की बीमारी, तपस्या, थकावट तथा भूख में 'खल्व' की तथा उच्छ्वास, स्थूलता, व्याधि तथा अतिशय भोजन करने में 'पूर्ण' उदर की योजना वांछनीय होती है।

एक दूसरे मत के अनुसार उदर चार प्रकार का कहा गया है—क्षाम, खल्व, सम तथा पूर्ण।

□□□

कटि कर्म

नाट्य तथा नृत्त में कटि के ५ प्रकार कहे गये हैं—छिन्ना, निवृत्ता, रेचिता, कम्पिता तथा उद्वाहिता। कटि मध्य भाग के लचक जाने से 'छिन्ना' कहलाती है। पराङ्मुख व्यक्ति की सामने की ओर उठायी हुई कटि 'निवृत्ता', चारों ओर घूमती हुई कटि 'रेचिता', शीघ्रतापूर्वक तिरछी आती-जाती कटि 'कम्पिता' तथा पार्श्व और नितम्ब देश से ऊपर की ओर धीरे-धीरे उठाने पर 'उद्वाहिता' कटि कहलाती है। व्यायाम, भ्रान्ति तथा पीछे घूमकर देखने में 'छिन्ना' कटि की, घूमने में 'निवृत्ता' की, भ्रमण आदि सामान्य क्रियाओं में 'रेचिता' की, कूबड़े, बौने तथा नीच प्रकृति के पुरुषों की चाल में 'प्रकम्पिता' की तथा स्थूल पुरुष और स्त्रियों की लीलापूर्ण गति में 'उद्वाहिता' की योजना वाँछनीय होती है।

□□□

ऊरु कर्म

ऊरु के पांच कर्मों की योजना करनी चाहिये—कम्पन, वलन, स्तम्भन, उद्वर्तन तथा विवर्तन। पैर की एड़ी के अग्रभाग को बार-बार ऊपर-नीचे ले जाया जाय, तो 'कम्पन' कहा जाता है। पैर घुटने के अन्दर के भाग में रहें और पिंडलियाँ गतिशील रहें, तो 'वलन' कर्म कहलाता है। यदि गति स्थिर रखी जाती है, तो 'स्तम्भन', घुटनों को सिकोड़ा या हिलाया जाता है, तो 'उद्वर्तन' तथा पैर की एड़ी को अन्दर की ओर सिकुड़ाया जाता है, तो 'विवर्तन' कर्म कहा जाता है।

अधम पात्रों की गति तथा भय की दशा में 'कम्पन' की योजना की जाती है। स्त्रियों की स्वच्छन्द गति में 'वलन' की, भय जौर विषाद की अवस्था में 'स्तम्भन' की, व्यायाम तथा ताण्डव नृत्य में 'उद्वर्तन' की तथा भ्रान्त और घूमने की दशा में 'निवर्तन' की योजना होनी चाहिए।

□□□

जंघा कर्म

जंघा के पांच प्रकार कहे गये हैं—आवर्तित, नत, क्षिप्त, उद्वाहित तथा परिवृत्त। यदि बायाँ पैर सीधी ओर तथा सीधा पैर बायीं ओर घूमे, तो 'आवर्तित' जंघा कहलाती है। इसी प्रकार जंघा को सिकुड़ाया जाय या झुकाया जाय, तो 'नत', जंघा को झटके से आगे फेंका जाय, तो 'क्षिप्त', जंघा को ऊपर की ओर उठाया जाय, तो 'उद्वाहित' तथा पीछे की ओर मोड़ा जाय या उद्वाहित के विपरीत बढ़ाया जाय, तो उसे 'परिवृत्त' जंघा कहा जाता है।

विदूषक की गति में 'आवर्तित' की, खड़े होने तथा आसन ग्रहण करने में 'नत' की, व्यायाम तथा ताण्डव नृत्य में 'क्षिप्त' की, वक्र गति में 'उद्वाहित' की, तथा ताण्डव आदि की प्रस्तुति में 'परिवृत्त' जंघा की योजना वांछनीय है।

□ □ □

पादकर्म कर्म

पादकर्म के पाँच भेद हैं—उद्‌घट्टित, सम, अग्रतलसंचर, अञ्चित तथा कुञ्चित।

उद्‌घट्टित

यदि पैरों से पंजे के बल खड़े होकर एड़ी से भूमि का स्पर्श किया जाय, तो 'उद्‌घट्टित' पाद होता है। इसे अनुसरण करने तथा एक या अनेक बार होने वाली द्रुत और मध्यम गति में संयोजित किया जाता है।

सम

समतल भूमि पर स्वाभाविक रूप से स्थापित पैर को 'सम' पाद कहा जाता है। इसका प्रयोग स्वाभाविक अभिनय में होता है। विभिन्न करणों से युक्त स्वाभाविक स्थिति को प्रकट करने में स्थिर 'सम' पाद रखा जाता है तथा 'रेचक' अवस्था को दर्शाने में इसे चलित दशा में रखा जाता है। 'सम' पाद में ही पैर का पंजा दूसरे पैर के अन्दर चला जाय और अँगूठा एक ओर बाहर टिका रहे, तो उसे 'त्र्यस्र' पाद कहा जाता है। समपादस्थान तथा अश्वक्रान्तस्थान के प्रदर्शन के बाद विक्लव आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए 'त्र्यस्र' पाद का प्रयोग होता है। अन्य मत के अनुसार इसी 'सम' पाद में पंजा अन्दर रख लिया जाय, तो 'त्र्यस्र' पाद हो जाता है। स्थान ग्रहण करने आदि में इसका प्रयोग किया जाता है।

अग्रतलसञ्चर

यदि एड़ी उठी हुई हो, अँगूठा आगे की ओर फैला हुआ हो तथा अँगुलियाँ झुकी हुई हों, तो 'अग्रतलसञ्चर' पाद कहलाता है। प्रेरणा, कूटना या तोड़ना, स्थित होना, पीड़ित करना, भूमि का ताड़न करना, भ्रमण करना, किसी वस्तु का फेंकना, विभिन्न रेचक गतियाँ होना तथा एड़ी के बल आना आदि दशाओं के अभिनय में 'अग्रतलसञ्चर' पाद की योजना होनी चाहिए।

अञ्चित

यदि एड़ी भूमि पर टिकी हो, पंजा ऊपर उठा हो तथा अँगुलियाँ सिकुड़ी या झुकी हुई हों, तो 'अञ्चित' पाद कहा जाता है। पंजों के बल खड़े होकर चलने, किसी ओर घूमने और लौटने, पैर से पीटने तथा भ्रमरी चारी के प्रदर्शन में इस 'अञ्चित' पाद का प्रयोग वांछनीय है।

कुञ्चित

यदि एड़ी ऊपर उठाई हुई, अँगुलियाँ सिकुड़ी हुई तथा पैर का आधा भाग (मध्य भाग) नमित रहे, तो 'कुञ्चित' पाद कहलाता है। शिष्टजन की चाल, सीधी ओर घूमने, लौटने और अतिक्रान्ता चारी के प्रदर्शन में 'कुंचित' पाद का प्रयोग करना चाहिए।

सूची

कुछ आचार्य 'सूची' पाद को छटवाँ पाद मानते हैं, यदि दाहिने पैर की एड़ी उठी हुई हो, पंजा अँगूठे के बल पर टिका हुआ हो तथा बायाँ पैर स्वाभाविक दशा में खड़ा हो, तो वह 'सूची' पाद कहा जाता है। इस पाद का प्रयोग नृत्त तथा नूपुर धारण में करना चाहिए।

चारी विधान

नाट्यप्रयोक्ता पाद, जंघा तथा ऊरु की गतियों को एक साथ ही प्रयुक्त करते हैं, क्योंकि पैरों की गति करते समय जंघा तथा ऊरु की गतियाँ भी स्वत: सम्मिलित हो जाती हैं। जिधर पैर घूमता है, उधर ही पिण्डली तथा जंघा भी घूम जाती है। इसी कारण इन दोनों की समान गति से पाद-चारी बनती है।

चारी

इस प्रकार पाद, ऊरु, जंघा तथा कटि आदि के एक साथ चलने की चेष्टा को 'चारी' कहा जाता है, क्योंकि ये चारियाँ विधान से युक्त होकर हाथ-पैर इत्यादि अंगों को परस्पर सम्बद्ध करती हैं, इसीलिए व्यायाम भी कही जाती हैं। एक पैर से भरा जाने वाला डग 'चारी' तथा दोनों पैरों से सम्पन्न होने वाली गति 'करण' कही जाती है। तीन करणों का योग 'खण्ड' कहलाता है तथा तीन या चार खण्डों का योग 'मण्डल' कहा जाता है।

चारियों से ही नृत्त व्याप्त रहता है तथा चारियों से ही चेष्टाएँ (गति आदि) की जाती हैं। शस्त्र संचालन भी चारियों से होता है और (इस प्रकार) युद्ध में चारी का प्रयोग होता है। नाट्य के रूप में जो कुछ वर्णित रहता है, वह सब 'चारी' में ही समाविष्ट समझना चाहिए, क्योंकि नाट्य का कोई भी अंग चारी के बिना सम्पन्न नहीं होता।

भौमी चारी

भूमि पर होने वाली चारियाँ 'भौमीचारी' कहलाती हैं। ये सोलह प्रकार की हैं—१. समपादा, २. स्थितावर्त्ता, ३. शकटास्या, ४. अध्यर्धिका, ५. चाषगति, ६. विच्यवा (विच्युता), ७. एलकाक्रीडिता, ८. बद्धा, ९. ऊरूद्वृत्ता, १०. अड्डिता (अंगिता), ११. उत्स्पन्दिता (उत्स्यन्दिता), १२. जनिता, १३. स्पन्दिता, १४. अपस्पन्दिता, १५. समोत्सारित मत्तल्ली, १६. मत्तल्ली।

आकाशिकी चारी

ऊपर आकाश की ओर की जाने वाली चारियाँ 'आकाशिकी चारी' कही जाती हैं। इनके भी सोलह प्रकार हैं—१. अतिक्रान्ता, २. अपक्रान्ता, ३. पार्श्वक्रान्ता, ४. ऊर्ध्वजानु, ५. सूची, ६. नूपुरपादिका, ७. दोलपादा (डोलापादा), ८. आक्षिप्ता, ९. आविद्धा, १०. उद्वृत्ता, ११. विद्युद्भ्रान्ता (विद्युत्क्रान्ता), १२. अलाता, १३. भुजंगत्रासिता, १४. हरिणप्लुता (मृगप्लुता), १५. दण्डा (दण्डपादा) तथा १६. भ्रमरी।

□□□

भौमी चारी : लक्षण

समपादा

यदि दोनों पैरों को पास रखते हुए तथा नखों को बराबर मिलाते हुए अपने स्थान पर स्थित (खड़ा) रहा जाय, तो वह 'समपादा' चारी कहलाती है।

स्थितावर्त्ता

यदि भूमि पर रगड़ते हुए एक 'अग्रतलसंचर' पाद को ऊपर उठाकर स्वस्तिक दशा में लाया जाये और दूसरे पैर को अपने पास खींचा जाये और जब दोनों पृथक हो जाएँ, तब यही गति पुनः दोहरायी जाये, तो यह 'स्थितावर्त्ता' चारी कहलाती है।

शकटास्या

यदि शरीर को सीधा रखते हुए एक चरण को 'अग्रतल संचर' दशा में सामने की ओर रखा जाय तथा छाती को 'उद्वाहित' स्थिति में रखा जाय, तो यह 'शकटास्या' चारी कहलाती है।

अध्यर्धिका

यदि बाएँ पैर की एड़ी के पिछले भाग पर दाहिना पैर रखकर फिर उसे पीछे हटाया जाय तथा यह सब डेढ़ ताल के काल प्रमाण पर किया जाय, तो यह 'अध्यर्धिका' चारी कहलाती है।

चाषगति

यदि दाहिने पैर को आगे फैलाकर फिर पीछे की ओर रख दिया जाय और उसी समय बायाँ पीछे की ओर रखकर पुनः आगे रख दिया जाय, तो यह 'चाषगति' चारी कहलाती है।

विच्यवा

यदि 'समपादा' चारी के दोनों पैरों को अलग हटाकर उनके पंजों को पृथ्वी पर ताल देते हुए पटका जाए, तो यह 'विच्यवा' चारी कहलाती है।

एलकाक्रीडिता

यदि 'अग्रतलसंचर' पादों को उछालकर क्रमशः पृथ्वी पर गिराया जाता है, तो यह 'एलकाक्रीडिता' चारी कहलाती है।

बद्धा

यदि दोनों जंघाओं को स्वस्तिक दशा में लाकर पिण्डलियों को धीरे-धीरे हिलाया जाए, तो यह 'बद्धा' चारी कहलाती है।

ऊरूद्वृत्ता

यदि 'तलसंचर' पाद में पंजा आगे रख दिया जाए और एक पिण्डली कुछ झुकी हुई तथा जाँघ ऊपर उठी हुई रखी जाए, तो यह 'ऊरूद्वृत्ता' चारी कहलाती है।

अड्डिता

यदि एक 'अग्रतल संचर' पाद आगे और पीछे की ओर चलाया जाए और दूसरे पैर का घर्षण किया जाए, तो 'अड्डिता' चारी कहलाती है।

उत्स्पन्दिता

यदि रेचक के अनुसार दोनों पैर क्रमशः एक दूसरे के पीछे घुमाये जाएँ अर्थात् दोनों पैरों का धीरे-धीरे बाहर भीतर आना-जाना होता रहे, तो यह 'उत्स्पन्दिता' चारी कहलाती है।

जनिता

यदि एक 'मुष्टि' हस्त छाती पर हो तथा दूसरा हस्त गोल चक्कर लगाते हुए रखा जाए और एक पैर 'अग्रतल संचर' दशा में हो, तो यह 'जनिता' चारी कहलाती है।

स्पन्दिता

यदि एक पैर को दूसरे पैर से पाँच तालों के अन्तर पर सामने रखा जाए, तो यह 'स्पन्दिता' चारी कहलाती है।

अपस्पन्दिता

यदि 'स्पन्दिता' चारी के ठीक विपरीत दूसरे पैर को पहले पैर के सामने पाँच ताल के अन्तर से रखा जाए, तो 'अपस्पन्दिता' चारी हो जाती है।

समोत्सारित मत्तल्ली

यदि 'तल संचर' पादों से गोल चक्कर लगाते हुए पीछे की ओर जाया जाए, तो 'समोत्सारित मत्तली' चारी होती है।

मत्तल्ली

यदि दोनों पैरों से घूमते हुए पीछे जाया जाए तथा हाथ उद्वेष्टित तथा पुनः अपविद्ध स्थिति में रखे जाएँ, तो 'मत्तल्ली' चारी होती है।

□ □ □

आकाशिकी चारी : लक्षण

अतिक्रान्ता

एक कुंचित पैर को यदि ऊपर उठाकर सामने फैलाए तथा ऊपर उठाकर फिर नीचे गिराए, तो यह 'अतिक्रान्ता' चारी कहलाती है।

अपक्रान्ता

यदि दोनों ऊरुओं अर्थात् पिण्डलियों के द्वारा वलन (घुमाव) किया जाए, फिर एक कुंचित पैर को ऊपर उठाकर एक पार्श्व में गिरा दिया जाए, तो यह 'अपक्रान्ता' चारी होती है।

पार्श्वक्रान्ता

यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर जंघा से ऊपर ले जाया जाए तथा उसी ऊपर उठे हुए पैर को एक पार्श्व में गिरा दिया जाए, तो यह 'पार्श्वक्रान्ता' चारी कहलाती है।

ऊर्ध्वजानु

यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर जानु को स्तन के बराबर उठाकर रखा जाए और दूसरा पैर स्थिर रखा जाए, तो यह 'ऊर्ध्वजानु' चारी कहलाती है।

सूची

यदि कुञ्चित पाद को जंघा के ऊपर तक ले जाकर फैला दे, फिर पंजे के अगले भाग को जमीन पर गिरादे, तो यह 'सूची' चारी कहलाती है।

नूपुरपादिका

यदि एक अंचित पाद को ऊपर उठाकर दूसरे पाद के पीछे रखा जाय तथा 'अग्रतल संचर' स्थिति वाले पाद को जल्दी-जल्दी भूमि पर पटका जाए, तो यह 'नूपुरपादिका' चारी कही जाती है।

दोलपादा

यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर एक पार्श्व से दूसरे पार्श्व में हिलाया जाए तथा अंचित दशा में स्थित करके पृथ्वी पर गिरा दिया जाए, तो 'दोलपादा' चारी कही जाती है।

आक्षिप्ता

यदि कुञ्चित पाद को उठाकर जल्दी से अंचित दशा में पृथ्वी पर रख दे तथा जंघाओं को स्वस्तिक दशा में करले, तो यह 'आक्षिप्ता' चारी कही जाती है।

आविद्धा

यदि जंघाओं के स्वस्तिक में एक पाद आगे की ओर फैलाते समय कुञ्चित रखे तथा उसे अंचित बनाकर भूमि पर जल्दी ही गिरा दे, तो यह आविद्धा' चारी कही जाती है।

उद्वृत्ता

यदि 'आविद्धा' चारी की दशा में कुञ्चित पैर को दूसरी जंघा से लपेट ले, तदनन्तर दूसरे को इसी प्रकार बदल कर रख दे और ऊपर उठाकर पृथ्वी पर पटक दे, तो 'उद्वृत्ता' चारी होती है।

विद्युद्भ्रान्ता

यदि पीछे की ओर घुमाए हुए पैर को सिर से रगड़ते हुए फैलाया जाए और चारों ओर मण्डलाकार घुमाया जाए, तो 'विद्युद्भ्रान्ता' चारी कही जाती है।

अलाता

यदि एक पाद को पीछे की ओर फैलाए, घुमाए, भीतर की ओर करे और दूसरे पाद के पंजे के निकट पटके, तो यह 'अलाता' चारी कहलाती है।

भुजंगत्रासिता

यदि कुञ्चित पाद को ऊपर उठाकर पिण्डली को गोल चक्करदार घुमाव देदे और कटि एवं जंघा को भी गोल घुमाव देदे, तो यह 'भुजंगत्रासिता' चारी कहलाती है।

हरिणप्लुता

'अतिक्रान्ता' चारी में एक उछाल मारकर पृथ्वी पर पैर टिका दिया जाए तथा जंघा को अंचित करके ऊपर की ओर उठा दिया जाए, तो यह 'हरिणप्लुता' चारी होती है।

दण्डपादा

यदि 'नूपुरपादिका' चारी को प्रदर्शित करके एक पाद को आगे की ओर फैला दिया जाए और शीघ्र ही पीछे लौटा लिया जाए, तो यह 'दण्डपादा' चारी कहलाती है।

भ्रमरी

जहाँ 'अतिक्रान्ता' चारी को प्रदर्शित करके त्रिक को परिवर्तित कर दिया जाए, तदनन्तर दूसरे पैर के तलवे से शरीर को घुमा दिया जाए, वहाँ 'भ्रमरी' चारी होती है।

इन 'आकाशिकी' चारियों का धनुष, वज्र, असि तथा अन्य शस्त्रों के चलाने में प्रयोग किया जाता है। इन सभी प्रदर्शनों के अवसर पर पैरों की गति के अनुसार हाथों को भी आगे-पीछे या साथ-साथ रखना चाहिए। जिस ओर पैर जाते हैं, उसी ओर अनुसरण करते हुए हाथ भी जाते हैं तथा जिधर हाथ जाते हैं, उधर शेष शरीर भी घूमता है। पाद की एक डग भरने के उपरान्त उपाङ्गों की योजना भी वांछनीय होती है। किसी भी 'चारी' के प्रदर्शन के पश्चात् जैसे पैर भूमि पर रखा जाता है, वैसे ही हस्त को भी अपने इष्ट प्रदर्शन के बाद गोल घुमाव लेकर कटि पर रखना चाहिए।

स्थान : भेद तथा लक्षण

मनुष्य के खड़े होने की एक विशेष अवस्था होती हैं, उसके निर्देशक छह स्थान हैं—वैष्णव, समपाद, वैशाख, मण्डल, आलीढ़ तथा प्रत्यालीढ़ ।

वैष्णव

जिसमें दोनों पैर ढाई ताल के अन्तर पर रख दिए जाएँ, एक पैर सीधा रखा जाए तथा दूसरा तिरछा पार्श्व में स्थित रखा जाए और जिसमें आंगिक सौष्ठव के साथ जंघा थोड़ी झुकी हुई हो, वह 'वैष्णव' स्थान कहलाता है । इसके अधिष्ठाता देव विष्णु हैं ।

इस स्थान के द्वारा उत्तम तथा मध्यम पात्रों का, उनके विभिन्न कार्यों से सम्बद्ध स्वाभाविक वार्तालाप का प्रदर्शन किया जाता है । इसका प्रयोग चक्र फेंकने, धनुष धारण करने, धैर्य दान, लीलायुक्त शारीरिक गति तथा क्रोध की दशा में किया जाना चाहिए। इस स्थान के पलटकर विपरीति दिशाओं में प्रदर्शन के द्वारा प्रणयकोप, प्रणयोपालम्भ, प्रणयोद्वेग, शङ्का, असूया, उग्रता, चिन्ता, मति, स्मृति, दैन्य, चपलता तथा गर्व जैसे संचारी भाव, अभीष्ट बल प्रदर्शन के भाव तथा शृङ्गार, अद्भुत और वीर रस की प्रधानता निर्देशित की जाती है ।

समपाद स्थान

जब दोनों पैर एक ताल के अन्तर से अपनी स्वाभाविक मुद्रा में, समान रूप से स्थित हों तथा स्वाभाविक सौष्ठव से युक्त हों, तब 'सम पाद' स्थान कहलाता है । इसके अधिष्ठाता देव ब्रह्मा हैं ।

ब्राह्मणों के मङ्गल आशीर्वचन ग्रहण करने में पक्षियों तथा वर के कौतुक निरूपण में, विमान पर और रथ पर चलने वाले के अभिनय में, शैव संन्यासियों एवं व्रतियों के अभिनय में इस स्थान का प्रयोग करना चाहिए ।

वैशाख स्थान

जब दोनों पाद साढ़े तीन ताल के अन्तर से गति हीन रखे जावें तथा पाद तिरछे तथा एक दूसरे के सामने निर्देश करते हुए रखे जावें तो 'वैशाख' स्थान होता है । इसके अधिष्ठाता देव कार्तिकेय हैं ।

अश्वारोहण, व्यायाम, वहिर्गमन या निर्गम, बड़े आकार के पक्षियों के निरूपण, धनुष खींचने अथवा अभ्यास करने तथा पाद रेचकों के प्रदर्शन करने में इस स्थान का प्रयोग किया जाना चाहिये।

मण्डलस्थान

जहाँ पाद चार ताल के अन्तर से स्थित हों, वे तिरछे तथा एक दूसरे के सामने समान दशा में रखे गये हों तथा कटि और घुटने अपने स्वाभाविक स्वरूप में स्थित हों, वहाँ 'मण्डल' स्थान होता है। इसके अधिष्ठाता देव इन्द्र हैं।

इसका प्रयोग धनुष, वज्र आदि शस्त्रों के चलाने में, हाथी पर सवार होने में और स्थूल पक्षियों के बतलाने में होना चाहिये।

आलीढ़ स्थान

यदि मण्डल स्थान में दाहिने पाद को दूसरे पाद के ऊपर फैला दिया जाये, तो यह 'आलीढ़' स्थान कहलाता है। इसके अधिष्ठाता देव रुद्र हैं।

वीर तथा रौद्र रस की व्यंजना के सभी कार्यों में, क्रोध में सम्पन्न होने वाले प्रश्नोत्तरों की वृद्धि में, मल्लों के रोषपूर्ण भाषण में, शत्रुओं के प्रदर्शन में, उन पर किये गये आक्रमण में तथा शस्त्र संचालन में इस स्थान का प्रयोग किया जाना चाहिये।

प्रत्यालीढ़ स्थान

यदि दाहिने पैर को सिकुड़ा कर और बायें पैर को फैलाकर आलीढ़ स्थान को परिवर्तित कर दिया जाये, तो 'प्रत्यालीढ़' स्थान कहलाता है। इसके भी अधिष्ठाता देव रुद्र हैं।

जिन शस्त्रों का संधान आलीढ़ स्थान से किया गया हो, उन्हें प्रत्यालीढ़ स्थान से छोड़ना चाहिये। अनेक शस्त्रों का प्रक्षेपण इसी स्थान के द्वारा अभिनेताओं को करना चाहिये।

□□□

न्याय : लक्षण तथा योजना

नाना प्रकार के शस्त्रों के प्रयोग में चार प्रकार के न्याय कहे गये हैं—भारत, सात्वत, वार्षगण्य और कौशिक।

भारत न्याय में कटि पर, सात्वत न्याय में पैर पर, वार्षगण्य न्याय में वक्ष:स्थल पर और कौशिक न्याय में सिर पर शस्त्रों का प्रयोग करना चाहिये। अभिनेताओं को नाना प्रकार की चारियों से निर्मित इन न्यायों से अनेक शस्त्रों को चलाने के अवसर पर विशिष्ट गतियों को ग्रहण करना चाहिये।

१. भारत

अभिनेता को चाहिये कि बायें हाथ में ढाल को सामने रखते हुए तथा दाहिने हाथ में तलवार लिये हुए रंगमंच पर विचरण करे। फिर दोनों हाथों को सामने की ओर फैला कर पीछे की ओर खींच ले। तदुपरान्त ढाल को आगे पीछे और दायें बायें घुमाये और तब अपने मस्तक के चारों ओर तलवार को घुमाये। फिर उसे कपोल के समीप गोल घुमावे। फिर हाथ में तलवार तथा ढाल लेकर ललित क्रम से घुमाते हुये मस्तक के चारों ओर एक चक्कर लगावे। भारत न्याय के प्रदर्शन के समय इसी विधि से मंच पर विचरना होगा।

२. सात्वत

सात्वत न्याय में शस्त्र और ढाल की चाल भारत न्याय के अनुसार ही रहेगी। सात्वत न्याय में केवल शस्त्रों का घुमाना पीछे से होता है।

३. वार्षगण्य

वार्षगण्य न्याय में भी सात्वत न्याय के क्रमानुसार ही गति होती है। इसमें शस्त्र (तलवार) तथा ढाल को साथ-साथ घुमाया जाता है और शस्त्र को सिर पर एक चक्कर लगाते हुये घुमाया जाता है। तदनन्तर शस्त्र को छाती या कन्धे के सामने वाले स्थान पर घुमाया जाता है।

४. कैशिक

भारत न्याय के अनुसार ही कैशिक न्याय में भी विशिष्ट गतियाँ की जाती हैं। इसमें अन्त में केवल शस्त्र को मस्तक के ऊपर घुमाकर गिरा दिया जाता है।

शास्त्रों की मोक्षणविधि

शरीर की लीलायुक्त हलचलों सहित इन न्यायों के द्वारा धनुष, वज्र, तलवार आदि शस्त्रों को चलाना चाहिए। रंगमंच पर प्रदर्शित होने वाले इन युद्धों में भेदन छेदन रक्त प्रवाह या यथार्थ प्रहार नहीं दिखाना चाहिए। शस्त्रों को केवल नाट्य संकेतों के अनुसार छोड़ना चाहिए अथवा अभिनय से युक्त छेदन नाट्य विधान के अनुसार किया जाय।

सौष्ठव

यह व्यायाम (चारी का प्रदर्शन) अंगों के सौष्ठव तथा अंगहारों से पूर्ण होना चाहिये। साथ ही साथ ताल तथा लय से युक्त संगीत की योजना भी रहनी चाहिए। व्यायाम के प्रदर्शन में सौष्ठव का ध्यान सदैव रखना चाहिए, क्योंकि सौष्ठव से विहीन अंग नाट्य तथा नृत्य में सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। यह अंगों का सौष्ठव शरीर को स्थिर, यथेच्छ सीधा, न अधिक ऊँचा तना, न अधिक झुका हुआ रखकर प्रदर्शित किया जाता है। अथवा कटि प्रदेश तथा कान समान भाव से सीधे रखे जाते हैं तथा ऐसे ही कलाई, कन्धे तथा मस्तक भी रखे जाते हैं। छाती थोड़ी ऊँची तनी रहती है, तब 'सौष्ठव' समझा जाता है। नाट्य, नृत्त तथा नृत्य 'सौष्टव' पर ही आधारित रहते हैं, इसलिए मध्यम तथा उत्तम पात्रों द्वारा 'सौष्ठव' को यत्न सहित ठीक-ठीक प्रदर्शित करना चाहिए।

चतुरस्र

जहाँ दोनों हाथ कटि और नाभि पर संचरण कर रहे हों, वक्षःस्थल समुन्नत रहे, तथा वैष्णव नामक स्थानक हो, तो अंगों का यह एक साथ होते वाला समस्त प्रदर्शन 'चतुरस्र' कहलाता है।

करण या कार्य

धनुष के चार कार्य (करण) प्रयोग में लाये जाते हैं—१. परिमार्जन, २. आदान, ३. संधान तथा ४. मोक्षण।

धनुष को बाण छोड़ने के लिए झुकाना 'परिमार्जन' कहलाता है। बाण को हाथ में ले लेना 'आदान', धनुष को बाण पर चढ़ाना 'संधान' तथा बाण को छोड़ देना 'मोक्षण' कहा जाता हैं।

व्यायाम विधि

अभिनेता को अंगहार तथा चारी के अभ्यास के लिए पृथ्वी पर अथवा ऊँचे दो मंजिले भवन (आकाशिक) में व्यायाम करना चाहिए। उसे शरीर पर तेल की मालिश करनी चाहिए तथा जौ के आटे का उबटन लगाना चाहिए। व्यायाम के

लिए भूमि ही अधिक उपयुक्त है, अतः व्यायाम भूमि पर ही शरीर को फैलाकर करना चाहिए। शक्ति संचय के लिए नस्य तथा वस्तिविधि (आयुर्वेदोक्त विधि) का सेवन करना चाहिए। उसे पुष्टिकर अन्न, मांस तथा फलों का रस सेवन करना चाहिए, क्योंकि शक्ति-सम्पन्नता अथवा प्राण भोजन पर आधारित हैं और व्यायाम शक्ति-सम्पन्नता पर। अतः शक्ति सम्पन्न रहने के लिए उपयुक्त आहार का सेवन वांछनीय है। अस्वच्छ शरीर वाले, थके हुए, भूख-प्यास से व्याकुल होते हुए, अधिक खाना खाए हुए, अधिक पानी पिये हुए व्यक्ति को व्यायाम नहीं करना चाहिए। योग्य शिक्षक को ऐसे शिक्षार्थियों को व्यायाम की शिक्षा देनी चाहिए, जिनका शरीर सुन्दर और स्थिर हो, वक्षःस्थल चौखट जैसा विशाल हो और अधिक अलङ्कार धारण न किये हो।

मण्डल प्रचार

चारियों के मेल या समूह से बनने वाले मण्डल आकाशिक तथा भौमिक ना से दो प्रकार के हैं। आकाशिक मण्डल दस हैं—

१. अतिक्रान्त, २. विचित्र, ३. ललित संचर, ४. सूची विद्ध, ५. दण्डपाद, ६. विहृत, ७. अलातक, ८. बामविद्ध, ९. ललित तथा १०. क्रान्त।

भौमिक मण्डल भी दस हैं—१. भ्रमर, २. आस्कन्दित, ३. आवर्त्त, ४. समोत्सारित, ५. एडकाक्रीडित, ६, अड्डित, ७. शकटास्य, ८. अध्यर्धक, ९. पिष्टकुट्ट, और १०. चाषगत।

□□□

आकाशिक मण्डल : लक्षण

अतिक्रान्त

आरम्भ में दाहिने पैर से 'जनिता' चारी का प्रदर्शन कर उद्वाहित करना चाहिये। फिर बायें पैर से 'अलात' तथा दाहिने से 'पार्श्वक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन करना चाहिये। तदनन्तर बायें पैर से 'सूची' और 'भ्रमरी' चारी का कमर का घुमाव लेते हुए प्रदर्शन करना चाहिये। फिर दाहिने पैर से 'उद्वाहित' चारी का तथा बायें पैर से 'अलात' चारी का प्रदर्शन करके उसे 'भ्रमरी' चारी में परिवर्तित कर देना चाहिये। फिर इसी बायें पैर से 'अलात' चारी और दाहिने पैर द्वारा 'दण्डपाद' चारी का प्रदर्शन करना चाहिये। यह नृत्य (व्यायाम) में होने वाला 'अतिक्रान्त' मण्डल हो जाता है।

विचित्र

दाहिने पैर को कँपाते हुए 'जनिता' चारी का प्रदर्शन करे तथा उसी को 'तलसंचर' पाद बना दे। फिर बायें पाद से 'स्पन्दिता' (आस्पंदिता) का तथा दाहिने पैर से 'पार्श्वक्रान्ता' का प्रदर्शन करना चाहिये। तदनन्तर बायें पैर द्वारा 'सूची चारी' तथा दाहिने पैर द्वारा 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाये। फिर बायें पैर को 'भुजंगत्रासित' चारी में अवस्थित कर दाहिने पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखना चाहिये। फिर दाहिने पैर से 'उद्वृत्ताचारी' का तथा बायें पैर से 'अलाता चारी' का प्रदर्शन करना चाहिए। इसके बाद दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में तथा उसी क्रम में बायें पैर को 'सूची' चारी में रखना चाहिये। फिर पैर से 'विक्षिप्ता' चारी का तथा बायें से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन करना चाहिये। तदनन्तर बाहरी ओर से 'भ्रमरी' तथा 'आक्षिप्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाए, तब यह 'विचित्र' नामक मण्डल कहलाता है।

ललित सञ्चर मण्डल

यदि दाहिना पैर जंघा को ऊपर उठाकर 'सूची' चारी में अवस्थित किया जाए और बायाँ पैर 'अपक्रान्ता' चारी में स्थित करके दाहिना पैर 'पार्श्वक्रान्ता' में स्थित किया जाए। फिर बायें पैर को 'सूची' चारी में रखकर 'भ्रमरी' चारी को

प्रदर्शित किया जाए, दाहिने पैर से 'पार्श्वक्रान्ता' का तथा बायें पैर से 'अतिक्रान्ता' का प्रदर्शन किया जाए, फिर दाहिने पैर से 'सूची' चारी का तथा बायें पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाए। इसके बाद दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में रखा जाए और बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में स्थित किया जाए। फिर उसे भ्रमरी चारी में परिवर्तित कर दिया जाए, तो यह सब 'ललित सञ्चर' मण्डल कहलाता है।

सूचीविद्ध मण्डल

जहाँ बायें पैर को 'सूची' चारी में रखकर 'भ्रमरी' चारी का प्रदर्शन किया जाए अर्थात् शरीर को घुमाव दे दिया जाए, फिर दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में स्थित करके बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखा जाए, तदनन्तर दाहिने पैर से 'सूची' चारी का प्रयोग करके बायें पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाए और दाहिने पैर से फिर 'पार्श्वक्रान्ता' चारी का प्रयोग किया जाए, तो 'सूचीविद्ध' मण्डल होता है।

दण्डपाद मण्डल

पहले दाहिने पैर से 'जनिता' चारी का प्रदर्शन करके 'दण्डपादा' चारी को प्रदर्शित करना चाहिए। फिर बायें पैर से 'सूची' को प्रदर्शित करके 'भ्रमरी' चारी प्रदर्शित की जाए। इसके पश्चात् दाहिने पैर को 'उद्वृत्ता' चारी में तथा बायें पैर को 'अलाता चारी' में, पुन: दायें पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में फिर उसी पैर को 'दण्डपादा' चारी में स्थित करके बायें पैर से 'सूची' चारी को प्रदर्शित किया जाए और त्रिक को घुमाव देकर 'भ्रमरी' चारी को प्रदर्शित किया जाए, तो 'दण्डपाद' मण्डल कहलाता है।

विहृत मण्डल

पहले दाहिने पैर से 'जनिता' चारी का प्रदर्शन करके इसी पैर से तलसंचर पाद का अभिनय किया जाए। फिर बायें पैर से 'आस्पन्दिता' चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर से 'उद्वृत्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाए। फिर बायें पैर को 'अलाता' चारी में स्थित कर दाहिने पैर को 'सूची' चारी में स्थित किया जाए। इसके बाद बायें पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में स्थित करके दाहिने पैर से 'आक्षिप्ता' चारी प्रदर्शित की जाए, फिर त्रिक का परिवर्तन कर 'दण्डपादा' चारी प्रदर्शित की जाए। इसके बाद बायें पैर को 'सूची' चारी में रखकर त्रिक को परिवर्तित कर दिया जाए। फिर दाहिने पैर को 'भुजंगत्रासिता' चारी में स्थित करके बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखा जाए। इस प्रकार का प्रदर्शन 'विहृत' मण्डल कहलाता है।

अलातक मण्डल

इस मण्डल में पहले दाहिने पैर को 'सूची' चारी में रखकर बायें पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाता है। इसके बाद दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता'

चारी में रखकर बायें पैर को 'अलाता' चारी में रखा जाता है। फिर इन चारियों के द्वारा क्रमशः ललित पाद विक्षेपों से छः-सात बार घूमकर मण्डल की रचना की जाती है। फिर दाहिने पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में रखकर बायें पैर से 'अतिक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाता है। फिर दाहिने पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रयोग करके बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखा जाता है। इसके बाद त्रिक परिवर्तन द्वारा भ्रमरी का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार 'अलातक' मण्डल बन जाता है।

वामविद्ध मण्डल

पहिले दाहिने पैर को 'सूची' चारी में रखकर बायें पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाये। इसके बाद दाहिने पैर को 'दण्डपादा' चारी में रखकर बायें पैर को 'सूची' चारी में अवस्थित किया जाये। इसके बाद त्रिक का परिवर्तन करके अर्थात् 'भ्रमरी' चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में रखा जाये। फिर बायें पैर को 'आक्षिप्ता' चारी में रखकर दाहिने पैर से 'दण्ड पादा' चारी का प्रदर्शन किया जाये। फिर दाहिने पैर को 'ऊरूद्वृत्ता' चारी में और बायें पैर को 'सूची' चारी में रखकर त्रिक का परिवर्तन किया जाय। फिर बायें पैर को 'अलाता' चारी में तथा दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में रखकर बायें पैर को फिर 'अतिक्रान्ता' चारी में स्थित कर दिया जाय। इस प्रकार 'वामविद्ध' नामक मण्डल बन जाता है।

ललित मण्डल

पहले दाहिने पैर को 'सूची' चारी में रखकर बायें पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में रखना चाहिये। फिर दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में स्थित करके 'भुजंगत्रासिता' चारी का प्रयोग करना चाहिये। इसके बाद बायें पैर से 'अतिक्रान्ता' चारी तथा दाहिने पैर से 'आक्षिप्ता' चारी का प्रदर्शन करना चाहिये। इसके बाद बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखकर 'ऊरुद्वृत्ता' चारी का प्रयोग करना चाहिये। फिर बायें पैर से 'अलाता' चारी और दाहिने पैर से 'पार्श्वक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किमा जाये। फिर बायें पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में रखकर 'ललित संचर' का प्रयोग करना चाहिए। ऐसा पाद-प्रसार 'ललित' नामक मण्डल कहा जाता है।

क्रान्त मण्डल

इसमें दाहिने पैर को 'सूची' चारी में स्थित करके बायें पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में रख दे। फिर दाहिने पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में रखकर बायें पैर को 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में रख दे। इसके बाद इन चारियों द्वारा क्रमशः चारों ओर घुमाव लेकर बायें पैर से 'सूची' चारी और दाहिने पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रयोग किया जाये। यह 'क्रान्त' मण्डल कहलाता है।

स्वाभाविक गति के अभिनय में इस मण्डल का प्रयोग किया जाता है।

□□□

भौमिक मण्डल : लक्षण

भ्रमर मण्डल

दाहिने पैर को 'जनिता' चारी में रखकर बायें पैर को 'आस्कन्दिता' चारी में स्थित करे, फिर दाहिने पैर को 'शकटास्या' चारी में रखकर बायें पैर को फैला दिया जाय। फिर दाहिने पैर को 'भ्रमरी' चारी में स्थित करके त्रिक को परिवर्तित करदे। फिर बायें पैर से 'आस्कन्दिता' चारी का प्रयोग करके दाहिने पैर को 'शकटास्या' चारी में स्थित कर दे। फिर बायें पैर से 'अपक्रान्ता' चारी का प्रयोग करके त्रिक को घुमाव देते हुए 'भ्रमरी' चारी का प्रयोग करे। इस प्रकार 'भ्रमर' नामक मण्डल का विधान हो जाता है।

आस्कन्दित मण्डल

दाहिने पैर को 'भ्रमरी' चारी में रखकर बायें पैर को 'अड्डिता' चारी में रख दिया जाय। फिर त्रिक को परिवर्तित करके अर्थात् पीठ को एक घुमाव देकर दाहिने पाद को 'शकटास्या' चारी में रखा जाये। फिर दक्षिण पाद को 'ऊरूद्वृत्ता' चारी में रखकर वाम पाद को 'अतिक्रान्ता' चारी (अपसर्पी) में रखा जाये। फिर पीठ को पूरा गोल घुमाव देकर 'भ्रमरी' चारी का प्रदर्शन किया जाय। फिर दायें पैर से 'स्पन्दिता' चारी का और बायें पैर से 'शकटास्या' चारी का प्रयोग करके उसे जोर का झटका देकर धरती पर गिरा दे। इस प्रकार 'आस्कन्दित' नामक मण्डल हो जाता है। इसे 'आस्यन्दित' या 'आस्पन्दित' मण्डल भी कहते हैं। इस मण्डल का प्रयोग युद्ध तथा व्यायाम में करना चाहिये।

आवर्त्त मण्डल

पहले दक्षिण पाद से 'जनिता' चारी का प्रयोग करके वाम पाद को 'तलसंचर' (निकुट्टन) में स्थित किया जाता है। फिर दाहिने पैर को 'शकटास्या' तथा 'ऊरूद्वृत्ता' चारी में क्रमशः स्थित करके बायें पैर से 'अतिक्रान्ता' चारी (अपसर्पी) तथा 'चाषगति' चारी का क्रमशः प्रयोग किया जाता है। फिर दाहिने पैर से 'आस्कन्दिता' चारी का प्रयोग करके बायें पैर से 'शकटास्या' चारी का प्रयोग

किया जाता है। इसके बाद दाहिने पैर को 'भ्रमरी' चारी में रखकर त्रिक को परिवर्तित किया जाता है और बायें पैर से 'अतिक्रान्ता' चारी का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार 'आवर्त्त' नामक मण्डल हो जाता है।

समोत्सारित मण्डल

सबसे पहले 'सम' पाद स्थान का प्रयोग करके दोनों हाथों को फैला दिया जाय। फिर दोनों हाथों को हथेली ऊपर रखते हुए आवेष्टित किया जाय अर्थात् परस्पर लपेट लिया जाय। फिर बायें हाथ को कटि प्रदेश पर रखे और दाहिने हाथ को आर्वातत गति में करले। फिर दाहिने हाथ को कटि पर रख दे और बायें हाथ को क्रमशः गोल घुमाव देते हुए रखे तथा 'आर्वातत' चारी में स्थित करदे। इस प्रकार 'समोत्सारित' मण्डल हो जाता है।

एलकाक्रीडित मण्डल

यदि दोनों सम पैरों को पृथ्वी पर टिका कर 'सूची' तथा 'एलकाक्रीडित' चारी का प्रदर्शन किया जाय, फिर शीघ्र ही 'भ्रमरी' चारी का प्रदर्शन करके त्रिक को घुमाव दे दिया जाय, फिर 'सूची' तथा 'आविद्धा' या 'अपविद्धा' चारी को क्रमशः गोल घुमाव देकर प्रदर्शित किया जाय, तो 'खण्ड मण्डल' नामक 'एलकाक्रीडित' मण्डल बन जाता है।

अड्डित मण्डल

यदि दाहिने पैर को अच्छी तरह उद्घट्टित करके एक सामान्य गोल घुमाव ले और फिर उसी से 'आस्कन्दिता' चारी का प्रयोग करके बायें पैर से 'शकटास्या' चारी का प्रयोग करे। फिर दाहिने पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में स्थित करके 'चाषगति' चारी का प्रयोग करे। फिर एक बार बायें पैर को 'अड्डिता' चारी में रखकर दाहिने पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में रख दे। फिर बायें पैर को 'भ्रमरी' चारी में तथा दाहिने पैर को 'आस्कन्दिता' चारी में रखकर उसी से आस्फोटन करे, तो यह अड्डित नामक मण्डल कहा जाता है।

शकटास्य मण्डल

यदि दाहिने पैर को क्रमशः 'जनिता' चारी तथा 'तलसंचर' पाद या 'निकुट्टक' लक्षण में गति शील रखे और फिर इसी पैर से 'शकटास्या' चारी तथा बायें पैर से 'आस्यन्दिता' चारी का प्रयोग करे। तदनन्तर 'शकटास्या' चारी में दोनों पैरों के द्वारा क्रमशः गोल घुमाव लेले, तो यह 'शकटास्य' मण्डल हो जाता है। युद्ध प्रदर्शन में इसी मण्डल की योजना करनी चाहिये।

अध्यर्ध मण्डल

यदि दाहिने पैर से क्रमशः 'जनिता' और 'आस्कन्दिता' चारी का प्रयोग किया जाये और फिर बायां पैर 'अपक्रान्ता' चारी में तथा दाहिना पैर 'शकटास्या' चारी

में रखा जाये, तो इन चारियों में क्रमशः घूमते हुए जो मण्डल बनेगा, वह अध्यर्ध मण्डल कहलाएगा।

पिष्टकुट्ट मण्डल

यदि दाहिने पैर को 'सूची' चारी में तथा बायें पैर को 'अपक्रान्ता' चारी में रखा जाये फिर दायें पैर से 'भुजंगत्रासिता' चारी का तथा बायें पैर से भी इसी चारी का प्रयोग किया जाय और फिर 'भुजंगत्रासिता' चारी वाले दोनों पैर वर्त्तुलाकार गति में घूमते हुये रखे जावें, तो इस 'चारी' 'मण्डल' को 'पिष्टकुट्ट' मण्डल कहा जाता है।

चाषगत मण्डल

यदि 'चाषगत' चारी के पादों से गोल घुमाव लेकर मण्डल बनायें, तो इसे 'चाषगत' नामक मण्डल कहते हैं। इसकी योजना बाहुयुद्ध में होनी चाहिए।

जिसमें 'सम' चारियों का निरन्तर प्रयोग हो, उसे 'सम' मण्डल कहा जाता है। नाट्याचार्य द्वारा निर्दिष्ट विधाओं के अनुसार इसका प्रयोग किया जाना चाहिये।

इन मण्डलों को युद्ध, बाहुयुद्ध तथा घूमने में लीला, अंगमाधुर्य तथा वाद्यों की संगत के साथ प्रयोग में लाना चाहिये।

□□□

गति प्रचार

पात्रों का रंगमंच पर प्रवेश

जब अनेक विध वाद्य वादन के साथ मार्ग, कला तथा रस की अनुकूलता को ध्यान में रखते हुए उपोहन का कार्य सम्पन्न हो चुका हो, ध्रुवा गान शुरू हो चुका हो एवं यवनिका हटाई जा चुकी हो, तब अनेक अर्थों एवं रसों को व्यक्त करने वाला पात्र प्रवेश रंगमंच पर किया जाता है।

उत्तम तथा मध्यम पात्रों की शरीर भंगिमा

रंगमंच पर प्रवेश के समय उत्तम और मध्यम पात्र वैष्णव स्थान में प्रतिष्ठित होते हैं। इस अवसर पर उनका वक्ष सम, ऊँचा उठा हुआ तथा चतुरस्र रहना चाहिए। भुजा तथा मस्तक उन्नत हों, गला मोर के समान सुन्दर तथा प्रसन्न हों, बाहु कान तथा मस्तक से आठ अंगुल दूर हों। वक्षस्थल से चिबुक चार अंगुल ऊँचा होना चाहिए। दाहिना तथा बायाँ हाथ क्रमशः नाभि तथा कटि पर स्थित रहना चाहिए।

पादों की ताल, कला और लय का विधान

उपर्युक्त स्थिति में पात्र को चाहिए कि वह अपने पैर ढाई ताल के अन्तर से उठाये तथा हाथों के माप के अनुसार अपने डगों को दो तथा एक ताल के अन्तर से पृथ्वी पर रखे। देवता तथा राजा आदि उत्तम पात्रों को चार ताल के, मध्यम पात्रों को दो ताल के तथा स्त्री और अधम पात्रों को एक ताल के अन्तर से पृथ्वी पर डग रखने चाहिए।

इन डगों का पात्रों के अनुसार चार कला, दो कला तथा एक कला का प्रमाण रखा जाता है। उत्तम पात्रों का समय चार कला का होता है, मध्यम पात्रों का दो कला का तथा अधम पात्रों का एक कला का समझा जाता है। पात्रों की गति उनकी स्थिति के अनुसार स्थित, मध्य तथा द्रुत लय में रहनी चाहिए। नाट्याचार्यों को चाहिए, कि वे स्वयं औचित्य के अनुसार विविध लयों की योजना करें। उत्तम पात्रों

की गति चार कला अथवा स्थित लय में संयोजित होनी चाहिए। इसी प्रकार मध्यम पात्रों की दो कला अथवा मध्यम लय संयोजित हो तथा अधम पात्रों की गति एक कला अथवा द्रुत लय में संयोजित हो।

स्वाभाविक गति

उत्तम पात्र की स्वाभाविक गति में घुटने को कमर के बराबर रखना चाहिए तथा युद्ध में प्रयुक्त चारी के समय घुटने को छाती के सामने तक उठाकर ले जाना चाहिए। यह 'पार्श्वक्रान्ता' चारी में वाद्यों के वादन के साथ पैरों को सुन्दरता पूर्वक रखते हुए रंगमंच के कोने की ओर पाँच डग चले। फिर बाएँ पैर को आगे बढ़ाते हुए सूची चारी को प्रयोग में लायें तथा दाहिने पैर को पीछे रखते हुए 'विक्षेप' का प्रयोग करे। फिर गोल घुमायी लेकर दूसरे कोने को ओर पाँच डग चले। फिर बायें पैर को आगे रखते हुए 'सूची' चारी का तथा दाहिने पैर को उसके पीछे रखते हुए 'विक्षेप' का प्रयोग करे। फिर गोल घुमाव लेकर वाद्यों की ओर बढ़ते हुए पाँच डग भरे। इस प्रकार आने जाने में होने वाली डगों की इक्कीस संख्या को पूरी करे, तब बायें पैर से सूची चारी का तथा दाहिने पैर को उसके पीछे रखकर 'विक्षेप' का प्रयोग करे।

'विकृष्ट' नाट्य गृह में अभिनेता को अपने पैरों की डग आने जाने वाली तथा विस्तीर्ण रखनी चाहिए। त्र्यस्र नाट्यगृह में वही चारी तिरछी अथवा त्रिकोणाभि-मुखी होनी चाहिए तथा चतुरस्र नाट्यगृह में पैरों की डग चतुरस्र रखनी चाहिए। जब अभिनेता अपने ही समान स्थिति वाले पात्रों के साथ समगति में चल रहा हो, तो उसकी गति की लय उसकी प्रकृति तथा विधि के अनुसार चार, दो या एक कला के अनुसार होनी चाहिए।

किन्तु जब कोई अभिनेता मध्य तथा नीच प्रकृति के पात्रों के साथ चल रहा हो, तो इस वर्ग की गति के समय लय को योग्यता तथा स्थिति के अनुसार चार, दो तथा एक कला वाली रखा जाए। देव, दानव, नाग, राक्षस, यक्ष, राजा जैसे उत्तम पात्रों की गति चार ताल के प्रमाण वाले डगों से युक्त रहनी चाहिए। स्वर्ग के सभी प्रकृति के देवताओं की गति मध्यमा होती है, किन्तु उनमें भी जो उद्धत स्वभाव के पात्र होंगे, उनकी गति देवताओं के समान प्रमाण वाली रखी जायेगी।

पात्रानुसारी गति

उत्तम, मध्यम और अधम प्रकृति के पात्रों की अवस्थाओं को देखकर तदनुसार ही उनकी गति सुनिश्चित की जानी चाहिए। विशेष अवस्था में इन उत्तम आदि पात्रों को गति का समय चार कलाओं का, उसका आधा दो कलाओं का तथा उसका भी आधा एक कला का सुनिश्चित करना चाहिए। विविध पात्रों से सम्बद्ध उनके समय तथा गतियों की विशेष अवस्थाओं में उत्तम पात्र की गति चार कला के प्रमाण

वाली हो, मध्यम पात्र की गति दो कला वाली हो तथा अधम पात्र की गति एक कला वाली हो। किन्तु जब उत्तम पात्र की गति दो कला वाली हो तो मध्यम पात्र की गति एक कला के प्रमाण वाली होनी चाहिये। जब मध्यम पात्र की गति एक कला की हो तो अधम पात्र की गति आधी कला की होगी। इस प्रकार विशेष दशाओं में कला का परिणाम आधा-आधा कर दिया जाता है। उत्तम पात्रों की गति मध्यम पात्रों के लिए तथा मध्यम पात्रों की गति अधम पात्रों के लिए प्रयोग में नहीं लानी चाहिये ।

विशेष दशा में गतियों का लय विधान

ज्वर से ग्रस्त, भूख से पीडित, थकित, भयभीत व्यक्ति तथा विस्मय, अवहित्था, उत्सुकता, शृंगार (विशेष रूप से विप्रलम्भ) तथा शोक की अवस्थाओं में स्थित व्यक्ति ऐसी लय में गति रखते हैं, जिसमें चार कला से अधिक समय लगता हो या कम से कम चार कला का समय लगता हो। किन्तु चिन्तनयुक्त दशा में गति चार कलाओं के प्रमाण वाली ही होनी चाहिये।

अस्वस्थकामिता अथवा प्रच्छन्नकामिता, भय व्यग्रता (वित्रास), आवेग, हर्ष, शीघ्रता के कार्य, अनिष्टश्रवण, निन्दा, अद्‌भुत दर्शन, आवश्यक कार्य, दुःख, शत्रु के ढूंढ़ने, अपराधी का पीछा करने तथा शिकार का अनुगमन करने की दशा में सम्बन्धित पात्रों की दो कला की गति प्रयोग में लानी चाहिए।

शृंगाररस में गति

शृंगार रस की दशा में प्रकट स्वरूप वाले कामासक्त पात्र की गति ललित रखी जानी चाहिये। शृंगारी पात्र को दूती के द्वारा बतलाए मार्ग से रंगमंच पर प्रवेश करना चाहिते। उसे चाहिए कि अभिनय में सूच्य विधा द्वारा अपने आंतिरिक भावों को प्रकट कर दे। वह सुन्दर वस्त्र और अलंकारों से सुसज्जित हो, सुगन्धित द्रव्य, धूप तथा चूर्ण से भूषित हो तथा श्रेष्ठ गंध वाली विभिन्न पुष्पमालाएँ धारण किए हो, उसके पाद ललित गति से 'अतिक्रान्ता' चारी में पड़ रहे हों, शरीर के सभी अंग सौष्ठव से युक्त हों तथा उसकी चाल लय और ताल के अनुकूल हो। पैरों की गति का हाथों के द्वारा अनुसरण हो रहा हो, पैर को हाथ के गिराने के साथ उठावे और हाथ के उठाने के साथ पैर को नीचे रख दें।

प्रच्छन्नकामी पात्र अपने सेवक तथा सहायकों को लौटाकर रात्रि बेला में दूती के साथ जाए, मार्ग सूना, दीपक या प्रकाश से रहित हो। वह अपने शरीर को अधिक वस्त्रों तथा अलंकारों से सज्जित न करे, वह समय के अनुकूल वस्त्र धारण करे और दूती के साथ बिना आवाज किए धीमे पैरों से आगे बढ़े। किसी खड़खड़ाहट या अन्य शब्द के होने पर शंका तथा उत्सुकता से इधर-उधर देखने लगे तथा शंकाग्रस्त और काँपते हुए शरीर वाला बार-बार लड़खड़ाने लगे।

रौद्र रस में गति

रौद्र रस दैत्य तथा राक्षस पात्रों में स्थायी स्वरूप लिए हुए रहता है। अतः इस रस में इन्हीं पात्रों से सम्बन्धित गति का विधान किया गया है। रौद्र रस के तीन प्रकार हैं—नेपथ्य रौद्र, अङ्ग रौद्र तथा स्वभावज रौद्र। नेपथ्य रौद्र में शरीर रक्त से लथपथ, मुख रक्त से लाल तथा हाथ मांस के टुकड़ों से युक्त रहते हैं। अङ्ग रौद्र में शरीर बड़ा तथा लम्बा होता है। स्वभावज रौद्र में शरीर बड़ा लम्बा, ऊँचा, अनेक मुखों वाला तथा अनेक सशस्त्र हाथों से युक्त रहता है। स्वभावज रौद्र पात्र-विशेष का स्वरूप ही है। इसमें लाल आँखें, पीले बाल, काला रंग, कठोर स्वर, रूखा स्वभाव तथा दूसरों को डाँटते रहने की प्रवृत्ति रहती है। रौद्र रस में चण्डगति रहती है। इसमें पैरों को चार ताल के अन्तर से उठाया जाता है तथा बीच में ही पृथ्वी पर रख दिया जाता है। इसी के समान स्वभाव वाले अन्य पात्रों की गति भी ऐसी ही रखी जाती है।

बीभत्स रस में गति

बीभत्स रस की गति के लिए ऐसे स्थान की योजना की जाती हैं, जो भारी भीषण तथा घिनौना हो। ऐसा स्थान श्मशान या रणभूमि होता है। इस रस में पात्र की 'संकुचित गति' रहती है। इसमें 'एलकाक्रीडिता' चारी में पादों को कभी पास-पास, कभी दूर-दूर तथा कभी एक-दूसरे पर या एक पर दूसरे को रखते हुए गति की जाती है। पैरों की गति के अनुकूल ही हाथों की गति भी रहती है।

वीर रस में गति

वीर रस की गति में पैरों को शीघ्रतापूर्वक उठाकर गन्तव्य की ओर सञ्चरण किया जाए। वीर रस की गति को गौरव गति कहा जाता है। यह उत्तम तथा वीर पुरुषों की स्वाभाविक गति मानी गयी है। इसमें आवेग की दशा में पात्र को पार्श्वक्रान्ता, आविद्धा तथा सूची चारी में कला और ताल के अनुसार पादों को उचित गति में योजित करना चाहिए।

अद्भुत तथा हास्यरस में गति

विस्मय तथा हर्ष की दशा में पैरों की गति लड़खड़ाती हुई तथा चारों ओर घूमने वाली होनी चाहिए। हास्यरस में इसी के समान किसी अन्य उचित गति की योजना की जा सकती है। हास्यरस से सम्बन्धित गति को 'विक्षिप्ता' तथा अद्भुत रस से सम्बन्धित गति को 'आश्चर्य' गति कहा जाता है।

करुण रस में गति

करुण रस में पात्रों के पैरों की गति मन्द रहा करती है। अतः यह गति 'शिथिल-गति' कही जाती है। आँखें आँसुओं से भरी हुई तथा शरीर अवसन्न रहता है। हाथ ऊपर उठाए तथा नीचे गिराए जाते हैं तथा ऊँचे स्वर में बिलाप किया

जाता है। यह गति मरण आदि अत्यन्त अप्रिय घटना के समय रखी जाती है तथा 'अर्ध्यधिका' चारी में लय में डेढ़ कला के अन्तर से धीमी गति से पादों को रखते हुए प्रदर्शित की जाती है। यह गति स्त्री तथा अधम पात्रों में प्रयोग में लाई जाती है।

करुण रस की दशा में उत्तम पात्रों की गति धीरज रखते हुए, आँसू बहाते हुए, ऊँची निःश्वास छोड़ते हुए और ऊपर की ओर देखते हुए नियोजित करनी चाहिए। इस गति में किसी भी कला और काल सम्बन्धी परिणाम तथा शरीर सौष्ठव आदि की योजना नहीं होनी चाहिए।

मध्यम पात्रों की गति भी इसी विधान के अनुसार सत्व या शक्ति को जानकर रखी जानी चाहिए। प्रिय जन तथा इष्ट बन्धु के निधन हो जाने की दशा में छाती पीटना, उत्साहहीन होना तथा शोकाधिक्य से चेतनाशून्य हो जाना आदि के साथ नियोज्य होती है। इसमें पादों को बहुत ऊँचे नहीं उठाया जाता। गंभीर रूप से घायल होने पर भुजा तथा कंधों को शिथिल तथा शरीर को घूमता हुआ (विघूर्णित) रखा जाय। गति 'चूर्णपद' की स्थिति में रहे अर्थात् पैर पृथ्वी पर उठा हुआ सा थोड़ा टिके या ठीक से न टिके।

शीतार्त पात्र की गति

शीत या वर्षा से त्रस्त स्त्री तथा अधम पात्रों की गति में समस्त अंगों को सिकुड़ाकर काँपने, हाथों को छाती पर (उसे ढकने के लिए) रखने, शरीर को झुका लेने, दाँत और होंठों को फड़काने, ठोड़ी को कँपाने, धीरे-धीरे कार्य करने आदि को प्रदर्शित करना चाहिए। इस शीताभिनय की दशा में गति अत्यन्त मन्द (स्थित लय में) रखनी चाहिए।

भयानक रस में गति

भयानक रस में स्त्रियों, कापुरुषों और अन्य शक्तिहीन पुरुषों की गति को इस प्रकार प्रदर्शित करना चाहिए, नेत्र फैले हुए तथा चंचल रहें, शिर काँपता हुआ रहे (विधुत मुद्रा में), भयभीत दृष्टियाँ बगलें झाँकती हों, गति द्रुत तथा 'चूर्णपद' लक्षण से युक्त हो, हाथ 'कपोतमुद्रा' में हों, शरीर काँपता हो, ओष्ठ सूखे हों तथा गति लड़खड़ाती हो। यह 'धैर्यविभासित' कहलाती है। इसकी योजना भयानक रस में होती है। यही गति शत्रु द्वारा पीछा करने, डराने या दुःख देने की स्थिति में प्रदर्शित की जाती है। किसी विकारग्रस्त वन्य जीव को देखकर या भयानक आवाज को सुनकर स्त्रियों पर इस गति को प्रयोग में लाना चाहिए। यह गति पुरुष पात्रों पर भी संयोजित की जाती है, पर उसमें थोड़े से धैर्य तथा पराक्रम–प्रदर्शन की वृत्ति का भी मिश्रण रहना चाहिए। भयभीत पुरुष की गति 'एलकाक्रीडित' चारी में पैरों को शीघ्रता से ऊपर रखते हुए, कहीं निकट रखते हुए, कहीं एक-दूसरे से बहुत दूर

रखते हुए तथा हाथों को इन्हीं पैरों के अनुसार गतिशील रखते हुए नियोजित करनी चाहिये।

विविध-पात्र-गति

वणिक तथा मन्त्रिगण की गति

वणिक तथा सचिव गण की गति उनके स्वभाव के अनुकूल रहनी चाहिए। स्पष्ट है कि ये मध्यम पात्र हैं, अतः इनकी गति भी मध्यम ही रहेगी। इन्हें 'अतिक्रान्ता' चारी में दो ताल के प्रमाण वाली डग भरनी चाहिये। ये बायाँ हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में हथेली को उठी हुई रखकर नाभि पर रखें तथा दाहिना हाथ 'अराल' मुद्रा में एक बाजू पर रखें। ये अपने शरीर को ठहरा हुआ, स्तब्ध या हिलती हुई दशा में न रखें, वरन् शरीर को ऊपर कही हुई गति में ही नियोजित रखें।

यति, श्रमण आदि की गति

यति, श्रमण, तपस्वी तथा नैष्ठिक ब्रह्मचारी आदि पात्रों की गति इस प्रकार होनी चाहिए—नेत्र स्थिर तथा चार हाथ आगे सामने की ओर देखते हुए हों, समस्त शरीर नियन्त्रित हो, चित्त स्थिर हो, अपने पंथ या धर्म का चिह्न धारण किए हो, वेष विनीत हो, वस्त्र काषाय अर्थात् भगवा हों, (अथवा अपने सम्प्रदाय के अनुसार पीत, श्वेत आदि वस्त्र भी धारण करे)।

इस पात्र को 'समपादा' चारी में तथा समपाद स्थान में स्थिति होकर दोनों हाथों को 'चतुर' मुद्रा में रखकर एक को फैला देना चाहिए। उसे अपने मुख को प्रसन्न तथा अभिनय के अनुकूल रखते हुए स्वाभाविक गति से 'अतिक्रान्ता' चारी में चलना चाहिए।

यह गति उत्तम यतियों, महाव्रतधारियों तथा इसी कोटि के अन्य साधुओं की होनी चाहिए। शेष साधुजनों को, जो गुणों की दृष्टि से हीन या विपरीत लक्षण वाले हों, उन्मत्त, शान्त एवं दयालु स्वभाव के हों या पाशुपत सम्प्रदाय के शैव संन्यासी हों, 'शकटास्या' तथा 'अतिक्रान्ता' चारी में उद्धत डग भरते हुए नियोजित किया जाये।

अन्धकार में स्थित या अन्धे पात्र की गति

अन्धेरे में चलने वाले या अन्धे पात्र को अपनी गति पैरों को पृथ्वी पर रगड़ते हुए तथा हाथों से रास्ता टटोलते हुए नियोजित करनी चाहिए।

रथारोही पात्र की गति

रथारोही पात्र की गति सामान्य डगों (चूर्णपद) द्वारा नियोजित होनी चाहिए। उसे 'समपाद' स्थान के द्वारा दोनों पैरों को समभाव से टिकाते हुये रथ

की गति सूचित करनी चाहिए। वह एक हाथ में धनुष तथा दूसरे में रथ का कूवर या डण्डा पकड़े रहे। उसका सारथी भी चाबुक तथा लगाम को सँभालने में व्यस्त रहना चाहिए। इसके वाहन भी रथ की स्थित के अनुसार विभिन्न प्रकार के स्वरूप में रखे जाने चाहिए तथा वह द्रुत गति में सामान्य डग भरते हुए रंग मंच पर प्रवेश करे।

बिमानावरोहण गति

विमान पर आरोहण की गति भी रथारोहण की गति के समान ही नियोजित होनी चाहिये। इसमें शरीर ऊपर की ओर रखते हुए स्थित हो तथा अवतरण की दशा में अधिरोहण के विरुद्ध कार्य नियोजित किये जायें अर्थात् शरीर को छिपाकर मुँह नीचा कर लिया जाय।

आकाश गति

आकाशगामी पात्र की गति आकाशिकी चारियों के अत्यधिक प्रदर्शन तथा ऊँचा मुख करके देखने के द्वारा नियोजित होनी चाहिए और यह 'समपाद' स्थान में साधारण डग (चूर्णपद) भरते हुए होनी चाहिए। आकाश से अवतरण करने वाले पात्र की भी इसी प्रकार गति रहनी चाहिए। ऐसी गति सीधे या लम्बे, ऊँचे, नीचे या तिरछे घूमते हुए अव्यवस्थित रूप में डग भरते हुए नियोजित करनी चाहिए।

आकाश से गिरते हुए पात्र की गति भुजाओं को अपविद्ध अर्थात् झूले के समान डुलाते हुए, कपड़ों के छोर इधर-उधर बिखराते हुए तथा दृष्टि पृथ्वी की ओर नीची टिकाये हुए नियोजित करनी चाहिए।

उन्नत प्रदेशारोहण गति

कथावस्तु की आवश्यकता के अनुसार प्रासाद, वृक्ष, पर्वत और नदी आदि के ऊँचे नीचे स्थानों पर आरोहण तथा अवतरण किया जाना चाहिये। प्रासाद पर चढ़ने में 'अतिक्रान्ता' चारी में पैरों को स्थित करके शरीर को ऊपर उठाते हुए सीढ़ी पर चढ़ना चाहिए तथा प्रासाद से उतरते समय शरीर को थोड़ा झुका दे और एक पैर को 'अतिक्रान्ता' चारी में तथा दूसरे को 'अञ्चित' गति में रखते हुए चले।

पर्वतारोहण के समय भी प्रासादारोहण के लिए निर्धारित गति का ही नियोजन किया जाय, केवल पर्वतारोहण की दशा में पैर के पंजों पर अंग को ऊपर उठाये रखना चाहिए अथवा मस्तक को ऊपर नीचे उठाकर तथा पैर को हाथ का सहारा देते हुये रखना चाहिए। वृक्ष पर चढ़ने की दशा में 'अतिक्रान्ता' चारी में पैरों को उठाकर फिर क्रमशः 'सूची', 'अपक्रान्ता' तथा 'पार्श्वक्रान्ता' चारी का प्रयोग करना चाहिए।

अवतरण गति

नदियों में अवतरण के लिये भी उसी गति का नियोजन किया जाये जो प्रासाद के विषय में पहले कही गई है। केवल नदी पार करने के अभिनय में जल की गहराई के अनुसार तैरने की गति रखनी होगी। यदि जल उथला हो, तो कपड़ों को उठाते हुए तथा जल गहरा हो, तो शरीर को झुकाकर हाथों को हिलाते हुए गति नियोजित करनी होगी, जिससे पानी काटने या तैरने की क्रिया की अभिव्यक्ति हो सके।

तैरने का अभिनय करते समय हाथ 'पताक' या 'सर्पशीर्ष' मुद्रा में रखे जायें।

नदी के बहाव को पार करने का अभिनय करते समय हाथों को फैलाकर पानी को बार-बार काटते हुये, थपथपाते हुए तिरछा होकर हाथों को फैलाते हुए, सम्पूर्ण शरीर को तैरने में लगाते हुए तथा पानी के कारण मुख को बन्द रखते हुए गति को नियोजित करना चाहिए।

नौका यात्रा में गति

नौका से यात्रा करने वाले पात्र की गति द्रुत चूर्णपदों से युक्त अर्थात् शीघ्रता पूर्वक डग भरते हुए कही गयी है। इसी प्रकार विभिन्न गतियों तथा क्रियाओं को व्यक्त करना चाहिए। ये समस्त कार्य निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार संकेतों से सम्पन्न करने चाहिए। किसी पात्र का मरण दिखाने पर अभिनेता पात्र वस्तुतः मर नहीं जाता, मरने का अभिनय मात्र करता है। यह प्रतीति उसी प्रकार होती है, जैसे अंकुश ग्रहण करने से हाथी की, लगाम ग्रहण करने से अश्व की तथा रास ग्रहण करने से रथ की अभिव्यक्ति हो जाती है।

अश्वाधिरोहण गति

अश्व पर चढ़ते हुए पात्र की गति वैशाख स्थान तथा चूर्णपदों द्वारा अर्थात् शीघ्रता पूर्वक रखी जाती हुई डगों द्वारा प्रदर्शित की जानी चाहिए।

सर्पगति

सर्पगति स्वस्तिक पादों द्वारा सम्पन्न की जानी चाहिए। पहले 'पार्श्वक्रान्ता' चारी को प्रदर्शित करके फिर स्वस्तिक पादों के रेचक द्वारा अभिनय प्रस्तुत किया जाये।

विटगति

विट की गति 'ललित विलासित' होनी चाहिए। अभिनेता को एकताल के अन्तर पर रखे जाते हुए 'कुञ्चित' पादों द्वारा अपने सौष्ठव से युक्त, पादों के अनुकूल गतिशील हस्तों को 'खटकावर्धमान' मुद्रा में रखकर विटगति का अभिनय करना चाहिए।

कञ्चुकी गति

कञ्चुकी (अन्तःपुररक्षक) की गति उसकी अवस्था तथा स्थिति के अनुकूल रखनी चाहिए। अभिनय-निपुण व्यक्ति को युवा कञ्चुकी की गति इस प्रकार नियोजित करनी चाहिए—कीचड़ में लिपटे हुए के समान समस्त अंगों को वहन करता हुआ आधी ताल पर उठने वाले सीधे पैरों से अपनी गति का प्रदर्शन करे। वृद्ध कञ्चुकी की गति शरीर को कँपाते हुए, पैरों को धीरे-धीरे उठाते हुए तथा लकड़ी (छड़ी) पर शरीर टिकाते हुए नियोजित करनी चाहिए।

कृश, व्याधिग्रस्त तथा श्रान्त पात्र की गति

कृश पात्र की गति धीरे-धीरे चलते हुए नियोजित होनी चाहिए। पात्र के रुग्ण, ज्वर से पीड़ित, तप से शिथिल तथा क्षुधाग्रस्त होने पर उसकी गति दुर्बल शरीर, क्षीण उदर, मन्द स्वर, धँसे गाल, दीन नेत्रों से युक्त लकड़ी का अबलम्बन लेकर चलते हुए नियोजित करनी चाहिए। वह हाथ पैरों को धीरे-धीरे उठाता हो, अङ्ग काँपते हों तथा क्लेश पाते हों।

पथिक की गति

यात्रा पर निकले हुए या बहुत दूर चलकर आए हुए व्यक्ति की गति को धीरे-धीरे डग भरते हुए, शरीर को झुकाते हुए तथा जंघाओं को दबाते हुए नियोजित होना चाहिए।

स्थूल पात्र की गति

मंद-मंद पैर रखते हुए, शरीर में खिचाव अनुभव करते हुए, भारी वजन ढोते हुए के समान स्थूल पात्र की गति नियोजित होनी चाहिए। ऐसे पथिक की तीव्र साँसें चलती हों, वह पसीने से लथपथ हो, चलने में बाधा अनुभव करता हो तथा साधारण चाल (चूर्णपद) चलता हो।

मत्तगति

मद पान में तरुण तथा मद की मध्यम अवस्था वाले पात्रों की गति बाएँ और दाएँ पैर को घुमाते हुए तथा आगे पीछे ले जाते हुए नियोजित होनी चाहिए। मदपान में अधम मद की अवस्था वाले पात्रों की गति पैरों को पृथ्वी पर अनियमित भाव से रखते हुए, शरीर को सब ओर डगमगाते हुए तथा हाथों को घुमाते हुए नियोजित करनी चाहिए।

उन्मत्त की गति

उन्मत्त या पागल पात्र की गति अनियन्त्रित डगों से युक्त तथा लौकिक क्रियाओं के अनुकरण पर अनेक चारियों को प्रदर्शित करती हुई नियोजित होनी चाहिए। ऐसे पात्र के बाल रूखे तथा बढ़े हुए और शरीर धूल से लथपथ होना

चाहिए। वह अकारण ही बोल पड़ता हो तथा अस्वाभाविक रूप से चिल्ला पड़ता हो, वह कभी गाता हो, तो कभी हँसता हो। उसे किसी का साथ न सुहाता हो अथवा बार-बार रोता हो। कभी प्रसन्न होकर नाचने लगता हो और कभी कुछ बजाने लगता हो। कभी जोर से दौड़ पड़ता हो और कभी ठहर जाता हो। कभी बैठा रहता हो, कभी लेट जाता हो। वह अनेक वस्त्र पहने रहता हो। यह उन्मत्त पात्र का स्वरूप है। उसकी गति इस प्रकार नियोजित होनी चाहिए—वह सर्व प्रथम 'नूपुर' पाद में स्थित होकर उसे 'दण्डपादा' दशा में फैला दे, तदनन्तर 'बद्धा' चारी में स्थित होते हुए पैरों को 'स्वस्तिक' दशा में कर ले। इसी तरह चारों ओर घूमकर 'मण्डल' बनाकर अभिनय करे। फिर पीठ को चारों ओर घुमाते हुए लताहस्तों का प्रदर्शन अव्यवस्थित रूप में पैरों की गति के साथ हाथों को हिलाते हुए करे।

खंज, पंगु तथा वामन पात्रों की गति

विकलांगों के अभिनय से हास्य उत्पन्न करने के लिए लँगड़े, लूले तथा बौने पात्रों की तीन प्रकार की गति नियोजित करनी चाहिए। प्रथम प्रकार की दशा में खंज गति में नित्य ही एक चरण स्तब्ध रहता है। दूसरे प्रकार की दशा में दूसरे पैर को 'अग्रतलसंचर' करते हुए उससे डग भरी जानी चाहिए तथा स्तब्ध पैर पर शरीर का बोझ रहना चाहिए। तीसरे प्रकार की स्थिति में शरीर को उसी के सहारे आगे बढ़ाते हुए दूसरे पैर से बैठना अथवा चलना चाहिए। लँगड़े पात्र के चलने अथवा बैठने में यही क्रम रहना चाहिए। किसी पात्र के पैर में चोट, कील या काँटा लगने पर भी इसी गति की योजना करनी चाहिए।

पंगु पात्र की गति 'अग्रतलसंचर' तथा 'अञ्चित' पाद की स्थिति में बैठे हुए तथा जंघा को मोड़कर चलते हुए प्रदर्शित करनी चाहिए।

वामन (बौने) पात्र की गति में सारे अंग सिकुड़े हुए रखे जाते हैं, पैर शीघ्रता से लम्बी डग नहीं भर सकते। वे पृथ्वी पर जोर से पटके भी नहीं जा सकते। जब ये साधारण चाल में चलता है, तो उचकता हुआ दर्शकों को हँसाता है।

विदूषक गति

विदूषक की गति भी तीन प्रकार से हास्यों के विभूषित होनी चाहिए। ये हास्य अंगों के विकार से होने वाले, उच्चारित शब्दों या वाक्यों के द्वारा होने वाले तथा वेष से होने वाले होते हैं।

यदि विदूषक भद्दे तथा बड़े दातों वाला, गंजा, कुबड़ा, लँगड़ा और बदसूरत हो, तो ऐसे शरीर से उत्पन्न हास्य अंग हास्य कहा जाता है। यदि वह ऊपर-नीचे दाएँ-बाएँ देखते हुए बगुले के समान चलने लगे, और लम्बी-लम्बी डग भरने लगे, तो वह भी अंग हास्य कहा जाएगा।

असम्बद्ध प्रलाप, अश्लील भाषा तथा अर्थशून्य शब्दों के अस्वाभाविक उच्चारण से उत्पन्न हास्य 'काव्यहास्य' अथवा 'शब्दज-हास्य' कहलाता है।

यदि चिथड़े, चमड़े, स्याही, भस्म या गेरू आदि से सज्जित हों, तो 'नेपथ्यज हास्य' कहलाता है ।

इस कारण पात्र के स्वभाव, भाव और कार्य को समझकर अनेक प्रकार की दशाओं से युक्त विदूषक के गति प्रचार को नियोजित करना चाहिए। इस पात्र की स्वाभाविक अवस्था वाली गति में बाएँ हाथ में 'कुटिलक' (टेढ़ी लाठी) रहती है तथा दाहिने हाथ से 'चतुर' मुद्रा का प्रदर्शन किया जाता है। वह अपने एक पार्श्व, मस्तक तथा हाथ पैरों को ताल और लय के अनुसार झुकाता हुआ चलता है। इसकी यह गति 'स्वभावजा' कहलाती है। दूसरी गति 'विकारजा' भी होती है, जिसका प्रदर्शन अलभ्य लड्डू आदि पक्वान्न के या मूल्यवान् वस्तु के प्राप्त होने पर स्तब्ध होकर किया जाता है ।

दास आदि की गति

दास आदि अनेक प्रकार के स्वभाव वाले अधम पात्रों की गति का नियोजन करना चाहिए। सेवकों की गति चारों ओर घूमती हुई एक पार्श्व, सिर, हाथ और पैर झुकते हुए आँखें विभिन्न वस्तुओं पर टिकती हुई नियोजित होनी चाहिए।

शकारगति

शकार की गति अहंकार से युक्त तथा साधारण डगों वाली होनी चाहिए। उसे चलते समय अपने वस्त्र और अलंकारों को बार-बार छूते हुए या देखते हुए चलना चाहिए । वह अस्वाभाविक रूप से अपने अंगों को उठाता हुआ और लम्बे वस्त्रों तथा माला को हिलाता हुआ चले।

नीच पात्र की गति

नीच कुल में उत्पन्न होने वाले पात्रों की गति इस तरह नियोजित होनी चाहिए कि वह आँखों को चारों ओर घुमाते हुए तथा शरीर को दूसरों से स्पर्श न कराते हुए सिकुड़ता हुआ चले ।

म्लेच्छगति

म्लेच्छ तथा पुलिन्द, शबर आदि जातियों की गति देश, काल और स्वभाव के अनुसार नियोजित की जानी चाहिए।

पशु-पक्षियों की गति

पक्षियों, हिंसक जीवों तथा पशुओं की गति उनकी जाति, प्रकृति और चेष्टाओं के अनुसार नियोजित की जाए। सिंह, रीछ तथा वानर जैसे पात्रों की गति अभिनेताओं द्वारा वही निर्धारित की जावे, जो नृसिंह अवतार में प्रभावशाली भगवान विष्णु ने प्रदर्शित की थी। इसमें 'आलीढ़' स्थान का प्रदर्शन किया जाए तथा शरीर को उसी के अनुकूल गतिशील रखा जाए। एक हाथ को घुटने पर तथा

दूसरे को वक्षःस्थल पर रखे, चिबुक को कन्धे पर रखते हुए सभी दिशाओं में क्रूरता पूर्वक देखकर पाँच ताल के अन्तर पर उठाए हुए डगों से गति को नियोजित करे। प्रयोक्ताओं (अभिनेताओं) को सिंहादि की यह गति युद्ध के समय तथा रंगमंच पर प्रवेश के समय नियोजित करनी चाहिए।

शेष प्राणियों की गति तथा स्थानों की योजना उनके मंच पर अवतरित होने, पीठ पर किसी वस्तु को लाद कर लाने-ले जाने आदि अर्थों के प्रदर्शन में उपयुक्त स्वरूप के अनुसार की जाए।

विविध प्राणियों की ये उपर्युक्त गतियाँ निपुण पात्रों द्वारा इसी प्रकार प्रदर्शित की जानी चाहिए। जिन प्राणियों की गतियाँ यहाँ न कही गई हों, उन्हें लोक व्यवहार के अनुकूल ग्रहण कर लिया जाए।

स्त्री-पात्र गति

स्त्रियों के भाषण तथा गति के समय ये तीन स्थान प्रयोग में लाए जाएँ— १. आयत, २. अवहित्थ तथा ३. अश्वक्रान्त।

आयत

यदि दायाँ पैर 'सम' में स्थित हो, बायाँ पैर तिरछा एक ताल के अन्तर से एक पार्श्व में उठा हुआ हो तथा कटि बायीं ओर उठी हुई हो, तो 'आयत' स्थान होता है। निमन्त्रण देने, पुकारने (आवाहन), विदाई (विसर्ग), ध्यानपूर्वक देखने (निर्वर्णन), चिन्ता करने और छल-कपट करने (अवहित्थ) में इस स्थान की योजना की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त इसकी योजना रंगमंच पर प्रवेश करने पुष्पाञ्जलि बिखेरने; ईर्ष्यायुक्त प्रणयकोप प्रदर्शित करने; तर्जनी अँगुली के ऐठने; निषेध, गर्व, गभीरता, मौन तथा मान का सहारा लेने और विभिन्न दशाओं में देखने में भी इस स्थान की योजना करनी चाहिए।

अवहित्थ

बायाँ पैर 'सम' में स्थित हो, दायाँ पैर तिरछा होकर एक पार्श्व में रखा हुआ हो और कमर बायीं ओर उठी हुई हो, तो 'अवहित्य' स्थान कहलाता है। इस स्थान की योजना स्त्रियों के स्वाभाविक संलाप (पारस्परिक वार्ता), निश्चय, परितोष, वितर्क, लज्जित होने, विलास लीला, विब्बोक, शृंगार, आत्म निरूपण तथा प्रियतम का मार्ग देखने में करनी चाहिए।

अश्वक्रान्त

यदि एक पैर उठा हुआ हो, दूसरा पैर 'अग्रतल' संचर दशा में हो अर्थात् दूसरा पैर उसके पंजे पर रखा हुआ हो, भले ही सूची या आविद्धा चारी में हो अथवा न हो, तो 'अश्वक्रान्ता' स्थान होता है। वृक्ष की शाखा का सहारा लेने, पुष्पगुच्छ

स्वीकार करने, अधम पात्रों के विश्राम करने तथा नारियों के प्रयोजन को अर्थ के अनुसार प्रदर्शित करने में इस स्थान का प्रयोग किया जाता है।

ये स्थान अभिनेत्री द्वारा किसी चेष्टा के प्रारम्भ करने के पूर्व तक ही प्रदर्शित किए जाने चाहिए। यथा नृत्त में चारी का प्रदर्शन प्रारम्भ करने पर 'स्थान' समाप्त कर देना चाहिए।

युवती स्त्री की गति

सबसे पहले अवहित्थ स्थान को प्रदर्शित करके बायीं भुजा को अधोमुख रखे तथा दाहिना हाथ 'कटकामुख' मुद्रा में नाभि पर रखे। इसके उपरान्त दायें 'ललितसञ्चर' पाद को एक ताल के प्रमाण पर उठाकर बायें पैर के पार्श्व भाग में रखें, तब बायें हाथ को तत्क्षण लता मुद्रा में नाभि पर रखा जाए और दाहिने पार्श्व को झुकाया जाए। इसके बाद दाहिना हाथ नितम्ब पर तथा बायाँ हाथ उद्वेष्टित मुद्रा में कर लिया जाए। फिर बायें पैर को आगे बढ़ाया जाए और दाहिना हाथ लता मुद्रा में रखा जाए। इस सबके बाद शरीर को थोड़ा झुकाकर तथा मस्तक को उद्वाहित मुद्रा में रखकर पाँच कदम चला जाए। रंगमंच पर पुरुष पात्रों के चलने के लिए जिस विधि का विधान है, वही स्त्रियों के लिए भी होनी चाहिए।

स्त्रियों की डग छः या आठ कला के प्रमाण वाली नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इससे स्त्रियाँ थक जाती हैं और प्रदर्शन करने में उन्हें भारी आयास करना पड़ता है।

प्रौढ़ा स्त्री की गति

अवहित्थ स्थान को प्रदर्शित करके बायें हाथ को कटि पर तथा दाहिने हाथ को 'अराल' मुद्रा में ऊपर की ओर मुँह करते हुए नाभि और स्तनों के मध्य रखना चाहिए। इसके पश्चात् शरीर को न ढीला, न स्थिर और न हिलता हुआ ही रख कर उसी क्रम से चलते रहना चाहिए।

दासी (प्रेष्या) की गति

दासियों की गति भ्रम के कारण ऊपर देखते हुए रखी जाए। वे थोड़ा तने हुए शरीर से भुजाओं को घुमाती हुई 'आविद्ध' दशा में रखें। उनको अवहित्थ स्थान को प्रदर्शित करके बायें हाथ को अधोमुख रखकर तथा दाहिने हाथ को 'कटकामुख' मुद्रा में नाभि देश पर रखकर चलना चाहिए।

नपुंसक गति

नपुंसक पात्र की गति पुरुष तथा स्त्री पात्रों की मिली जुली गति के रूप में रहनी चाहिए। इनको शरीर को उदात्त तथा ललित हलचल में रखते हुए लालित्य पूर्ण पग रखने चाहिए।

उत्तम पुरुष तथा स्त्री पात्रों की गति के लिए जो समय पहले सुनिश्चित किया जा चुका है, उसका आधा भाग दासी आदि स्त्रियों की गति के लिए तथा उसका भी आधा भाग नपुंसक पात्रों की गति के लिए नियोजित होना चाहिए। जो गति उत्तम, मध्यम तथा अधम पुरुष पात्रों के लिए सुनिश्चित है, वही गति उत्तम, मध्यम तथा अधम स्त्री पात्रों की भी होनी चाहिए, केवल स्त्री पात्र के डग 'ललित संचर' पाद की स्थित में रखे जायेंगे।

बाल गति

बालकों की गति स्वच्छन्द पद संचार से युक्त होनी चाहिए। इसमें न तो सौष्ठव की और न समय प्रमाण (ताल आदि के अनुसरण) की ही अपेक्षा अभिनेता को रखनी चाहिए।

नपुंसक (अथवा स्त्री-पुरुष-लक्षण धारी पात्र) गति

नपुंसक पात्रों को पुरुष पात्रों से पृथक् करके उनमें स्त्री पात्र की गति की योजना करनी चाहिए।

भूमिका परिवर्तन में पात्रों की गति

पुरुष, स्त्री तथा तपुंसक पात्र यदि अपना रूप परिवर्तित करले, तो जिस वेष को उन्होंने धारण किया है, उसी के अनुरूप उन्हें गति का प्रदर्शन करना चाहिए। पुरुष को स्त्री का तथा स्त्री को पुरुष का वेष व्याज, क्रीड़ा तथा धोखा देने के लिए धारण करना चाहिए। स्त्री को पुरुष का अभिनय करते समय धीरज, उदारता, सत्व, बुद्धि और उपयुक्त वेष वचन और कार्यों का प्रदर्शन करना चाहिए। इसी प्रकार पुरुष को स्त्री का अभिनय करते समय स्त्री के वेष तथा भाषण से युक्त किसी वस्तु को देखने तथा न देखने की क्रियाओं द्वारा कोमल तथा मंद गति का प्रदर्शन करते हुए स्त्री स्वभाव के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

नीच जाति की स्त्रियों की गति

जो नारियाँ जाति की दृष्टि से हीन हों तथा जो पुलिन्द, भील आदि नारियाँ हों, उनकी गति उनकी जाति के समान ही निर्धारित करनी चाहिए।

तापसी स्त्री की गति

जो स्त्रियाँ व्रतिनी (व्रत में या धर्माचरण में स्थित), तपस्विनी, ब्रह्मचारिणी और आकाशचारिणी हों, उनकी गति 'समपाद' चारी में नियोजित की जाए। जो अङ्गहार, चारी और मण्डल उद्धत कहे गए हैं, इनकी योजना स्त्री पात्रों के लिए नहीं की जानी चाहिए।

□□□

स्त्री तथा पुरुष पात्रों का आसन विधान

स्त्री तथा पुरुषों के लिए बैठने की विधि नाना भागों से युक्त प्रसंग के अनुकूल रखी जाए, उसी प्रकार शयन विधि भी रखी जाए।

स्वस्थ दशा में उपवेशन विधि

स्वस्थ दशा में बैठते समय दोनों पैरों को सुन्दरतापूर्वक वैशाख स्थान में फैला दे, पीठ थोड़ी तनी हुई रखे और दोनों हाथ कटि और पिण्डली पर रखे रहने चाहिए।

विचारावस्था में उपवेशन विधि

गहन चिन्तन में बैठते समय एक पैर कुछ फैलाकर रखा जाए, दूसरा पैर किसी आसन पर टिका हो और सिर एक पार्श्व में झुका हुआ हो।

शोकावस्था में उपवेशन विधि

शोक में बैठते समय पुरुष को अपने दोनों हाथों पर चिबुक रख लेना चाहिए, मस्तक भुजाओं पर टिक जाना चाहिए तथा वह मन और इन्द्रियों से खोया-खोया रहना चाहिए।

मूर्च्छा आदि में उपवेशन

मूर्छा, मद, श्रम, ग्लानि तथा विषाद की दशा में पुरुष को दोनों भुजाएं फैला कर ढीली छोड़ देनी चाहिए तथा किसी वस्तु के सहारे टिक कर बैठ जाना चाहिए।

लज्जा-रोग-निद्रा आदि में उपवेशन

व्याधि, लज्जा, निद्रा तथा ध्यान की दशा में होने पर पुरुष को अपने पैर ओर घुटनों के बीच अपने शरीर को सिकोड़कर बैठ जाना चाहिए।

धार्मिक विधि के सम्पादन में उपवेशन विधि

यदि पितरों का तर्पण, मंत्र जाप, सन्ध्या वन्दन तथा आचमन करते समय पुरुष को कूबड़ ताने हुए दोनों पैरों के गट्टों और पंजों को मिलाकर बैठना चाहिए।

प्रिया प्रसादन में उपवेशन विधि

मान करके बैठी हुई प्रिया को प्रसन्न करने तथा होम आदि धार्मिक विधि सम्पन्न करने की दशा में पुरुष को अपने फैले हुए घुटने पृथ्वी पर रख लेना चाहिए तथा अधोमुख बैठ जाना चाहिए।

देव वन्दना आदि में उपवेशन

देवों की वन्दना करने, रुष्ट स्वामी को प्रसन्न करने, तीव्र शोक में क्रन्दन करने, मृत व्यक्ति को देखने, हिंस्र जीवों को डराने, नीचों से याचना करने तथा होम और यज्ञ क्रिया में उपस्थित होने की दशा में भी पहले की तरह दोनों घुटनों को पृथ्वी पर टेकते हुए अधोमुख बैठ जाना चाहिए। मुनि जन के दैनिक नियमों में भी यही आसन विधि रखनी चाहिए।

□□□

विविध पात्रों के लिए निर्धारित आसन

नाटक में स्त्री तथा पुरुष पात्रों के लिए निर्धारित आसन विधान दो प्रकार का होता है—१. आभ्यन्तर तथा २. वाह्य । आभ्यन्तर आसन विधान राजा के लिए तथा वाह्य आसन विधान सामान्य जन के लिए सुनिश्चित है ।

पुरुष पात्रों के लिए निर्धारित आसन

नाट्य प्रदर्शन में देवों तथा राजाओं के लिए सिंहासन, पुरोहित तथा अमात्यों के लिए वेत्रासन, सेनापति तथा युवराज के लिए मुण्डासन, ब्राह्मणों के लिए काष्ठासन (चौकोरपटला) तथा राजकुमारों के लिए कुथा अर्थात् गलीचे का आसन प्रदान करना चाहिए । इस प्रकार राज सभा में आसन सम्बन्धी विधान किया जाना चाहिए ।

स्त्री पात्रों के लिए आसन

स्त्री पात्रों में पट्ट महिषी को सिंहासन; रानियों को मुण्डासन; पुरोहित तथा मंत्रियों की पत्नियों को वेत्रासन; भोगिनी (राजा द्वारा विवाहित या संरक्षित सेनापति आदि की कन्या) के लिए गलीचा, वस्त्र या चर्म का बना हुआ आसन; ब्राह्मणी तथा तापसी को पट्टासन (पटला); वैश्य तथा श्रेष्ठियजन की पत्नियों को तकिए वाला आसन दिया जाना चाहिए । शेष स्त्री पात्रों के लिए भूमि पर बैठने का विधान किया जाता है । आसन का यही नियम आभ्यन्तर और वाह्य के लिए सुनिश्चित है । सामान्य दशा में अपने घर में स्वच्छन्दतापूर्वक स्वेच्छा से कैसा भी आसन ग्रहण किया जा सकता है ।

मुनी तथा संन्यासी पात्र के लिए आसन

मुनि जन के लिए आसन अपने नियम के अनुकूल होते हैं तथा बिभिन्न मतावलम्बी संन्यासी पात्रों के आसन उनके व्रत के अनुकूल होते हैं । होम, यज्ञ तथा पितृतर्पण करते समय उन्हें वृसी, मुण्डासन या वेत्रासन का प्रयोय करना चाहिए ।

आसन का सामान्य विधान

राजा को कुलीन तथा विद्या से सम्पन्न स्थानीय पुरुषों का सत्कार उचित आसन देकर करना चाहिए । समान कोटि के व्यक्तियों को समान कोटिका, मध्यम

पात्रों को मध्यम कोटिका, श्रेष्ठ जनों को अपने से ऊँचा तथा हीन पात्रों को पृथ्वी पर आसन देना चाहिए। बुद्धिमान पुरुष को गुरु, राजा और उपाध्याय के आगे पृथ्वी पर या काष्ठासन पर बैठना चाहिए। नौका, हाथी, रथ तथा यान में अपने गुरु, उपाध्याय तथा राजा के साथ बैठने पर भी आसन दोष नहीं होता।

शयनावस्था में शरीर की स्थिति

शयनावस्था में होने वाली स्थितियाँ छः प्रकार की होती हैं—१. आकुंचित, २. सम, ३. प्रसारित, ४. विवर्तित, ५. उद्वाहित तथा ६. नत।

१. आकुंचित

'आकुंचित' दशा में दोनों घुटनों को बिछौने में रखकर सारे 'अंगों को सिकुड़ाते हुए सोना चाहिए। इसका नियोजन शीत से व्याकुल होते हुए पात्र के लिए होना चाहिए।

२. सम

'सम' दशा में मुख ऊपर की ओर, हाथ खाली ढीले और नीचे की ओर फैले हुए रखकर सोना चाहिए। इसका नियोजन सोये हुए व्यक्ति के लिए करना चाहिए।

३. प्रसारित

'प्रसारित' दशा में एक बाँह को सिरहाना बनाकर जंघाओं को फैलाकर सोना चाहिए। इसका नियोजन आनन्दपूर्वक निश्चिन्त भाव से शयन की अभिव्यक्ति के लिए होना चाहिए।

४. विवर्तित

अधोमुख दशा में सोना 'विवर्तित' कहा जाता है। इसका नियोजन शस्त्र से आहत होने, मरने, ऊपर से गिर जाने, नशे के कारण मतवाला होने तथा पागल होने की दशा में किया जाना चाहिए।

५. उद्वाहित

'उद्वाहित' दशा में सिर का कंधे पर या कलाई पर दवाब डालते हुए शयन करना चाहिए। इसका नियोजन क्रीड़ा करने तथा अपने स्वामी के साथ सम्भाषण करने की दशा में किया जाता है।

६. नत

'नत' दशा में दोनों जंघाएं थोड़ी फैलाकर तथा दोनों हाथ शिथिल रखकर शयन करना चाहिए। इसका नियोजन आलस्य, श्रम तथा थकावट की दशा का प्रदर्शन करने में करना चाहिए।

□□□

कक्ष्यापरिधि तथा लोकधर्मि निरूपण

नाट्यगृह तथा उसके प्रकारों का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ हम रंगमंच के कक्ष्या सम्बन्धी विभागों का निरूपण करेंगे।

वाद्यों की स्थापना

नेपथ्य गृह के दो द्वारों के मध्यवर्ती प्रदेश में अभिनेताओं द्वारा भाण्ड अर्थात् वाद्य वादकों को बैठाया जाए।

कक्ष्या-गत विभाग

रंगमंच की परिधि में चलने से उसके विभागों की प्रतीति हो जाती है। जब किसी पात्र को अपनी कक्ष्या परिधि बदलनी हो, तो उसे अन्य कक्ष्या में चलने के द्वारा प्रदर्शित कर देना चाहिए।

कक्ष्या विभाग की उपयोगिता

इस कक्ष्या विभाग की परिधि में गृह, नगर, उद्यान, आराम, सरिता, आश्रम, वनी, पृथ्वी, सागर, जड़-चेतन पदार्थों से युक्त त्रैलोक्य, पृथ्वी के किसी भी वर्ष, सात द्वीप, विभिन्न पर्वत, लोकालोक, पर्वत, रसातल, दैत्य और नागों के आवास स्थल, और भवन सम्मिलित हैं। नगर, वन, वर्ष अथवा पर्वत पर जहाँ भी कथावस्तु चल रही हो, वहीं की कक्ष्यापरिधि का नियोजन होना चाहिए।

रंगमंच पर सम्बन्धित प्रवेश की सूचनाएँ

रंगमंच पर ये कक्ष्या विभाग अन्दर, बाहर, मध्य, दूर तथा समीप के प्रदेशों से परस्पर जुड़े रहने चाहिए। इन कक्ष्या विभागों की परम्परा अथवा रूढ़ि के अनुसार अभ्यन्तर पात्र वे हैं, जो रंगमंच पर पहले प्रविष्ट हो चुकते हैं तथा बाह्य पात्र वे हैं, जो बाद में मंच पर प्रविष्ट होनेवाले हैं। इन पात्रों के दर्शन का इच्छुक जो पात्र रंगमंच पर प्रवेश करे, वह अपनी बात दक्षिण की ओर मुँह करते हुए कहे।

रंगमंच की पूर्व दिशा

नाट्य प्रदर्शन के नियम के अनुसार भाण्ड-वाद्य तथा नेपथ्य के द्वारों का मुँह जिस ओर रहे, उसे नित्य ही पूर्व दिशा समझना चाहिए।

रंगमंच पर प्रवेश-निर्गम-विधान

कोई व्यक्ति (अथवा पात्र) रंग मंच पर आते समय जिस मार्ग का उपयोग करे, जाते समय वह उसी मार्ग से निष्क्रमण करे अथवा बाहर निकल जाए। यदि वही पात्र किसी कार्य वश बाहर निकल जाने पर पुनः उसी गृह या स्थान पर प्रवेश करना चाहे, तो उसी द्वार से प्रवेश करे, जिससे वह बाहर गया था अथवा किसी प्रयोजनवश, जिससे कहा गया हो, उस पात्र के साथ बाहर जाता है और पुनः प्रवेश करना चाहता है, तो आवश्यकतानुसार अकेले अथवा उसी के साथ उसी प्रकार प्रवेश करे। दोनों पात्रों के प्रवेश के समय दूसरी कक्ष्या की सूचना देनी चाहिए। रंगमंच पर एक अथवा अनेक बार परिक्रमा करने से दूसरी कक्ष्या की सूचना दी जाती है।

सामूहिक प्रवेश में पात्रों के वर्ग तथा स्थान के नियम

यदि समान स्तरीय पात्र हों, तो उन्हें साथ-साथ चलना चाहिए। यदि अधम पात्र हों, तो उनसे घिरे हुए की दशा में चलना चाहिए। नृप पात्र के प्रवेश की दशा में प्रतिहारी का आगे-आगे चलना नियोजित किया जाए।

दूर, मध्यम और सन्निकृष्ट भूमि की सूचना

नाट्यमंच की यही भूमि पात्र के अधिक चलने पर सुदूर प्रदेश को, कम चलने पर मध्यम दूरी वाले प्रदेश को अथवा समीपतर प्रदेश को सूचित करती है।

दिव्य पात्रों की प्रकट तथा प्रच्छन्न दशा में गति

अभिनेताओं को अनेक प्रयोजनों वाली विविध क्रियाओं द्वारा किसी देश अथवा द्वीप में नगर, वन, पर्वत अथवा सागर में देव पुरुषों की गति आकाश, वायुयान अथवा माया के द्वारा नियोजित करनी चाहिए। नाटक में गुप्त वेश वाले देव पुरुषों की गति भूमि पर चलते हुए भी नियोजित हो सकती है, क्योंकि मानव रूप में ही उनका दर्शन हो सकता है। दिव्य तथा दिव्यादिव्य पात्रों की गति जम्बू-द्वीप आदि सभी वर्षों में—अर्थात् भारत वर्ष, हिमाचल, हरिवर्ष, इलावर्त, किन्नर देश, उत्तर कुरु आदि देशों में—स्वच्छन्द नियोजित होनी चाहिए, किन्तु मानव पात्र केवल भारत वर्ष में ही सञ्चरणशील रखने चाहिए।

दूर देश की यात्रा में प्रस्थान

यदि कोई पात्र प्रयोजनवश दूर देश को प्रस्थान करता हुआ प्रदर्शित किया जाए, तो वहीं अंक को समाप्त करके दूसरे अंक के प्रारम्भ में ही प्रवेशक द्वारा यह बात सूचित कर देनी चाहिए।

एक अंक में सम्पाद्य कार्यों का समय निर्धारण

यदि किसी कार्य में एक दिन में समाप्त होने वाली घटना हो, तो उसकी दूरी प्रदर्शित करदी जाए। किन्तु यदि उस कार्य से कोई फल पूर्ण न होता हो, तो अंक

को समाप्त कर देना चाहिए। नाट्य रचना में किसी एक अंक में रखी जाने वाली घटनाओं को बीज के प्रयोजनवश क्षण, मुहूर्त, याम अथवा दिन में विभक्त करते हुए रखी जानी चाहिए। अंक की समाप्ति पर मास अथवा वर्ष बतलाए जा सकते हैं। किन्तु एक अंक में होने वाले कार्य एक वर्ष से अधिक अवधि के नहीं होने चाहिए। इस प्रकार भारत वर्ष में अभिनय के अनुसार रंगमंच पर कक्ष्याओं का विधान किया जाना चाहिए। मनुष्यों की यही गति प्रदर्शित करनी चाहिए।

देवता, यक्ष आदि दिव्य पात्रों का आवास

हिमालय के पृष्ठ देश पर स्थित श्रेष्ठ पर्वत कैलाश पर रहने वाले यक्ष, गुह्यक, कुबेर के सेवक, राक्षस, भूत तथा पिशाच 'हेमवत' कहलाते हैं। इनका निवास, गति आदि हिमालय पर दिखाया जाना चाहिए। गन्धर्व तथा अप्सराओं का हेमकूट पर; शेष, वासुकि तथा तक्षक आदि सभी नागों का निषध में; तैंतीस कोटि देवों का सुमेरु पर्वत पर और सिद्ध तथा ब्रह्मर्षिगण का वैदूर्यमणिमय नीलपर्वत पर आवास स्वीकार किया गया है। इसी प्रकार दैत्य और दानवों का श्वेत पर्वत पर तथा पितरों का शृङ्ग पर्वत पर आवास स्वीकार किया गया है। ये ही श्रेष्ठ पर्वत देवता यक्ष आदि दिव्य पात्रों के आवास हैं। अतः कक्ष्या विभाजन करते समय इन समस्त पर्वतों को जम्बू द्वीप में ही मानना चाहिए।

देवगण के कार्य

इन पात्रों के कार्य और चेष्टाएं अपने-अपने कर्म और पराक्रम के अनुसार रखे जाएं, किन्तु उनका आचार और स्वरूप मनुष्यों के समान ही रखा जाना चाहिए। दिव्य पात्रों की सभी चेष्टाएं और भावनाएं मानवीय होनी चाहिए। दिव्य पात्रों की दृष्टि अपलक नहीं रहनी चाहिए, भले ही अपलकत्व उनकी प्रकृति ही क्यों न हो, क्योंकि अभिनय में सभी भाव दृष्टि पर निर्भर होते हैं तथा दृष्टि द्वारा व्यक्त होकर उन्हें शरीर के अंगों द्वारा अभिनीत किया जाता है।

प्रवृत्तियाँ

नाट्य-प्रयोक्ताओं ने प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की बताई हैं—१. आवन्ती, २. दाक्षिणात्या ३. पांचाली ४. मागधी। ये विश्व के नाना प्रदेशों के स्थानीय वेश, आचार, भाषा तथा कार्य व्यवहार को सूचित करती हैं, इसीलिए प्रवृत्ति कही जाती हैं। प्रवृत्ति शब्द का अर्थ प्रदर्शित सूचित या अवगत कराना है। इस विश्व में अनेकों देश हैं, किन्तु महर्षि भरत ने मनुष्यों के देश, वेश, भाषा तथा रूढ़िगत व्यवहार अलग-अलग होने के कारण तथा देशी प्रथा की भिन्न रुचियों के अनुसार चार वृत्तियों का उल्लेख किया है—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। अतः इन्हीं के अनुसार नाट्याभिनय के लिए इन प्रवृत्तियों के भी चार ही प्रकार रखे हैं।

१. आवन्ती प्रवृत्ति

इस प्रवृत्ति को ग्रहण करने की रुचि अवन्ती, विदिशा, सौराष्ट्र, मालवा, सिन्धु, सौवीर, आर्वुदेय, दाशार्ण, त्रिपुर तथा मृत्तिकावत प्रदेशों में पाई जाती हैं। इन प्रदेशों में सात्विकी तथा कैशिकी वृत्ति से मिश्रित नाट्याभिनय करना चाहिए, अन्यत्र नहीं।

२. दाक्षिणात्या प्रवृत्ति

दक्षिण प्रदेश के मनुष्य अनेक नृत्त या नृत्य गीत, वाद्य से युक्त तथा कैशिकी वृत्ति से सम्पन्न मधुर और ललित आङ्गिक अभिनय देखने की रुचि रखते हैं। महेन्द्र, मलय, सह्य, मेकल तथा कालमञ्जर या कालपञ्जर पर्वतों वाला प्रदेश 'दक्षिणापथ' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त कोसल, तोसल, कलिङ्ग, यवन, खस, द्रमिड, आन्ध्र, महाराष्ट्र, वेण्णा, वानवासिक आदि विन्ध्याचल और दक्षिण समुद्र के बीच वाले समस्त प्रदेश दाक्षिणात्या प्रवृत्ति की योजना पसन्द करते हैं।

३. पांचाली प्रवृत्ति

पांचाल, शौरसेन, काश्मीर, हस्तिनापुर, वाह्लीक, शाकल (शल्यक या शाल्व), मद्र, उशीनर तथा गंगा नदी के उत्तर में हिमालय के नीचे स्थित प्रदेश हिमाचल आदि पाञ्चाली अथवा पाञ्चाल मध्यमा प्रवृत्ति को ग्रहण करते हैं। इसमें सात्वती तथा आरभटी वृत्ति का प्राधान्य रहता है। इसके प्रयोग में गीत की स्वल्पता, असामान्य गति तथा पद संचालन की अधिकता रखी जाती है।

४. मागधी प्रवृत्ति

पूर्वी प्रदेशों में अर्थात् अंग, वंग, कलिंग, वत्स, उड् (औढ्), मगध, पुण्ड्र, नेपाल, अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि, प्लवंगम, मलदा, मल्लवर्तक, ब्रह्मोत्तर, भार्गव, मार्गव, प्राग्ज्योतिष, पुलिन्द, विदेह, ताम्रलिप्त आदि प्रदेशों में मागधी अथवा औढ्मागधी प्रवृत्ति अपनाई जाती है। पौराणिक पूर्वी प्रदेशों में भी इसी प्रवृत्ति का प्रयोग होता है। इस प्रवृत्ति में भारती तथा कैशिकी वृत्तियाँ प्रधान रहती हैं।

प्रवृत्ति के अवेक्षण में दो क्रियाऐं

इन प्रवृत्तियों के अनुसार रंगमंच पर चलने की क्रियाऐं दो प्रकार से सम्पन्न की जाती हैं—१. दाहिने पार्श्व से २. बायें पार्श्व से। आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति में रंगमंच पर दाहिनी ओर से प्रवेश करके तथा पाञ्चाली और औढ् मागधी प्रवृत्ति में बायीं ओर से प्रवेश करके चलना चाहिए। आवन्ती तथा दाक्षिणात्या प्रवृत्ति में उत्तर दिशा के पार्श्वद्वार से और पाञ्चाली तथा औढ्मागधी में दक्षिण दिशा के पार्श्व द्वार से प्रवेश करने की योजना रखनी चाहिए। किन्तु किसी विशेष सभा, स्थान, कार्य तथा प्रयोजन अथवा अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति को देखते हुए इन नियमों को एकत्र या सम्मिलित भी किया जा सकता है।

नाट्य प्रयोक्ताओं को चाहिए कि जिस देश में जिस प्रवृत्ति का व्यवहार हो, वहाँ उसी प्रवृत्ति का नियोजन करे।

ये नियम नाटक आदि में सम्मिलित रूप में रखकर संक्षिप्त कर लेने चाहिए तथा प्रवृत्तियों की अधिकता को देखते हुए आवश्यक तथा महत्वपूर्ण कुछ कार्यों का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ प्रवृत्ति समूह में से एक की प्रधानता हो और जिन शेष में से किसी अन्य की प्रधानता हो, वहाँ विद्वान को उसकी पूर्ति यथावत् करनी चाहिए।

नाट्य रचना के दो सामान्य प्रकार

नाट्य व्यवहार के अनुसार नाट्य प्रयोग साधारणतः दो प्रकार का माना गया है—१. सुकुमार तथा २. आविद्ध।

१. सुकुमार नाट्य-प्रयोग

नाटक, प्रकरण, वीथी तथा अंक को सुकुमार नाट्य-प्रयोग माना गया है। इसका अभिनय केवल पुरुष पात्रों के आश्रित रहता है।

२. आविद्ध नाट्य प्रयोग

आविद्ध नाट्य प्रयोग में अङ्गहारों के साथ छेदन, भेदन तथा युद्ध अथवा युद्ध के लिए चुनौती देने का अभिनय होता है। इसमें माया तथा इन्द्रजाल की बहुलता रहती है तथा मुख रचना (नेपथ्य) का सुन्दर विधान रहता है। इसमें पुरुष पात्रों की अधिकता तथा स्त्री पात्रों की न्यूनता रहती है। अधिकांशतः सात्वती और आरभटी वृत्ति का प्रदर्शन किया जाता है।

कुशल अभिनेताओं द्वारा डिम, समवकार, व्यायोग तथा ईहामृग नामक रूपकप्रकारों को आविद्ध नाट्य प्रकार कहा जाता है। इसका प्रयोग देव, दानव, राक्षस तथा शौर्य, वीर्य और वल से युक्त उद्धत स्वभाव के पुरुषों द्वारा किया जाता है।

प्रेक्षागृह

यदि नाट्य प्रदर्शन स्थायी प्रेक्षागृह के अभाव में खुले स्थान पर हो रहा हो, तो उस प्रेक्षागृह का मुख स्वामी की इच्छा से किसी विदिशा (ईशान्य आदि कोणों) की ओर भी किया जा सकता है। अभिनेता अपना अभिनय वाद्यों की ओर पीठ करके कभी नहीं करता, अतः वाद्यों की ओर मुख किए हुए नट के मुख की ओर ही पूर्व दिशा मान लेनी चाहिए।

यद्यपि प्रेक्षागृह के द्वार दिशा तथा उनके भागों के अनुसार छः कहे गए हैं, परन्तु नाट्य प्रयोग के समय पात्रों का प्रवेश केवल पूर्व या पश्चिम द्वार से ही होना

चाहिए। स्वामी आदि की आज्ञा से विधान के प्रतिकूल ईशान्य आदि विदिशा की ओर भी रंगमंच का द्वार हो सकता है। मृदंग आदि वाद्यों का मुख जिस ओर रखा गया हो, उसको भी पूर्व द्वार स्वीकार कर लेना चाहिए। नाट्याभिनय में वय के अनुरूप वेश, वेश के अनुरूप गतिसञ्चार, गतिसञ्चार के अनुरूप सम्वाद तथा सम्वाद के अनुरूप अभिनय का नियोजन होना चाहिए।

लोकधर्मी तथा नाट्यधर्मी (रूपक)

महर्षि भरत ने उद्देश्य कथन के अवसर पर धर्मी दो प्रकार के कहे थे। उनके लक्षण इस प्रकार हैं।

१. लोकधर्मी

यदि कोई रूपक स्वाभाविक भावों को व्यक्त करता हो, बाह्य दिखावट से रहित अर्थात् अकृत्रिम (अविकृत) हो, मानवीय आचार तथा कार्य-व्यापारों से युक्त हो, आंगिक प्रदर्शन से रहित हो, स्वाभाविक अभिनय से युक्त हो और अनेक स्त्री तथा पुरुष पात्रों से युक्त हो, वह 'लोकधर्मी' नाट्य प्रकार कहलाता है।

२. नाट्यधर्मी

जिसमें वाक्यावली, क्रियाएँ, प्राणि वर्ग (पुरुष या दिव्य पात्र) तथा भाव सम्पत्ति सर्वथा असामान्य या अस्वाभाविक हो, जिसमें मनोहर चेष्टाओं से युक्त अङ्गहारों तथा लक्षणों के युक्त अभिनय प्रदर्शित किया जाए, काव्य रचना और संगीत में स्वर तथा अलंकारों की सुन्दर योजना हो तथा जिसमें अदिव्य पुरुषों का आश्रय लिया गया हो, तो उसे 'नाट्यधर्मी' नाट्य प्रकार समझना चाहिए। जिसमें लोक प्रसिद्ध विषय वस्तु का मूर्तरूप में उसी कौशल से कथोपकथन सहित अभिनय किया जाए, उसे भी नाट्य धर्मी समझना चाहिए। अभिनय के समय समीप से कहे गए वचन भी न सुने जाएँ और अनकहे वचनों को भी सुनते हुए उत्तर दिया जाए, वह भी नाट्यधर्मी ही समझा जाए। पर्वत, वाहन, विमान, ढाल, कवच, शस्त्र, ध्वज आदि का जिसमें साकार प्रयोग किया जाए, वह भी नाट्यधर्मी होता है। जहाँ एक अभिनेता एक भूमिका का निर्वाह करके दूसरी भूमिका अपना कर उसे भी कुशलता पूर्वक सम्पन्न कर दे, वहाँ भी नाट्य धर्मी प्रकार ही होता है। जब कोई अभिनेत्री पहले अगम्या स्त्री की भूमिका अपनाने के बाद गम्या स्त्री (नायिका या प्रेयसी) की भूमिका अपनाले अथवा गम्या स्त्री की भूमिका के साथ अगम्या स्त्री की भी भूमिका सम्पन्न करे, तो वहाँ भी नाट्यधर्मी प्रकार होता है। अङ्गों के ललित संचालन के साथ पैरों से ऊँचे डग भरते हुए नृत्य अथवा गमन किया जाए, तो वहाँ भी नाट्यधर्मी प्रकार कहा गया है। जब लोक का सुख-दुखात्मक क्रियाओं से युक्त स्वभाव अभिनेताओं द्वारा आंगिक अभिनय के साथ प्रदर्शित किया जाता है, तब भी उसे नाट्य धर्मी कहा जाता है।

ब्रह्मा द्वारा कथित, इतिहास तथा वेदों के अर्थ से युक्त तथा देवता और मनुष्यों के मनोरंजन का साधन जो नाट्यवेद रचा गया है, वह भी नाट्य धर्मी कहा गया है। रंगमंच तथा उसकी कक्ष्याओं का जो विधि पूर्वक विभाजन कहा गया है, वह भी 'नाट्य धर्मी' नाट्य प्रकार का उदाहरण है।

सदैव नाट्य धर्मी के द्वारा प्रवृत्त नाट्याभिनय का प्रदर्शन करना चाहिए, क्योंकि आंगिक अभिनय के प्रदर्शन से शून्य अभिनय दर्शकों के चित्त को रमा नहीं सकता। जब मनुष्यों के सभी स्वाभाविक भाव आंगिक अभिनय, अलङ्कार तथा चेष्टाओं से युक्त रहते हुए यथावांछा प्रदर्शित किए जाते हैं, वे भी नाट्य धर्मी ही कहे जाते हैं।

नाट्यप्रयोक्ता अथवा अभिनेताओं को इन कक्ष्या विभाग, धर्मी तथा प्रवृत्तियों के विषय में सब कुछ ठीक प्रकार समझ लेना चाहिए और उसे प्रयत्न पूर्वक यथावत् प्रदर्शित करना चाहिए।

□□□

पिण्डी बन्ध या पिण्ड बन्ध

जब नृत्य में अनेक व्यक्तियों द्वारा किसी आकृति विशेष का निर्माण किया जाता है, तो उसे पिण्डी बन्ध या पिण्ड बन्ध कहते हैं। इसमें भिन्न-भिन्न करण और अङ्गहारों का प्रयोग समाहित रहता है।

भरत ने पिण्डी या पिण्ड बन्ध के चार प्रकार बताये हैं—पिण्डी, शृङ्खलिका, बन्ध (लता बन्ध) और भेद्यक। अभिनव गुप्त के अनुसार 'पिण्ड बन्ध' आधार, अंग, प्रयोग तथा साधकगत विभिन्नता के कारण अनेक प्रकार के हो सकते हैं। पिण्डी बन्ध के द्वारा नर्तकों या नर्तकियों का परस्पर मिलन, शृङ्खलायुक्त होना और अलग हो जाना जैसी क्रियायें सम्पादित की जाती हैं। पिण्डी का उद्भव दो प्रकार से होता है—वाद्ययंत्र के द्वारा और भ्रमासन अर्थात् पैरों से ताल देने की स्थिति में।

नाट्यशास्त्र में विभिन्न देवगण और देवियों के नाम पर रखे गए कुछ पिण्डीबन्ध इस प्रकार बताए हैं—ईश्वर की पिण्डी का नाम 'ईश्वरी'; नन्दी की 'पट्टसी'; चण्डिका की 'सिंहवाहिनी'; विष्णु की 'तार्क्ष्य'; ब्रह्मा की 'पद्म'; शक्र की 'ऐरावती'; कामदेव की 'झष'; स्कन्द की 'शिखी'; श्री की 'रूप'; जाह्नवी की 'धारा'; यम की 'पाश'; वरुण की 'नदी'; कुबेर की 'याक्षी'; बलराम की 'हली'; भोगियों की 'सर्प'; गणों की 'दक्षयज्ञविमर्दिनी'; तथा शिव की 'रौद्री'।

अन्य देवी-देवताओं से सम्बन्धित पिण्डियाँ भी उनके अपने चिह्नों से चिह्नित उनके चिह्नों को प्रदर्शित करने वाली एवं तदनुरूप नाम वाली होनी चाहिए।

□ □ □

प्राचीन काल के नृत्य

भरतनाट्यशास्त्र, संगीतदर्पण, संगीतरत्नाकर, नृत्यरत्नकोष आदि अनेक ग्रन्थों में प्राचीन काल के नृत्य वर्णित हैं। कथक नृत्य के समकक्ष जो नृत्य पहले प्रचलित थे, उनमें से कुछ का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

शब्द नृत्य

नर्तक द्रुत गति से नृत्य करे। शरीर के अङ्गों द्वारा स्वर, नेत्रों द्वारा भाव, पैरों द्वारा ताल व लय और शब्द के अक्षरों को प्रदर्शित करे। शब्द और स्वरों का उच्चारण करे। चतुरस्र बनाकर एक हाथ को शिखर मुद्रा में कर ले, फिर एक हाथ नाभि पर रख ले और दूसरा उरु पर रखे, फिर दूसरे हाथ से पताका मुद्रा बना ले। इसके बाद सम पर आकर सुन्दर मुद्रा बना ले। अब एक पैर को आगे की ओर सूची मुद्रा में कर ले और दूसरे पैर को पीछे ले जाकर अञ्चित कर ले। हाथों को पैरों के समान चलाए। अब एक पैर से व्यावर्त्त करे और दूसरे पैर को पीछे ले जाए। हाथों की शिखर मुद्रा बनाकर उन्हें नाभि तथा उससे कुछ ऊपर ले जाए। यह शब्द-नृत्य दो प्रकार का होता है, एक अक्षर-प्रधान, दूसरा स्वर-प्रधान।

चमत्कार नृत्य

जहाँ दोनों हाथ मिले हुए हों तथा अक्षरों की प्रधानता हो, गारुगि नाम की ताल हो और चारों ओर नृत्य किया जाए, उसे चमत्कार नृत्य कहते हैं।

गीत नृत्य

गीत और ताल के अनुसार आदि वर्ण दिखाते हुए नर्तक सुन्दरता से नृत्य करे। जिस-जिस गीत पर नृत्य करे, उस नृत्य का नाम गीत के नाम पर ही रख दे। स्थायी आदि वर्णों को अंगों से और भावों को उपांगों से, पदवाक्य से उत्पन्न ताल-ग्रहों को हाथों एवं सम को पैरों द्वारा प्रदर्शित करे।

कट्टरी नृत्य

उडुक वाद्य का वादन होते हुए नान्दी रंग में प्रवेश करे और आँचल को पकड़कर नृत्य का अभिनय करे। लास्य-अंग-युक्त शब्दों से, आलाप से एवं अंगों से

साक्षात् रागमूर्ति का प्रदर्शन करते हुए नान्दी अभिनय करे। रागमूर्ति जैसा विविध लास्य-लीला से मनोहर विविध नृत्य करे, तत्पश्चात् बीच-बीच में 'पिल्लमुरू' नृत्य करे। इसके बाद हाव-भावों द्वारा लय, ताल के अनुसार कोमल अंगों द्वारा नर्तन करे। इसके पश्चात् वाद्याक्षरों से निर्मित द्रुत गति द्वारा नृत्य करे। फिर पिल्लमुरू पदी से विधिपूर्वक नृत्य करे, फिर शब्दाक्षरों द्वारा वीणा, मृदंग आदि के साथ यथोचित नृत्य करे। कहीं-कहीं पदों की एक-एक आवृत्ति भी होती रहे। आलाप, धरू, सूलूप, स्वर, पट्टी तथा पद सहित नृत्य 'कट्टरी नृत्य' कहलाता है। इसके दूसरे नाम बंधना, मल्लिकामोद, अद्रो और तुडुक भी कहे गए हैं।

बन्ध नृत्य

इसमें स्त्रियों की प्रधानता होती है। जहाँ दो से पाँच तक रमणीय पात्र परस्पर सटकर हाथों से हाथ और पैरों से पैर मिलाकर करणों का प्रयोग करते हुए नृत्य करें, उसे 'बन्ध नृत्य' कहते हैं।

कल्प नृत्य

किसी करण या इच्छित स्थान का आश्रय लेकर न्यास-विधि करे। बहुधा गीत और नृत्य में कल्प और ताल की प्रधानता मानी गई है, क्योंकि इनके बिना नृत्य सर्वांग सुन्दर प्रतीत नहीं होता। कल्प का अभिप्राय उस शब्द से है, जो आदि से अन्त तक पद को रंजक करता रहता है; जैसे 'हे रामा' आदि। इनके अतिरिक्त ध्रुव नृत्य, विनोद नृत्य, कम्बुज नृत्य, नामावली नृत्य, गोण्डली नृत्य, पेरणी नृत्य, जक्करी नृत्य, चिन्दु नृत्य, मण्ठ नृत्य, रूपक नृत्य, सालगसूड नृत्य, स्वरमंठ नृत्य, रास नृत्य तथा लाग नृत्य आदि अनेक प्राचीन नृत्य ऐसे हैं, जो कथक नृत्य के बहुत निकट हैं।

□ □ □

रास नृत्य

जिस प्रकार 'ताण्डव' भगवान् शंकर की तामसिक प्रवृत्तियों का प्रतीक है, उसी प्रकार 'रास' भगवान् कृष्ण की श्रृंगार-प्रधान भावनाओं का द्योतक है। 'नाट्य-शास्त्र' में महर्षि भरत ने रास के तीन भेद बताए हैं—'ताल-रासक', 'दण्ड-रासक' और 'मण्डल-रासक', जिसे 'ताली रासक' भी कहते हैं।

हल्लीसक, रास और रासक एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। अभिनव गुप्त ने 'नाट्य-शास्त्र' की टीका में रासक तथा हल्लीसक का वर्णन करते हुए कहा है, कि मंडल के द्वारा जो नृत्य सम्पन्न हो, उसे 'हल्लीसक' कहते हैं। उसमें एक नेता होना चाहिए, जिस प्रकार कि गोपियों में भगवान् हरि। इसमें अनेक राग, ताल तथा विभिन्न प्रकार की लयों का समावेश होता है। चौसठ युगल अर्थात् एक-एक स्त्री-पुरुष की चौंसठ जोड़ियाँ इसमें हो सकती हैं। यही वर्णन भोज ने 'श्रृंगार-प्रकाश' में किया है। 'नाट्य-दर्पण' में कहा गया है, कि हल्लीसक में सोलह या बारह नायिकाएँ नृत्य करें तथा हाथों को बाँधकर ठीक प्रकार रखें। लास्य के भाव-भेद से इसके अनेक भेद हो जाते हैं, जो कि नियम-रहित होने के कारण परिवर्तित होते रहते हैं।

कालांतर में 'मंडल-रासक' अधिक लोकप्रिय हुआ, जो मंच पर अभिनीत होता था और उसमें लोक-नृत्य की प्रधानता रहती थी। गुजरात में यह परम्परा आज भी विद्यमान है। मध्य गुजरात के घोल-निवासी जिनदत्त सूरि (१२-वीं शताब्दी) ने पुरुषों द्वारा छड़ियों से किए जानेवाले 'लकुट-रास' का उल्लेख किया है। 'रासक' की रूप-रेखा का वर्णन करते हुए लक्ष्मण (११४३ ई०) कहता है, कि यह एक गीत है, जिसमें ताल की मंद और उत्ताल गति का समावेश रहता है। सप्त-क्षेत्री-रास (संवत् १३२७) में 'ताल-रास' और 'लकुट-रास', दोनों का उल्लेख मिलता है। 'ताल-रास' भाटों में प्रचलित था और 'लकुट-रास' नर्तकों ने प्रयुक्त किया। कवि बाण ने रास के वर्णन में बताया है, कि यह नृत्य ८, १२ अथवा ३२ स्त्रियों द्वारा किया जाता है। राज शेखर (नवीं शताब्दी) 'दंड-रासक' के बारे में कहते हैं, कि यह नृत्य डाँडियों के बजाए जाने पर अद्भुत ध्वनि के आधार पर परिचालित होता है।

बाघ गुफाओं तथा चिदम्बरम् के मन्दिर में सात स्त्रियों द्वारा प्रस्तुत 'दंड-रासक' के भित्त-चित्र प्राप्त हुए हैं। १५-वीं शताब्दी की कतिपय वैष्णव-पांडुलिपियों में 'लकुट' और 'दंड-रासक' के चित्र मिले हैं। १७-वीं शताब्दी में भानुदास ने 'गर्वी' नामक एक विशेष प्रकार के नृत्य का उल्लेख किया है, जो 'ताली-रासक' का रूप है। यह नृत्य पुरुषों द्वारा तालियाँ बजा-बजाकर तथा 'शक्ति' की आराधना के गीत गा-गाकर किया जाता है।

दक्षिण में 'शिल्पाद्दिकारम्' (दूसरी शताब्दी) और 'मणिनेखैल' के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी प्रेयसी 'नाप्पिनै' और उनके भाई बलराम ने सात गोपियों के साथ हाथ में हाथ डालकर 'कुरावईक्कुतु' नृत्य किया। इस नृत्य को अति प्राचीन माना जाता है और वेदों में इसका उल्लेख मिलता है। वेदोत्तर संस्कृत-साहित्य में इस नृत्य को 'लाट-रासक' की संज्ञा दी गई है, यह 'लकुट-रासक' का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। वात्स्यायन ने 'नाट्य-रासक' का उल्लेख किया है।

'रास' और 'हल्लीसक' के सम्बन्ध में श्री मच्छुक देव ने 'टीका सिद्धांत-प्रदीप' में कहा है, कि अनेक नर्तकियों वाला 'रास-नृत्य' ही किसी युग में 'हल्लीसक' के नाम से प्रसिद्ध था। श्रीमज्जीव गोस्वामी की 'वैष्णवतोषिणी' टीका में कहा गया है, कि रास-महोत्सव पारस्परिक सुख के लिए ही कृष्ण ने आरम्भ किया। कुम्भ ने 'रास' और 'रासक' के अलग-अलग लक्षण बताए हैं। रास के विषय में उसने कहा है, कि स्वर, पाट, बन्ध, पद, तेन, विरुद, चित्र और मिश्र, ये आठ करण इसमें होते हैं। उद्ग्राह, गमक और सान्द्र स्वर से आवद्ध आभोग और गात्र स्वामी (गात्र उपाधि वाले पुरुष) सहित यह रास होता है। रासक में 'आसारित' नाम का नृत्य किया जाता है, जिसमें चारी, मंडल, लास्य के सम्पूर्ण अंग तथा देशी ताल का समावेश रहता है।

'संगीत-नारायण' में नाट्य-भेद के ऊपर कोहल का मत उद्धृत किया गया है, जिसमें कोहल ने दत्तिल के मत का उल्लेख करते हुए नाट्य के सट्टक, त्रोटक, गोष्ठि, वृन्दक, पर, शिल्पक, प्रेक्षण, उल्लापक, हल्लीश, रासिका, उल्लापि, अंक, श्रीगदित, नाट्य-रासक, दुर्मल्ली, प्रस्थान तथा काव्यलासिका, यह सोलह देशी रूप बताए हैं तथा डोम्बिका, भाण, भाणिका, प्रस्थानक, लासिका, रासिका, दुर्मल्लिका, विदग्ध, शिल्पिनी, हस्तिनी, भिन्नकी और तुम्बकी, ये बारह नृत्य के प्रकार बताए हैं। अलङ्कार-शास्त्र में इन सबके लक्षणों का उल्लेख किया गया है।

आंध्र के महाराजा वेम (सन् १४०० ई०) ने रास का वर्णन करते हुए कहा है, कि लास्य के समाम चारी करते हुए नर्तकियाँ एक-एक पैर की दूरी पर स्थित होकर जोड़ी से स्थान परिवर्तित करती हुई रंग में प्रवेश करें। गायक ऋतु के अनुकूल राग गा रहे हों। 'सूड ताल' में निबद्ध द्विपदी आदि प्रबन्धों को गाया जा रहा हो, वाद्य भी प्रस्तुत हों, उस समय खण्ड मण्डल लास्य अङ्ग तथा चारी के योग से मनोहर नर्तन

किया जाए, जोकि अनेक बंध तथा सुन्दर गीत और अभिनय आदि से युक्त हो। इसमें प्रवेश, निष्क्राम प्रसार, विसन्धि हों तथा वाद्य और ताल के अनुसार हाथ को तालियों द्वारा विभिन्न लयों का समावेश करते हुए सुन्दर नर्तन हो।

शारदातनय के अनुसार रास में १६, १२ अथवा ८ नायक होने चाहिए, जो आपस में हाथों को बाँधकर नृत्य करें। पिंडों से पिंडी बनाएँ और इनके गुम्फन से शृङ्खला बनाएँ, तत्पश्चात् भेदन से भेद करें। पिण्ड आदि की क्रियाएँ छन्द या वाक्य की समाप्ति पर होती हैं, क्योंकि पद के मध्य में अथवा वाच्यार्थ-सहित इनका व्यवस्थित प्रदर्शन सम्भव नहीं। वसंत को देखकर प्रफुल्लित चित्त से आनन्दमग्न स्त्रियाँ जब राजाओं-जैसी चेष्टाएँ करती हुई नृत्य करती हैं, तो उसे 'नाट्य-रास' कहा जाता है।

वर्णताल-सहित चारी और सम आदि का ज्ञान रखने वाली स्त्रियों के जोड़े रंग में प्रवेश करते हैं, तो उसे 'चर्चरी' या 'चर्चरी-रास' कहते हैं। चर्चरी को 'चच्चरी' या 'चर्चरिका' भी कहते हैं। प्राचीन साहित्य 'चर्चरी' के अनेक अर्थ मिलते हैं, यथा—केशों का अलग करना तथा हाथ के द्वारा एक प्रकार का शब्द (चुटकी), गीत का एक भेद, ताल का एक भेद, वर्ण छंद, एक प्रकार का ढोल, आमोद-प्रमोद, गायन-बादन, अंग-भंगी, नाटक में एक पर्दा गिरने के बाद और दूसरा उठने से पूर्व गाया जाने वाला गीत, चापलूसी, घुंघराले बाल, दो व्यक्तियों का बारी-बारी से कविता पाठ करना, चाचर, चच्चरी ताल, चर्चरिका ताल, एक राग विशेष। वेम ने 'चर्चरी-नृत्य' और 'चर्चरी' की अलग-अलग व्याख्या की है। 'तित्ति गिध' बोलों से युक्त ताल द्वारा रास-नृत्य किया जाए अथवा चर्चरी ताल के अनुसार चार आवर्तन में नर्तन हो, तो उसे 'चर्चरी-नृत्य' कहते हैं। जहाँ रासक्रम के अनुसार नर्तकी प्रविष्ट हो, वर्णताल के अनुसार वाद्य बज रहा हो, युगल रूप में चर्चरी को बार-बार गाती हुई अथवा शृंगार-वर्णनयुक्त द्विपदी को गाती हुई 'लासिकाएँ' नर्तन करें, तो उसे केवल 'चर्चरी' कहते हैं।

कुम्भ के अनुसार दो पदों—वर्णताल (वाद्य) तथा 'चर्चरी' से युक्त अथवा मनोहर लास्य-सहित गति-भेदों द्वारा जहाँ नारियाँ वसन्तोत्सव में रस, राग और लय के भेदों का ध्यान रखकर मंडलाकार नृत्य करें, उसे 'चर्चरी-नृत्य' कहते हैं। चर्चरी-नृत्य की क्रियाओं को कई-कई बार दोहराया जाता है और अधिक-से-अधिक इसमें २४ युगल तक का विधान है। इसमें बाएँ-दाएँ अंगों के सञ्चालन से परिष्कृत वर्णन के अन्त में दो 'आलीढ़' के युक्त द्रुत ताल को 'छोटका' के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है।

'आलीढ़' के तीन भेद होते हैं; यथा—स्थान, अंगहार तथा मंडल। वर्तमान रास में इसका कुछ रूप पाया जाता है। दाक्षिणात्य 'भरतनाट्यम्' में आलीढ़ का काफी प्रयोग किया जाता है। इसके अंगहार करने में आठ कर्णों का प्रयोग किया

जाता है। व्यंसित निकुट्ट और नूपुर करण बाएँ पैर से और अलातक, आक्षिप्त, उरोमंडल, करिहस्त तथा कटिच्छिन्न करण, क्रम से दाएँ पैर द्वारा प्रदर्शित किए जाते हैं। आलीढ़ स्थान में दाएँ पंजे पर बैठकर बाएँ पैर को सामने फैला दिया जाता है और सीधे पैर से ताल के पाँच आघात किए जाते हैं। आलीढ़ मंडल में बाएँ हाथ से शिखिर-हस्त और दाएँ हाथ से कटकामुखहस्त मुद्राएँ बनाकर दाएँ पैर से तीन बालिश्त आगे बायाँ पैर रखा जाता है तथा चुटकी द्वारा द्रुत ताल का प्रदर्शन किया जाता है। इसके पश्चात् अंगों का परस्पर संचार तथा हाथ से ताली देते हुए नृत्य के द्वारा तीन अथवा चार खण्ड किए जाते हैं, तत्पश्चात् परिक्रमा करके पात्र अलग हो जाते हैं और फिर पुनः प्रवेश करते हैं। यह सब एक ही काल में होता है। इन क्रियाओं के पश्चात् ताल में पुष्पाञ्जलि का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें एक-एक युगल के पार्श्व में से पात्र प्रवेश करते जाते हैं। पणव वाद्य पर रथ्या ताल का प्रयोग किया जाता है, फिर नायिका 'शुष्क गीत' गाती है।

उत्तर-भारत के कुमाऊँ प्रदेश में चर्चरी नृत्य आज भी सुरक्षित है, जहाँ इसे 'चाँचरी' कहकर पुकारा जाता है। कुमाऊँ की धरती के किसी भी उत्सव में 'चाँचरी' देखा जा सकता है। अन्य लोक-नृत्यों की अपेक्षा यह 'वृत्त-नृत्त' वहाँ सर्वाधिक लोकप्रिय है और इसे 'झोड़ा' कहकर भी पुकारा जाता है। नर्तक-नर्तकियों की इसमें कोई सीमा नहीं, इसी कारण किसी-किसी अवसर पर डेढ़सौ स्त्री-पुरुष तक इसमें दिखाई पड़ जाते हैं। भोले पर्वतीयजन सामूहिक रूप में अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए जब नृत्यमय हो जाते हैं, तो देखते ही बनता है। 'हुड़का' वाद्य पर थाप पड़ते ही कुमाऊँ का बच्चा-बच्चा 'चाँचरी' के लिए पागल हो उठता है। बसन्त हो या शिशिर, उत्सव हो या त्यौहार, इस नृत्य को किसी की अपेक्षा नहीं, सब-कुछ इसके अनुकूल हो जाता है, ऐसा नशा है इस 'चाँचरी' में। इसका नायक हुड़का पर पहली तान छेड़ता है और सब उसका अनुसरण करते हैं, परन्तु नायक में एक और विशेषता होती है और वह है उसका आशुकवि होना। उन्मत्त भावनाओं द्वारा नए-नए छन्दों का सृजन आनन-फानन होता है। दो पंक्तियों का तुक मिलाने के लिए 'जोड़' मिलाए जाते हैं।

एक ओर अर्ध-मण्डलाकर नारियाँ और दूसरी ओर पुरुष वर्ग चाँचरी में होता है। एक-दूसरे की पिंडियाँ आपस में बँधी होती हैं और फिर बाली-जावा के सुकुमार लास्य नृत्यों-जैसी गति में 'पादविन्यास' तथा 'सरण-क्रिया' होती रहती है। थके हुए प्रतिनिधि इच्छानुसार हट जाते हैं और प्रतीक्षा में खड़े अन्य नर्तक उस स्थात को ग्रहण कर लेते हैं। चाँदनी थक जाती है, लेकिन चाँचरी चलता रहता है, घेरे पर घेरे बनते चले जाते हैं। मध्यप्रदेश के आदिवासियों का 'करमा-नृत्य' और 'जोड़ी-नृत्य' भी चाँचरी के ही समकक्ष होते हैं।

'रास-नृत्य' के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न रूपक भी होते हैं। शुभङ्कर ने 'रास नृत्त' रूपक को सूत्रधार से रहित एकांकी बताया है, जिसमें उत्कृष्ट नान्दी (स्तुति) के पश्चात् कैशिकी और भारती वृत्ति का समावेश होता है। मुख्य नायक के अतिरिक्त पाँच पात्र, भाषा, विभाषा वीथी तथा तीन संधियों से मंडित होने चाहिए। गर्भ और अवमर्ष संधियों का इसमें अभाव रहता है तथा विदूषक का उपदेश इसमें क्रोध उत्पन्न करने वाला होता है। उदात्त भाव-सहित यह उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है।

शार्ङ्गदेव ने रास-ताल के आश्रय से प्रयुक्त किए जाने वाले रासक के चार भेद—विनोद, वरद, नन्द और कम्बुज बताए हैं।[1] गांधर्व वेद में कम्बुज-रासक गायन के लिए 'राज-विनोद' ताल का उल्लेख किया है, जिसमें २ गुरु होते हैं और १ प्लुत होता है।[2]

ललित-कला-अकादमी के सौजन्य से उपलब्ध १८-वीं शताब्दी के तिरंगे रासमण्डल-चित्र की रेखानुकृति।

१. रासको रास तालेन स चतुर्धा निरूपितः।
विनोदो वरदो नंदः कम्बुजश्चेति शार्ङ्गिणा॥ —संगीतरत्नाकर, अ० सं० ३१८
२. राज विनोदे ताले स्याद्गुरुद्वयमथप्लुतः।
रासक कंबुजस्तेन गीयते गीतकोविदैः॥ —गान्धर्व वेद

तमिल के कुछ प्राचीन ग्रंथों में श्री कृष्ण द्वारा प्रस्तुत कुछ नृत्यों के नाम मिलते हैं। 'शिल्पादिकारम्' ग्रंथ में 'अल्लियाम्' तथा 'कुरवई' नृत्यों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें भगवान् कृष्ण ने अपनी बाल्यावस्था में किया था।

मणिपुर में रास-लीलाओं के चार प्रकार—वसंत-रास, कुंज-रास, महारास और नित्य-रास प्रचलित हैं। वसंत-रास वैशाख मास में किया जाता है। जिसमें राधा के समक्ष कृष्ण का आत्म-समर्पण होता है। कुंज-रास आश्विन मास में होता है, जिसमें राधा और कृष्ण के संयोग-श्रृङ्गार-नृत्य के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। महारास कार्तिक मास में होता है, जिसमें कृष्ण और राधिका का विरह-नाट्य-नर्तन होता हैं। नित्य-रास विरह और मिलन की लीलाओं का अद्वितीय प्रदर्शन है, जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों का चरमोत्कर्ष भी दर्शकों को प्राप्त होता है। इस नृत्य के लिए समय का कोई बन्धन नहीं। मणिपुर के अन्य नृत्य भी रास की वृत्ताकार शैली पर ही आधारित होते हैं। समस्त नृत्यों में पाद-विक्षेप लास्य-गति पर निर्भर होता है। भ्रू-सञ्चालन, हस्त-मुद्राएँ तथा अंगहार—सभी कुछ लास्यमय रहता है। ब्रज का रास भी लास्य का द्योतक है। स्थान-स्थान पर ताण्डव का प्रयोग रास के लास्याङ्ग की वृद्धि उसी प्रकार करता है; जैसे किसी राग में विवादी स्वर का प्रयोग उसके रूप को और भी आकर्षक बनाता है।

अजन्ता के एक भित्ति-चित्र में वेदकालीन 'चलित' नृत्य, जिसका प्रभाव मुगलकालीन नृत्त पर वेश-भूषा-सहित पड़ा

शार्ङ्गदेव ने लास्य के दस अंग बताए हैं। चाली, चालिवड, लढि, सूक, उरोंगण, धसक, अंगहार, ओचारक, विहसी और मन। नन्दिकेश्वर के अनुसार लास्य छुरित और यौवत केवल दो प्रकार का है। छुरित शब्द स्फुरित शब्द का अपभ्रंश है। यौवत में एक ही नर्तकी मधुर आबद्ध-लीला द्वारा दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देती है और स्फुरित में नायक-नायिका परस्पर शृङ्गार-रस का संचार करते हुए लास्य के विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों का प्रदर्शन करते हैं।

राजस्थान का डंडिया नृत्य, घूमर या झूमर, गुजरात का गोफा और गरवा, छतीसगढ़ का डंडा नृत्य, सिक्किम का शाप-दोह नृत्य, बंगाल का यात्रा, कश्मीर का हिरक, हिमाचल प्रदेश का मलका, मणिपुर का लाईहरोबा, आन्ध्र का कौलाटम्—ये सभी नृत्य रास के अंश-मात्र हैं। कुंडली नृत्य, तिरिप-नृत्य, मण्डि भ्रमरी, चित्र कुण्डली, सूड, डोम्बी, श्री गदित, भाण, भांगी आदि रास के उपनृत्य विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखते हैं।

भारतीय गुलामों द्वारा अरब में रास के एक प्रकार 'रूमाल-नृत्य' को सत्रहवीं शताब्दी में प्रचार में लाया गया। पाश्चात्य जगत् के वृत्त-नृत्यों में 'पोल्का-नृत्य' का उल्लेख मिलता है, जिसके वहाँ विविध रूप प्रचलित हैं। उत्तरी स्पेन में 'पोलो-नृत्य' प्रसिद्ध है, जिस पर स्पेन के इतिहासकारों के अनुसार पूर्वीय प्रभाव है। उनका कहना है कि 'पोलो' में प्रयुक्त पैरों की मुद्राएं उनकी अपनी हैं और शारीरिक मुद्राओं पर पूर्वीय प्रभाव है। भारत के मणिपुर प्रदेश में 'दी डांस इन इण्डिया' के लेखक फौबियन बोवर्स के मतानुसार पोलो और रास, दोनों का प्रचार एक ही समय में हुआ। हमारी धारणा के अनुसार स्वीडन के 'पोलसका नृत्य', बोहेमिया के 'पोल्का' और पोलेण्ड के 'पोलोनैस' नृत्य की उत्पत्ति पोलो नृत्य से ही हुई है। यूगोस्लाविया के 'लिजो', 'कोलो' और 'चाचक' नृत्य ब्रज के रास और चर्चरी के अत्यन्त निकट हैं।

मैक्सीकन भारतीयों के नृत्यों में रास के पर्याप्त तत्त्व आज भी सुरक्षित हैं। ग्रीस का 'सर्किल डांस' (गोलाकार नृत्य) और अमेरिका का 'स्क्वायर डांस (वर्गाकार नृत्य) ब्रज के रास से अभिन्न प्रतीत होते हैं। वर्गाकार नृत्य में एक बार में पाँचसौ युगल तक भाग लेते हैं। एक नायक होता है, जो वाद्य-यन्त्रों के समीप खड़ा होकर लय और धुन का सञ्चालन करता है तथा युगल-वृन्दों को विभिन्न गतियों के लिए निर्देश देता है।

वर्तमान अनेक नृत्य-शैलियों का प्रादुर्भाव 'रास' से ही हुआ है। कथक नृत्य भी रास का एक अंग-मात्र है, किन्तु आज इसका स्वरूप भिन्न होने से अब इसे स्वतन्त्र रूप से शास्त्रीय आधार पर विकसित करना होगा।

□□□

ताण्डव और लास्य

नाट्यशास्त्र के अनुसार भगवान शिव ने रेचक, अंगहार और पिण्डी बन्धों का सृजन करने के बाद इनका ज्ञान तण्डु मुनि को प्रदान कर दिया। तण्डु ने गायन-वादन के आधार पर जिस नृत्त प्रयोग का सृजन किया, वह ताण्डव के नाम से विख्यात हुआ। तण्डु के द्वारा उद्भावित होने के कारण उसकी प्रसिद्धि ताण्डव नाम से हुई। भगवान शंकर ने तण्डु से कहा, कि ताण्डव का प्रयोग गीतों से सम्बद्ध करके ही किया जाना चाहिए। प्रायः ताण्डव नृत्त देवताओं की वन्दना के लिए ही किया जाता है, परन्तु उसमें श्रृङ्गार रस को उत्पन्न करने वाले सुकुमार भावों का प्रयोग भी किया जा सकता है।

उद्धत भावों से युक्त नृत्त 'ताण्डव' कहलाता है और सुकुमार भावों से संयुक्त नृत्त 'लास्य' कहलाता है। इसमें नायक तथा नायिका के वीरोचित एवं श्रृङ्गार रस से सम्बन्धित गीत, वाद्य और नृत्त का प्रयोग किया जाता है। महर्षि भरत ने कहा है, कि महेश्वर शिव के द्वारा निर्मित 'ताण्डव' का प्रयोग करने वाला सभी पापों से रहित होकर शिवलोक प्राप्त करता है। नाट्यशास्त्र में मूल कलाओं के रूप में नाट्य तथा नृत्त पर ही विचार किया गया है, जिनके मिश्रण से बाद में नृत्य का विकास हुआ। इसीलिए जिस नर्त्तन में या संगीतात्मक अभिनय में कोई भावाभिव्यक्ति नहीं होती, उसे परवर्ती आचार्यों ने 'नृत्त' कहा और भावाभिव्यक्ति से पूर्ण अङ्गसञ्चालन को 'नृत्य' नाम से अभिहित किया। एक प्रकार से नाट्य और नृत्य से ही नृत्य का विकास हुआ है। नाट्यशास्त्र में केवल नाट्य और नृत्त इन दो कलाओं का ही विश्लेषण किया गया है।

ताण्डव

ताण्डव में उद्धत करण और अंगहारों का प्रयोग किया जाता है, जिसके साथ गीत और वाद्य का अनुकूल सम्मिश्रण रहता है। भाव प्रकाश के अनुसार ताण्डव का विवरण इस प्रकार है—

१. उच्चण्ड

इसमें वेग तथा शक्तिपूर्ण करण, अङ्गहार, आकाशचारी और भ्रमरियों का प्रयोग किया जाता है तथा रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों को उद्दीप्त किया जाता है ।

२. चण्ड

इसमें धीमी गति से नृत्त करते हुए भूमिचारी, करण और अङ्गहारों का प्रयोग किया जाता है और वीर तथा रौद्र रसों को उद्दीप्त किया जाता है ।

३. प्रचण्ड

इसमें वेग पूर्वक उछलने वाले करण, भ्रमरियों का प्रयोग करते हुए रौद्र तथा बीभत्स रस को उद्दीप्त किया जाता है ।

४. प्रापण

यह देसी ताण्डव का प्रकार है ।

५. प्रेरण

यह भी देसी ताण्डव का प्रकार है ।

संगीत दामोदर के रचयिता के अनुसार नृत्य सदैव देसी होता है और ताण्डव पुरुषों द्वारा किया जाने वाला नृत्य है, जिसके दो विभाग होते हैं—

१. पेरणि

इसमें विभिन्न मुद्राओं तथा गतियों का प्रयोग तो होता है, लेकिन उसमें अभिनय प्रयुक्त नहीं होता । शार्ङ्गदेव ने संगीत रत्नाकार में पेरणि की चर्चा करते हुए कहा है, कि इसमें शरीर के ऊपर श्वेत भस्म (सफेद पाउडर) लगाया जाता है; नर्तक का सिर चोटी को छोड़कर मुड़ा रहता है; पैरों में पिंडलियों तक चमकदार सुरीले घुंघरू (घर्घरिका) रहते हैं; नर्तक पाँचों अंगों (घर्घर, विषम, भावाश्रय, कविचारक और गीत) में निपुण होता है; और लय और ताल में दक्ष तथा श्रोताओं को प्रभावित करने में कुशल होता है । इसके बाद शार्ङ्गदेव ने पेरणि पद्धति का विस्तार से वर्णन किया है ।

२. बहुरूप

इसका उल्लेख वरुण ने किया है । इसके प्रकारों में इतनी विविधता है, कि इसकी तुलना उस हार से की गई है, जिसके मोती बिखर गए हों ।

संगीत-रत्नाकर में ताण्डव और लास्य नृत्यों के तीन-तीन भेद बताए गए हैं— १. विषम (भालों, छुरिओं और वाणों के मध्य रस्सियों द्वारा परिभ्रमण करना); २. विकट (रंग-बिरंगी विकृत वेश-भूषा के साथ नृत्य करना) और ३. लघु (अल्प) साधनों के अवलम्बन द्वारा उछल-कूद करते हुए नृत्य करना) ।

भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है, कि नृत्त के सुकुमार प्रयोग को लास्य कहने का कारण है इसका सुशोभित या दीप्त रूप वाला रहना। यह स्त्री तथा पुरुष के पारस्परिक आकर्षक का आश्रय होता है और भाण के समान यह एक पात्र के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तथा इसका कोई भी उपयुक्त विषय रखा जा सकता है। इसकी विषय वस्तु किसी एक या अनेक अर्थों को लेकर रखी जाती है, जो उसके विभिन्न प्रकारों से सम्बद्ध रहती है। लास्याङ्ग के दस अंग होते हैं, जिनके नाम हैं—१. गेय पद, २. स्थित पाठ्य, ३. आसीन, ४. पुष्पगण्डिका, ५. प्रच्छेदक, ६. त्रिमूढक, ७. सैन्धवक, ८. द्विमूढ़, ९. उत्तमोत्तमक और १०. विचित्र पद।

इन सभी लास्याङ्गों को प्रस्तुत करने के लिए मंचपूजा, देवस्तुति एवं वाद्यों की व्यवस्था तथा गान और वादन के तत्सम्बन्धी नियोजन को बताया गया है, जो आजकल प्रचार में नहीं है। लास्य में होने वाली विच्छिन्नता या क्रमभङ्ग को उसकी विपरीत गति के कारण सञ्चार कहते हैं। समस्त नाट्य प्रयोग ताल पर आधारित होता है और वाद्य-वादन पर भी वह लागू रहता है, क्योंकि काल से युक्त ताल उचित मापन को प्रदान करता है और गीतों के वर्ण में होने वाला असन्तुलन भी ताल के द्वारा ही सन्तुलित किया जाता है, अतः भरत ने कहा है, कि नाट्य प्रयोक्ताओं को ताल का नियम ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। ताल से ही पाठ्य और गीतों के प्रकार का पता लगता है। ताल का व्यवस्थित ज्ञान न रखने पर कोई भी न तो गायक बन सकता है और न वाद्य-वादक।

आचार्य शार्ङ्गदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' ग्रन्थ में जिन दस प्रकार के देसी लास्याङ्गों को बताया है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. चालि, २. चालिबड, ३. लढि, ४. सूक, ५. उरोङ्गण, ६. धसक, ७. अङ्गहार, ८. ओयारक, ९. विहसी और १०. मन।

इनमें 'चालि' के अन्तर्गत पैर, जंघा, नितम्ब और हस्तों का क्रमानुसार कोमल और आकर्षक सञ्चालन किया जाता है। ताल मध्य लय की रहती है। 'चालिवड' में शीघ्रता के साथ सीधा अंग सञ्चालन किया जाता है। 'लढ़ि' में बाँह और कटि का क्रमशः आकर्षक सञ्चालन किया जाता है। 'सूक' में सुन्दर हाव-भावों से युक्त तालमय सञ्चालन किया जाता है, जिसमें नारीसुलभ कोमलता रहती है और कानों के आभूषण चमकते रहते हैं। 'उरोङ्गण' में स्तन तथा कन्धों की धीमी या त्वरित सौन्दर्यपूर्ण गति रहती है। 'धसक' में स्तनों का तालयुक्त ललित झुकाव रहता है। 'अङ्गहार' में आधी काया का धनुष के समान सुन्दर तालयुक्त झुकाव रहता है। 'ओयारक' में सिर की संक्षिप्त तथा नीचे की ओर तिरछी गति रहती है। 'विहसी' में शृङ्गार रस से युक्त मन्द मुस्कान रहती है। 'मन' में गीत से सम्बन्धित तालबद्ध स्थान रहता है।

भाव प्रकाश के अनुसार लास्य में सुकोमल करण और अङ्गहारों का समावेश रहता है। इन्होंने लास्य के चार प्रकार बताए हैं—१. शृङ्खला (दस अङ्गों से युक्त) २. लता (तीन अङ्गों से युक्त), ३. पिण्डी (ताण्डव युक्त), ४. भेद्यक (दस अङ्गों से युक्त)।

कुछ अन्य विद्वानों ने लास्य के जिन भेदों की चर्चा की है, उनके नाम इस प्रकार हैं—गुल्म, शृङ्खलिता, लताबन्ध, भेद्यक, छुरित, यौवत इत्यादि।

इस प्रकार ताण्डव और लास्य के प्रकारों को जानकर सुविज्ञ नर्तक या नर्तकी रौद्र तथा शृङ्गार रस से सम्बन्धित किसी भी उपयुक्त कथा में इनका प्रयोग कर सकते हैं। यहाँ 'शिव ताण्डव' स्तोत्र और 'पार्वती लास्यम्' नामक दो काव्य प्रकाशित किए जा रहे हैं, जिससे सुयोग्य नर्तक रंगमंच पर उनका प्रयोग कर सकें। 'शिव ताण्डव स्तोत्र' भगवान शिव के ताण्डव नृत्य-स्वरूप को प्रदर्शित करने वाली प्राचीन कृति है, जिसकी रचना लोकचर्चा के अनुसार लङ्कापति विद्वान् एवं शिव भक्त रावण ने की थी। 'पार्वती लास्यम्' वर्तमान काल के प्रकाण्ड पण्डित स्व० आचार्य कैलाशचन्द्र देव 'बृहस्पति' (जन्म सन् १९१८ ई०) की रचना है, जिसमें पार्वती का गुणकीर्तन नृत्य के लास्य स्वरूप को प्रकट करते हुए मोहक शब्दावली और 'शिव ताण्डव' स्तोत्र की छन्द शैली में प्रस्तुत किया गया है। इनके अभिनय तथा सङ्गीत की योजना नर्तकों के द्वारा इच्छानुसार की जा सकती है।

ताण्डव के प्रकार

नृत्य के आदि प्रवर्तक के रूप में भगवान शंकर की सम्पूर्ण जगत में प्रतिष्ठा है। वे समस्त नर्तकों के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए उन्हें नटराज कहा जाता है। सम्पूर्ण पशुओं के देव हैं, इसलिए उन्हें पशुपति कहा जाता है। सम्पूर्ण सृष्टि शिव की नृत्य भूमि है, इसलिए उन्हें नृत्यमूर्ति कहते हैं।

शिव का नृत्य सृष्टि, स्थिति और लय का प्रतीक है। उसी में अनुग्रह (मुक्ति) और तिरोभाव भी सम्मिलित हैं। शिव अनादि और अनन्त हैं, इसलिए समस्त देवता और समस्त सृष्टि उसमें समाहित हैं। शिव ही ब्रह्मा के रूप में सृष्टिकर्ता हैं, विष्णु के रूप में पालनकर्ता हैं और महेश के रूप में संहारकर्ता हैं। शिव की जटाओं में स्थित गङ्गा चित् शक्ति है, जो स्वर्ग से पृथ्वीलोक तक अबाध गति में प्रवहमान है और जीवन के आन्तरिक प्रवाह का प्रतीक है। शिव के डमरू से १४ सूत्रों का उद्भव हुआ है, जिससे समस्त साहित्य की सृष्टि हुई है। अग्नि ज्ञान का प्रतीक है, कमल के जिस पुष्प पर शिव खड़े हैं, वह जीव का हृदय है। जिन राक्षसी वृत्तियों का संहार वे करते हैं, वे हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार, माया तथा राग-द्वेष। शिव का उठा हुआ पैर जीवात्मा की मुक्ति का प्रतीक है। उनके चारों ओर अग्नि की ज्वालाएँ अनेकत्व से एकत्व की ओर गतिशील हैं। उनके चतुर्दिक विराजमान वृत्त पवित्र ओंकार की अभिव्यक्ति करता है। प्रतिमा को आधार भूमि पर

षट्कोणात्मक श्रीचक्र तिरोभाव का प्रतीक है। सीधे और बायें कान के छल्ले पुरुष और नारी के प्रतीक हैं, जो नर-नारी के एकत्व को प्रदर्शित करते हैं। शिखर का अर्द्धचन्द्र धर्म और ज्ञान का प्रतीक है। हाथों और गर्दन पर लिपटे सर्प पाप के क्षय का प्रतीक हैं।

नटराज की प्रतिमा आजतक उपर्युक्त प्रतीकों का सन्देश प्रदान कर रही हैं। शिव की नृत्यमय आकृति जीव को कर्म के बन्धनों से मुक्त करके माया का आवरण हटाते हुए मनुष्य को सत्यं शिवं सुन्दरम् की ओर प्रेरित करते हुए आनन्द की ओर ले जाती है। उनका डमरू बजाता हुआ हस्त सृष्टिकर्ता है, अभयहस्त रक्षा करता है, अग्निहस्त संहार का प्रतीक है। उनका उठा हुआ बायाँ पैर बन्धनों से छुड़ाता है तथा अनुग्रह (अथवा मुक्ति) का प्रतीक है। पृथ्वी पर स्थित सीधा पैर अन्धकार का या आसुरी शक्ति का शमन करता है। इसे शिव का अन्तरिक्ष ताण्डव या नदन्त या आनन्द ताण्डव कहते हैं। अगस्त्य से भरत सूत्र में १०८ प्रकार के ताण्डवों का उल्लेख किया है।

नन्दिकेश्वर ने शिव (नटराज) के ताण्डव के सात प्रमुख भेद बताए हैं, जो इस प्रकार हैं—

सान्ध्य ताण्डव

कहा जाता है, कि प्राचीनकाल में हिमाच्छादित कैलाश पर त्रिलोकमाता पार्वती स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान थीं। सृष्टि, प्रकाश और अन्धकार के बीच घूल रही थी। माता पार्वती ने शूलपाणि (शिव) से इस अवसर पर नृत्य करने का अनुरोध किया, तब सरस्वती ने वीणा-वादन किया, इन्द्र ने वंशी-वादन किया, ब्रह्मा ने ताल दी, रमा भगवती ने गायन किया तथा विष्णु ने मृदङ्ग बजाया। अन्य सभी देव चारों ओर एकत्र होकर ईश्वर को स्तुति में निमग्न हो गए। इस प्रकार भगवान शिव ने नृत्य किया। उत्कीर्ण अभिलेख कहते हैं—'यह नृत्य आप सबकी रक्षा करे।' यह सृष्टि की उत्पत्ति का नृत्य था और अभी तक विश्व में किसी आसुरी शक्ति का जन्म नहीं हुआ था।

आनन्द ताण्डव

अपने भक्तों एवं अनुचरों की रक्षा के लिए भगवान शिव ने आनन्द ताण्डव किया था। दक्षिण भारत के चिदम्बरम् मन्दिर में स्थित नटराज की प्रतिमा इसी भाव का प्रतिनिधित्व करती है, प्रतिमा चतुर्भुजी है जिसके दो हाथों में डमरू और अग्नि है तथा शेष दो हाथों में से सीधा हाथ अभयहस्त मुद्रा में है तथा बायाँ हाथ दण्डहस्त मुद्रा में है, जो अनुग्रह का प्रतीक हैं। बायाँ पैर कुञ्चित मुद्रा में स्थित है और सीधा पैर मुक्ति के लिए लालायित जीवात्मा पर प्रहाररत है। इसे 'सदा ताण्डव' भी कहते हैं।

इस नृत्य के दार्शनिक विश्लेषण के अनुसार चिदम्बरम् प्रत्येक मनुष्य का हृदय है, जहाँ नटराज भगवान शिव की प्रतिच्छाया आसुरी प्रवृत्तियों से लड़ते हुए

माया का उच्छेद करने तथा जीवात्मा को मुक्त करने में निरन्तर प्रयत्नशील है।

काली या शक्ति ताण्डव

काली शिव की शक्ति है, जिसे शिव से अलग नहीं किया जा सकता है। शंकराचार्य कहते हैं—शक्ति से सम्बन्ध होकर ही शिव में सृष्टि रचना की क्षमता उत्पन्न होती है और बिना उसके शिव मात्र शव रह जाते हैं। फिर मुझ जैसा व्यक्ति उस शक्ति के बिना आपके सामने नतमस्तक होकर स्तुति कैसे कर सकता है।

त्रिपुर (या त्रिपुट) ताण्डव

तारक राक्षस के तारकाक्ष, कमलाक्ष तथा विद्युन्मालि नाम के तीन पुत्रों का बध करने के पश्चात् भगवान शिव ने जो नृत्य किया, वह त्रिपुर (त्रिपुट) ताण्डव कहलाया। इन राक्षसों की पत्नियाँ बहुत शुद्ध हृदय वाली थीं; जिन्होंने प्रार्थना की थी, कि उनके पतियों की कभी मृत्यु न हो। बुद्धावतार के रूप में विष्णु ने उनको समझाया था, कि ये तीनों राक्षस इस विश्व में पैशाचिक प्रवृत्तियों के मूल स्रोत थे, अत: उनकी रक्षा की कामना न करें। इसके बाद राक्षसों का वध करने में पृथ्वी शिव का रथ थी, मेरु पर्वत उनका धनुष था, सूर्य और चन्द्र रथ के चक्र थे, आदि शेष उनके धनुष की प्रत्यञ्चा थे, विष्णु बाण थे, चारों वेद अश्व थे और ब्रह्मा मानो सारथी थे। इस प्रकार शिव ने इस त्रिलोकी (पृथ्वी, आकाश और पाताल) को पापों से मुक्त किया।

सती-शिव-ताण्डव

इस नृत्य में शिव और शक्ति ने मिलकर ताण्डव किया था, जो पुरुष और प्रकृति के मिलन का प्रतीक है। इसमें नृत्त का उद्धत और सुकोमल अर्थात् ताण्डव और लास्य समाहित है।

अर्द्धनारी ताण्डव

यह ताण्डव ईश्वर और प्रकृति की एकता के प्रतीक शिव के आधे अङ्ग में समायी हुई पार्वती द्वारा किया गया था। इसीलिए इसे अर्द्धनारी ताण्डव कहा गया है।

संहार ताण्डव

कहा जाता है, कि पार्वती ने स्वयं को जलाकर राख कर दिया, तब शिव ने क्रोध में आकर यह उद्धत नृत्य किया, जिसके कारण पृथ्वी, आकाश और पाताल सहित सभी देव काँपने लगे। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर ही शिव अपने सामान्य स्वरूप में स्थित हुए।

ताण्डव और लास्य के कारण 'संहार ताण्डव' समस्त नर्तकों को सदैव प्रेरणा देता रहा है। जो मूल तत्त्व के दोहरे व्यक्तित्व का द्योतक है। भरत ने शिव के

प्रलय ताण्डव का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पर्वतों की धूल बन गयी और पृथ्वी सागर में समाहित हो गयी, जो उत्पत्ति और नाश का प्रतीक है।

अन्य किवदन्ती के अनुसार गज-संहार ताण्डव की चर्चा प्राप्त होती है। हाथी के मस्तक वाला गजासुर नामक राक्षस शिव का परम भक्त था। उसने अपनी तपस्या के द्वारा शिव को अपने हृदय में धारण कर लिया। अतः कैलाश शिखर सूना हो गया तथा देवों में भय व्याप्त हो गया। इसके बाद पार्वती, नन्दी, ब्रह्मा और विष्णु छद्म वेश धारण कर गजासुर के पास गए और एक अन्य नाट्य आयोजित किया, जिसके पुरस्कार स्वरूप उन्होंने माँग रखी, कि शिव जी कैलाश पर लौटा दिए जाएँ। जब गजासुर को आभास हुआ, कि ये सब कौन हैं, तो उसने झुककर नन्दी को प्रणाम किया, तभी नन्दी ने अपने पंजों से पकड़ कर उसे चीर दिया और शिव गजाजिन अर्थात् हस्तिचर्म लपेट कर कैलाश चले आए।

जब तक शिव ताण्डव करते हैं और सृष्टि के आदि नर्तक कहलाते हैं, तब तक पार्वती शक्ति के रूप मे ईश्वरीय प्रकृति को जीवन्त बनाए रखती है, इसीलिए उन्हें त्रिपुरसुन्दरी अर्थात् तीनों लोकों में सर्वाधिक सुन्दरी कहा जाता है। ईश्वरीय भक्ति के द्वारा लास्य प्रतिपादित होता है, जो ताण्डव का विपयर्य हैं। शिव जब हिमालय पर समाधिस्थ होकर बैठ गए। तब हिमालय की कन्या ने उनके दर्शन किए। उसी समय कामदेव ने अपने पाँच बाणों को शिव पर छोड़ा। शिव ने अपना तीसरा नेत्र खोलकर कामदेव को भस्म कर दिया, ताकि वह अङ्गहीन होकर पृथ्वी पर विचरण करता रहे। परन्तु पार्वती ने अपने आत्मिक बल को शिव योग से सम्मिलित करके साहस बनाए रखा और तपोलीन रही आयीं। वे गहन जंगल में रहीं, बर्फ से जमे गंगाजल की शीत लहरों को झेलती रहीं, भूख-प्यास की चिन्ता न करते हुए 'ॐ नमः शिवाय' का जप करते हुए वर्षों तक स्थिर रहकर तप में रत रहीं। इस प्रकार वे अपने आराध्य शिव के साथ एकरूप हो सकीं।

भगवान शिव ने उन्हें नृत्त की शिक्षा दी, जिसे उन्होंने पृथ्वी पर आकर राजा वाण की कन्या ऊषा को सिखाया। बाद ऊषा ने इसी नृत्य को सौराष्ट्र (गुजरात) की नारियों को सिखाया। तभी से शिव और पार्वती सभी नर्तकों के प्रेरणा-स्रोत हैं तथा पुरुष (पूर्णनर) और प्रकृति (पूर्णनारी) के प्रतीक हैं।

लास्य के प्रकार

पार्वती के द्वारा प्रयुक्त नृत्त का सुकुमार प्रयोग लास्य कहलाया। लास्य में शृङ्गार प्रधान अभिव्यक्ति वाले करण तथा अङ्गहारों का प्रयोग होता है। लास्य का प्रयोग अप्सराओं ने किया। 'भाव प्रकाश' के अनुसार लास्य के चार प्रकार बताए गए हैं—यथा १. शृङ्खला, २. लता, ३. पिण्डी और ४. भेद्यक।

शृङ्खला
इसमें दस प्रकार के लास्य अङ्गों का प्रयोग किया जाता हैं, जिनके नाम हैं—गेय पद, स्थित पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिगूढ़क, सैन्धवक, द्विगूढ़क, उत्तमोत्तमक, और उक्तप्रयुक्त। इनका प्रयोग शृङ्खलाबद्ध रूप में द्रुत कला (लय) से युक्त होकर किया जाता है। दशरूपककार ने भाण प्रहसन के अन्तर्गत इनकी चर्चा की है।

लता
इसमें तीन प्रकार के रासकों का प्रयोग किया जाता हैं—दण्ड, मण्डल और नाट्य रासक। इसे लताबन्ध भी कहते हैं। युगल नर्तकों द्वारा इसका प्रयोग मध्यलय में किया जाता है।

पिण्डी
लास्य के इस प्रकार के अनेक भेद हो जाते हैं। नर्तक समूह (प्रायः चार) द्वारा इसका प्रयोग विलम्बित लय में किया जाता है। पिण्डी को कुछ ग्रन्थकारों ने गुल्म नाम से अभिहित किया है।

भेद्यक
इसमें लास्य के दस अङ्गों का प्रयोग किया जाता है, जिनका उल्लेख नाट्य शास्त्र में किया गया है। इसमें नर्तक एक समूह का निर्माण करते हैं और प्रत्येक नर्तक द्रुत लय में अपना-अपना अभिनय प्रस्तुत करते हैं। भावप्रकाश में इसे भाण की संज्ञा भी दी है और उसके भी दस लास्य अङ्ग बताए हैं। पिण्डी बन्धों की योजना ईश्वर की प्रसन्नता के लिए की जाती है, अतः प्रत्येक पिण्डी का नाम देव अथवा देवी के नाम पर होता है। भाव प्रकाश के अनुसार लास्य के अन्य चार प्रकार भी बताए गए हैं, जिन्हें नृत्य भेद कहा गया है।

नृत्त की सुकोमल और शृङ्गारपूर्ण अभिव्यक्ति आगे चलकर नृत्य कहलायी और उसे देसी लास्य के नाम से जाना गया। देसी लास्य के दो भेद किए गए—क्षुरित और यौवत। नाट्याभिनय के बीच में नायक द्वारा नायिका के प्रति की जाने वाली शृङ्गारपूर्ण तथा कामोत्तेजक चेष्टाएं क्षुरित कहलाती हैं। यौवत में अत्यन्त कोमल और ललित भावभङ्गिमाओं का प्रदर्शन किया जाता है। मुख्य देसी लास्याङ्गों के नाम इस प्रकार हैं—चाली, चालिभेद, उरुङ्गण, धसक, नटी, तुकम, रेखा और द्योतित।

लास्य में कैशिकी वृत्ति तथा गीति का प्रयोग करते हुए ललित लय युक्त ललित अङ्गहार प्रदर्शित किए जाते हैं। भरतार्णव ग्रन्थ में प्रेरणी प्रेङ्खणी, कुण्डली, दण्डिक तथा कलश-लास्य के भेद बताए गए हैं। भाव की दृष्टि से इसके अनेक भेद किए गए हैं, जैसे—रुच्या, गुण्डली (शुद्ध चित्र एवं मित्र) इत्यादि। भरत के

अनुसार लास्य स्त्री तथा पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का आश्रय होता है और भाण के समान यह एक पात्र के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, जिसका कोई भी उपयुक्त विषय रखा जा सकता है। दस लास्याङ्गों का विवरण भरत के अनुसार नीचे दिया जा रहा है।

गेयपद

जब वाद्यों को अपने स्थान पर क्रम से रख दिया जाए, यवनिका हटा दी जाए, ब्रह्मा को यथाविधि पुष्पाञ्जलि दे दी जाए, वाद्यवादक अपने निर्दिष्ट आसन पर बैठ जाएँ, मृदंगों की मार्जन विधि तथा त्रिसाम का गान हो चुके, तो पहले त्रिवेणु वादन के साथ शुष्क-आसारित प्रस्तुत करना चाहिए और तब मार्गसारित की निर्धारित ताल में आसारित प्रस्तुत करना चाहिए। तदुपरान्त त्र्यस्रताल में द्विकल उपोहन को तथा तीन परिवर्त क्रमशः किया जाए। यह पूर्वरंग के अङ्गों से सम्बद्ध विधान है। परिवृत्ति के साथ इसका परिधानक प्रस्तुत किया जाए। परिवर्त के समय पहले पुरुष पात्र एक वाक्य का उच्चारण करता है। तीन वाक्यों का संकलन पुरुष तथा चार वाक्यों का संकलन अङ्गना पुकारा जाता है। यह निर्वहण में परिधान के प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

लास्य का यही प्रथम अङ्ग है, जो 'गेयपद' कहा जाता है।

स्थितपाठ्य

इसमें एक या दो वृत्तों को पञ्चपाणि ताल में गाना चाहिए और दो खञ्जक दो कला के चञ्चत्पुट ताल में प्रस्तुत किए जाने चाहिए। यह ताल यथाक्षर स्वरूप की होनी चाहिए, जिसमें आठ सन्निपात रखे जावें और समाप्ति द्विकल चञ्चत्पुट में द्रुतलय में होनी चाहिए।

आसीनपाठ्य

त्र्यस्र ताल को लेकर आसीनपाठ्य को उचित रूप में प्रस्तुत किया जाए, जिसमें एक गीत सम और लम्बे पादों वाला हो तथा सभी पौरुष भावों को व्यक्त किया गया हो। इस प्रकार आसीनपाठ्य को चार पादों वाले गीत में रखा जावे, जिसमें एक पञ्चपाणि ताल में गाए गए गीत के भावों की अभिव्यक्ति हुई हो। आसीनपाठ्य में आठ सन्निपात और तालों से युक्त शीर्षक का प्रयोग होना चाहिए। इसका यथाक्षर पञ्चपाणि ताल में विधिवत् प्रयोग होना चाहिए। द्वितीय परिवर्त में आठवाँ सन्निपात पूर्ण होने पर चतुरस्र (युग्म) ताल में एक श्लोक का गान किया जाए। आसीनपाठ्य में जो वाद्यवादन किया जाए, उसमें ही इस अंग में होने वाली आङ्गिक हलचलों के द्वारा समता होनी चाहिए। इसके उपरान्त अठारह या बारह पदों का गान किया जाए और उत्तर ताल में निर्वहण सम्पन्न कर दिया जाय।

लास्य का यही 'आसीनपाठ्य' नामक अङ्ग है।

पुष्पगण्डिका

यह अङ्ग विभिन्न प्रकार के छन्दों से युक्त होता है, जिसमें गीत तथा वाद्य-वादन एक के बाद दूसरा वैकल्पिक रूप से रखा जाता है। गीत के प्रत्येक पाद के गायन के समय यथायोग्य अङ्गहारों का प्रयोग और वाद्य वादन किया जाता है। यहाँ एक पुरुष पात्र एक गीत का गायन समवृत्त छन्द में करता है। इस गायन के समय प्रत्येक पाद में इच्छानुसार उपयोगी नृत्त तथा चार सन्निपातों से युक्त चञ्चत्पुट ताल वाद्य वादन के साथ रखा जाता है। तदुपरान्त खंजनत्कुटक जाति के छन्दों में दो गीत गाए जाते हैं। उनकी समाप्ति पर पंचपाणि ताल में शीर्षक का प्रयोग किया जाता है। इसमें होने वाले नृत्य को आविद्ध चारी के साथ उद्धत अङ्गहारों के द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए।

प्रच्छेदक

जो तीन अंगों तथा दो धातुओं से निर्मित हो, और जिसका विषय किसी नायिका के द्वारा नायक के मुख की शोभा का चाँदनी रात में अवलोकन करते हुए हर्ष विभोर होना हो या किसी मन्दिर या दर्पण में नायक की छवि का अवलोकन करना हो, वह प्रच्छेदक नामक अङ्ग कहलाता है। इस अङ्ग में नृत्य की प्रमुखता, क्रीड़ा की पूर्णता और हेला आदि विविध भावभङ्गियों की योजना रखी जाती है। इसकी क्रीड़ा में चञ्चत्पुट ताल में समपाद मात्रिक छन्द में आठ सन्निपात वाला एक गीत रखा जाना चाहिए अथवा तोटक छन्द में एक गीत हो, जिसमें अनेक वर्णों और अर्थों का समावेश हो तथा जो पञ्चपाणि ताल के द्विकल, एककल या एक दूसरे से मिश्र किसी एक प्रकार का हो। इसका शीर्षक प्रायः गुरुवर्णों वाला होता है और त्र्यस्र ताल के यथाक्षर प्रकार में आठ सन्निपातों को रखकर प्रस्तुत किया जाता है। इसमें प्रयुक्त गीत कैशिकी जाति से सम्बद्ध होते हैं और उनमें विवध या एकक का मिश्रण होता है। लास्य का यह अङ्ग प्रच्छेदक कहलाता है।

त्रिमूढ़क

इस अङ्ग में कोमल वर्ण तथा स्नेहपूर्ण पदावली होती है। इसे गान्धारी जाति में तथा द्विकल चञ्चत्पुटक ताल में रखा जाता है। इसमें चौसठ सन्निपात रखे जाते हैं, जो उपयुक्त मार्ग के साथ कलाओं को उचित संख्या में रखते हुए तथा विदारियों और विवध को संयुक्त करते हुए रखते जाते हैं। उसमें कोई अङ्गहार या विष्कम्भक नहीं होता। इसमें वाद्य वादन के साथ पौरुष भावों के संवादों के अभिनव मात्र का निर्वाह किया जाता है। इस विधान के अन्त में नत्कुटक और खञ्जक का प्रयोग किया जाता है। अनेक रसों से युक्त इस अङ्ग का नाम त्रिमूढ़क है।

सैन्धवक

जिसमें अङ्गहारों की अत्यन्त स्पष्टता न हो, रेचकों का अतिशत प्रयोग न हो, जो सैन्धवी भाषा हो और जिसका स्वरूप वाद्य वादन के साथ उद्यत छन्द में प्रस्तुत

हुआ हो, उसे सैन्धवक नामक अङ्ग समझना चाहिए। इसमें कोई पाठ्य या संवाद नहीं होता। इसमें वाद्य वादन वितस्त और आलप्ति मार्ग से पूर्ण रहता है। इसमें गुरु अक्षरों की बहुलता वाली गीत रचना रहती है, जो कोमल अंगहारों के प्रदर्शनों से युक्त होती है।

इस सैन्धवक को युग्म या चतुरस्र ताल में आक्रीडित भागों के साथ प्रयोग में लाया जाता है, जिसमें बीस सन्निपात होते हैं।

द्विमूढ़क

जिसमें मुख तथा प्रतिमुख को यथाक्षर चापपुट ताल में बारह सन्निपातों से युक्त करते हुए रखा जाए, उसे द्विमूढ़क अङ्ग कहते हैं। इसका विषय एक से अधिक रचनाओं वाला होता है, जिसमें अनेक अर्थ रहते हैं। यह पौरुष भाव से सम्बद्ध एकांग से या शीर्षक नामक अंग से युक्त होता है।

उत्तमोत्तमक

उत्तमोत्तमक में सर्वप्रथम एक नत्कुटक गान की योजना होनी चाहिए, तदनन्तर विविध अर्थों से युक्त एक श्लोक की। गीत को विषयवस्तु को अपरान्तक शाखा में रखते हुए इसमें रहनेवाले शीर्षक को यक्षाक्षर पञ्चपाणि ताल में हेला आदि को अभिव्यक्त करते हुए प्रस्तुत करना चाहिए।

उक्तप्रयुक्त

जिस लास्यांग में क्रोध और प्रसाद की बहुलता हो, सुन्दर सम्वाद हों, और निन्दापरक क्रियायें हों, उसे 'उक्तप्रयुक्त' कहते हैं। ताल में प्रकरी का अर्द्ध भाग रखा जाए, और फिर पंचपाणि ताल में शीर्षक का प्रयोग किया जाए तथा इनकी वस्तु और सम्पिष्टक को त्र्यस्र ताल में रखा जाए। उक्तप्रयुक्त प्रसादान्त होना चाहिए।

□ □ □

शिवताण्डव स्तोत्र

तथा

पार्वतीलास्यम्

वैदिक साहित्य स्तुतिपरक है, जिसमें प्रधान देवी-देवताओं को स्तुतियाँ मिलती हैं। स्तोत्र में आराध्य को प्रशंसा छन्दोबद्ध होती है। इसकी रचना में गेयता, मोहकता, हृदयद्रावकता और उक्तिवैचित्र्यपूर्ण कलात्मकता के दर्शन होते हैं। गेय या अगेय पाठ और नृत्य के रूप में इनका प्रदर्शन मादक और भव्य लगता है। ऐसे हजारों स्तोत्रों में 'शिवताण्डव स्तोत्र' प्राचीनकाल से अत्यन्त लोकप्रिय रहा है तथा संगीतकारों को प्रभावित करता रहा है। यह नृत्य के ताण्डव स्वरूप को प्रदर्शित करने वाली एक अमर रचना है। अनेक नर्तकों ने इसे मंच पर प्रस्तुत किया है। लोकोक्तियों के अनुसार शिव की उपासना के समय विद्वान् रावण ने इसका पाठ किया था लेकिन इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

'पार्वतीलास्यम्' वर्तमान काल के प्रकाण्ड पंडित स्व० आचार्य कैलासचन्द्रदेव 'बृहस्पति' की रचना है, जिसमें भगवती पार्वती का गुणकीर्तन नृत्य के लास्य स्वरूप को प्रकट करते हुए मोहक शब्दावली और शिवताण्डव स्तोत्र की छन्द शैली में प्रस्तुत किया गया है। आगे प्रस्तुत दोनों महान् रचनाओं का प्रदर्शन नर्तकों के लिए कीर्ति-कारक और सुखदायक सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

शिवताण्डव स्तोत्र

जटाटवीगलज्जलप्रवाहपावितस्थले,
गलेऽवलम्ब्य लम्बितां भुजंगतुंगमालिकाम् ।
डमड्डमड्डमड्डमन्निनादवड्डमर्वयं,
चकार चण्डताण्डवं तनोतु नः शिवः शिवम् ।।१।।

जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी,
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्द्धनि ।
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके,
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम ।।२।।

धराधरेन्द्रनन्दिनीविलासबन्धुबन्धु
रस्फुरद्दिगन्तसन्ततिप्रमोदमानमानसे ।
कृपाकटाक्षधोरिणीनिरुद्धदुर्धरापदिक्वचिद्दिगम्बरे,
मनोविनोदमेतु वस्तुनि ।।३।।

जटाभुजंगपिंगलस्फुरत्फणामणिप्रभा,
कदम्बकुंकुमद्रवप्रलिप्तदिग्वधूमुखे ।
मदान्धसिन्धुरस्फुरत्त्वगुत्तरीयमेदुरे,
मनोविनोदमद्भुतंबिभर्तुभूतभर्तुरि ।।४।।

सहस्रलोचनप्रभृत्यशेषलेखशेखर,
प्रसूनधूलिधोरिणीविधूसराङ्घ्रिपीठभूः ।
भुजंगराजमालया निबद्धजाटजूटकः,
श्रियै चिराय जायतां चकोरबन्धुशेखरः ।।५।।

ललाटचत्वरज्वलद्धनंजयस्फुलिंगभा,
निपीतपंचसायकंनमन्निलिम्पनायकम् ।
सुधामयूखलेखया विराजमानशेखरं,
महाकपालि सम्पदे शिरो जटालमस्तु नः ॥६॥

करालभालपट्टिकाधगद्धगद्धगज्ज्वल,
द्धनंजयाहुतीकृतप्रचंडपंचसायके ।
धराधरेन्द्रनंदिनीकुचाग्रचित्रपत्रक,
प्रकल्पनैकशिल्पिनि त्रिलोचने रतिर्मम ॥७॥

नवीनमेघमण्डलीनिरुद्धदुर्धरस्फुर,
त्कुहूनिशीथिनीतमः प्रबन्धबद्धकन्धरः ।
निलिम्पनिर्झरीधरस्तनोतु कृत्तिसिन्धुरः,
कलानिधानबन्धुरः श्रियं जगद्धुरन्धरः ॥८॥

प्रफुल्लनीलपंकजप्रपंचकालिमप्रभा,
वलम्बिकण्ठकन्दलीरुचिप्रबद्धकन्धरम् ।
स्मरच्छिदं पुरच्छिदं भवच्छिदं मखच्छिदं,
गजच्छिदान्धकच्छिदं तमंतकच्छिदं भजे ॥९॥

अखर्वसर्वमंगलाकलाकदम्बमंजरी,
रसप्रवाहमाधुरीविजृम्भणामधुव्रतम ।
स्मरांतकं पुरांतकं भवांतकं मखांतकं,
गजान्तकान्धकान्तकं तमंतकान्तकंभजे ॥१०॥

जयत्वदभ्रविभ्रमभ्रमद्भुजंगमश्वस,
द्विनिर्गमत्क्रमस्फुरत्करालभालहव्यवाट् ।
धिमिद्धिमिद्धिमिद्ध्वनन्मृदंगतुंगमंगल,
ध्वनिक्रमप्रवर्तितप्रचण्डताण्डवः शिवः ॥११॥

दृषद्विचित्रतल्पयोर्भुजंगमौक्तिकस्रजो-
र्गरिष्ठरत्नलोष्ठयोः सुहृद्विपक्षपक्षयोः ।
तृणारविन्दचक्षुषोः प्रजामहीमहेन्द्रयोः,
समप्रवृत्तिकः कदा सदाशिवं भजाम्यहम् ॥१२॥

कदानिलिम्पनिर्झरीनिकुंजकोटरे वसन्,
विमुक्तदुर्मतिः सदा शिरःस्थमंजलिं वहन् ।
विलोललोललोचनो ललामभाललग्नकः,
शिवेतिमंत्रमुच्चरन् कदासुखी भवाम्यहम् ॥१३

इमं हि नित्यमेवमुक्तमुत्तमोत्तमं स्तवं,
पठन्स्मरन्ब्रुवन्नरो विशुद्धिमेति संततम् ।
हरे गुरौ सुभक्तिमाशु याति नान्यथा,
गतिं विमोहनं हि देहिनां सुशंकरस्य चिन्तनम् ॥१४॥
पूजावसानशमये दशवक्त्रगीतं,
यः शम्भुपूजनपरं पठति प्रदोषे ।
तस्य स्थिरां रथगजेन्द्रतुरंगयुक्तां,
लक्ष्मीं सदैव सुमुखीं प्रददाति शम्भुः ॥१५॥

□ श्री रावण कृत

हिन्दी भावान्तर

जटा-जूट रूपी अटवी (वन) से निकलते हुए गंगा के प्रवाह से पवित्र स्थल वाले, गले में विशाल सर्पों की माला को लटका कर (डमरू के) डम-डम शब्दों से मण्डित प्रचण्ड ताण्डव (नृत्य) करने वाले शिवजी हम सब के कल्याण का विस्तार करें ॥१॥

जिनका ललाट जटा-जूट रूपी कड़ाह में वेग से घूमती हुई गंगा की चंचल तरङ्गलताओं से सुशोभित हो रहा है तथा ललाट प्रदेश (पट्ट) की अग्नि धक्-धक् जल रही है, जिस पर बाल (किशोर) चन्द्रमा सुशोभित है, उन भगवान् शंकर में मेरा निरन्तर अनुराग हो ॥२॥

गिरिराजकिशोरी (पार्वती) के विलास काल के बंधु (शिरोभूषण) से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रकाशित होते देख जिनका मन आनन्दमग्न हो रहा है, जिनकी निरन्तर कृपा दृष्टि से कठिन आपत्ति का भी विरोध (नाश) हो जाता है, ऐसे किसी दिगम्बर तत्त्व (वस्तु) में मेरा मन विनोद करे ॥३॥

जिनके जटा-जूट में स्थित सर्पों के फनों की मणियों का फैलता हुआ पिङ्गल वर्ण का आभापुञ्ज दिशा रूपी अङ्गनाओं के मुख पर कुंकुमराग का अनुलेपन कर रहा है (ऐसे) मतवाले हाथी के हिलते हुए चमड़े का उत्तरीय वस्त्र (चादर) धारण करने के कारण स्निग्धवर्ण (मेदुर) हुए उन भूतनाथ में मेरा मन अद्‌भुत प्रकार से विनोद करे ॥४॥

सहस्रलोचन (इन्द्र) आदि समस्त देवताओं के (प्रणाम करते समय) मस्तक पर स्थित पुष्पों की धूल से जिनकी चरण-पादुकाएँ धूसरित हो रही हैं; नागराज (शेष नाग) की माला से बँधी हुई जटा वाले (वे भगवान्) चन्द्रशेखर मेरे लिए चिरस्थायी लक्ष्मी उत्पन्न करें ॥५॥

जिन्होंने ललाट-वेदी पर प्रज्ज्वलित हुई अग्नि के स्फुलिंगों के तेज से पञ्चसायक (कामदेव) को भस्म कर डाला था, जिसे इन्द्र नमस्कार किया करते

हैं, (ऐसा) सुधाकर (चन्द्रमा) की कला से सुशोभित मुकुट वाला वह (श्री महादेव जी का) उन्नत विशाल ललाट वाला जटिल मस्तक हमारी सम्पत्ति का साधक हो ।।६।।

जिन्होंने अपने विकराल मस्तक रूपी पट्ट पर धक्-धक् जलती हुई अग्नि में प्रचण्ड पञ्चसायक (कामदेव) को आहुति दे दी थी, पार्वती जी के स्तनों पर पत्र-रचना करने वाले एकमात्र शिल्पकार (उन) भगवान् त्रिलोचन (शङ्कर) में मेरी रति बनी रहे ।।७।।

जिनके गले में नवीन मेघमाला से घिरी हुई अमावस्या की अर्द्धरात्रि के समय फैले हुए (घने) अन्धकार के समान श्यामता अङ्कित है; जो गज-चर्म लपेटे हुए हैं, वे संसार को धारण करने वाले चन्द्रमा (के सान्निध्य) से मनोहर आभा वाले भगवान् शङ्कर मेरी सम्पत्ति का विस्तार करें ।।८।।

जिनका कण्ठ खिले हुए नीलकमल-समूह की श्यामल आभा की छवि वाले चिह्न से सुशोभित है तथा जो कामदेव, त्रिपुर, संसार (भव), दक्षयज्ञ हाथी, अन्धकासुर और यमराज का भी नाश (उच्छेदन) करने वाले हैं, उन्हें मैं भजता हूँ ।।९।।

जो अभिमान रहित जगत्-जननी (पार्वती) की कला रूप कदम्बमञ्जरी के मकरंद-स्रोत से बढ़ती हुई मधुरता का पान करने वाले हैं तथा कामदेव, त्रिपुर, संसार, दक्षयज्ञ, हाथी, अन्धकासुर और यमराज का भी नाश करने वाले हैं, उन्हें मैं भजता हूँ ।।१०।।

जिनके भाल पर तीव्रगति से घूमते हुए सर्प के फूत्कार से ललाट की भयंकर अग्नि क्रमशः धधकती हुई फैल रहीं हैं; धिम-धिम बजते हुए मृदंग के गम्भीर मङ्गल-घोष से क्रमशः जिनका प्रचण्ड ताण्डव हो रहा है, उन भगवान् शिव की जय हो ।।११।।

पत्थर और विचित्र बिछौनों में, सर्प एवं मुक्ता की माला में, बहुमूल्य रत्न एवं मिट्टी के ढेले में, मित्र एवं शत्रु में, तिनका (तृण) एवं कमल-नेत्री तरुणी में, प्रजा और पृथ्वी के महाराज (राजा) में समत्व भाव रखता हुआ मैं कब सदाशिव का भजन करूँगा ।।१२।।

गंगाजी के तटवर्ती निकुञ्ज में रहता हुआ, हमेशा ही मस्तक पर हाथ जोड़े हुए, डबडबाई विह्वल आँखों से कुविचारों का त्याग कर 'शिव' मन्त्र का उच्चारण करता हुआ मैं कब सुखी होऊँगा ।।१३।।

जो व्यक्ति इस प्रकार से उक्त इस उत्तमोत्तम स्तोत्र का नित्य पाठ, स्मरण और वर्णन करता है, वह सदैव शुद्ध रहता है और शीघ्र ही देव-गुरु श्री शंकर जी की अच्छी भक्ति प्राप्त कर लेता है; वह विरुद्धगति (सांसारिकता) को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि भगवान् शंकर का भली प्रकार से किया गया चिन्तन प्राणियों (शरीर-धारियों) के मोह का नाश करने वाला है ।।१४।।

[सायंकाल में पूजा समाप्त होने के बाद रावण के गाए हुए इस शम्भु पूजन सम्बन्धी स्तोत्र का जो पाठ करता है, उसे शंकर जी रथ, हाथी (इत्यादि) गुणों से युक्त सदा स्थिर रहने वाली श्रेष्ठ (भव्य) सम्पत्ति प्रदान करते हैं] ।।१५।।

□ □ □

पार्वतीलास्यम्

करालङ्कशेखरोज्ज्वलस्मितांशुमालिकालसद्
विनोदमोदसिन्धुमज्जनोत्सुकापराजिता
मदालसाङ्गभङ्गिमाङ्गनाविलासदेशिका
महेशमोहिनी महेश्वरी जयेदमङ्गलम् ॥१॥

लसल्ललाटिकाविलोलमौक्तिकालिशोभना
लयोर्मिलालिताङ्गहारमालिकामनोहरा
द्विगिन्नगिन्धिगिन्नगिन्दिगिन्नगिन्नितिध्वन-
न्मृदङ्गसङ्गिनी तनोतु पार्वती सदाशिवम् ॥२॥

हिरण्मयोल्लसत्किरीटिनी सुवर्णवर्णिनी
मणिप्रभामयूखजाललालिताङ्गदीपिनी
चलत्स्फटिकस्थकाञ्चिदामिनीद्युतिप्रवर्षिणी
सुहासिनी गिरीशनन्दिनी करोतु मङ्गलम् ॥३॥

अनङ्गसङ्गिनीमनस्तरङ्गभङ्गिनिन्दिता-
ङ्गहारकल्पनाकलाकलापकौशलान्विता
कनुञ्झुनुत्र‍्नुञ्झुनुत्र‍्नुञ्झुनुन्निनादिनी
शिवा विमुक्तताण्डवं शिवञ्चिराय पश्यतु ॥४॥

सितस्मिताधरप्रवालनिन्दितेन्दुलेखया
विमुक्तवेणिसर्पणीहृताहिमण्डलीश्रिया
शुभाङ्गभङ्गिनिर्जितोत्तरङ्गजाह्नवीत्विषा
प्रसाद्यतामहर्निशं शिवः प्रसन्नयोमया ॥५॥

चलत्पदाम्बुजार्पितैरलक्तकाङ्कितैः परा-
म्प्रफुल्लपङ्कजच्छविं समर्प्य दर्पणप्रभम्
हिमावृतावनीतलङ्कुटिस्थकिङ्किणीक्वण-
प्रवीणया विनोद्यताममन्दमिन्दुशेखरः ॥६॥

महेशमौलिमल्लिकामिलन्मिलिन्दगुञ्जित-
म्प्रकल्प्य मध्यमस्वरं सुमध्यमाभिरंशकम्
प्रगीयमानमालिभिः प्रबन्धमङ्गभङ्गिभि-
र्व्यनक्तु शैलजा मनोजवैरिणोऽनिशम्भुवे ॥७॥

अपांगभंगिभिर्मिताभिरंगहर्षितो हरः
पदारविन्दनूपुरक्वणेन मन्दहासया
सलीलमालिवृन्दवन्दनोल्लसद्विलासया
निमन्त्र्यतामनंगपर्वमन्जकोऽनुवृत्तये ॥८॥

पुरा विशालबाहुदण्डमण्डनैर्भुजंगमै-
र्मृदंगवेणुवल्लकीनिनादमोहितैस्तत-
श्श्लथांगबन्धनच्युतैरथञ्चलैश्शनैश्शनै-
स्सरद्भिरन्तरान्तरा विरम्यतामितस्ततः ॥९॥

नवोल्लसन्महेशमानसोर्मिजालमीलित-
म्महानलस्फुलिंगगर्वजितैल्ललाटलोचन-
ञ्जटाभुजंगराजये शिरःस्थजह्नुसूनवे
निरन्तरं सुखावहं सखीजनाय गायताम् ॥१०॥

उमापवक्रमोल्लसम्भ्रमा मनागधीश्वरो
हिलंकुरश्चलन्मिलन्हृसन्धनन्तनन्तत-
स्सखीजनोपवीणितो विनोदभाजनं शिवो
हिमाद्रिजामृणालबाहुवेष्टितो विलोक्यताम् ॥११॥

हिलत्सुवर्णकुण्डलोल्लसत्कपोलदर्पणा
लुठद्विलोलमौक्तिकावलीलसत्पयोधरा
झनञ्झनञ्झनञ्झनञ्झनेतिकांस्यतालक-
स्वनानुवर्तिनी गिरीन्द्रजाश्रयेत्फणीन्द्रिणम् ॥१२॥

□ आचार्य्यबृहस्पतिविरचितम्

हिन्दी भाषान्तर

शशाङ्कशेखर (भगवान् चन्द्रमौलि शंकर) के उज्ज्वल हास की किरणों की माला में झलकते हुए विनोद से उत्पन्न मोद के सिन्धु में मज्जन करने के लिए उत्सुक, मद के कारण अलसाए हुए अङ्गों की भङ्गिमा के द्वारा सुन्दरियों को अङ्गविलास की शिक्षा देने वाली अपराजिता महेशमोहिनी महेश्वरी (भगवती पार्वती) अमङ्गल का विनाश करें ॥१॥

शोभित होते हुए झूमर में लगे हुए चञ्चल मोतियों की झालर से सुशोभित, लय की तरंगों के द्वारा दुलराए अंगहारों (नृत्य में प्रयोज्य विभिन्न आंगिक चेष्टाओं) की मालिका के कारण मनोहर, 'दिगिन्-नगिन्, दिगिन्-नगिन्, दिगिन्-नगिन्' इस प्रकार की ध्वनि करने वाले मृदंग का संग करने वाली पार्वती सदा कल्याण का विस्तार करें ॥२॥

सुवर्णमय और चमकते हुए किरीट को धारण करने वाली, सोने के समान वर्ण से युक्त, मणिप्रभारूपी किरण समूहों के द्वारा दुलराए हुए अंगों के कारण कान्तिमयी सुहासिनी गिरीशनन्दिनी (भगवती पार्वती) मंगल करें ॥३॥

अनंगसंगिनी (कामदेव की पत्नी रति) के मन की तरंगों की भंगिमा को लज्जित करने वाले अंगहारों की कल्पनारूपी कलाओं के समूह (का अभिव्यक्ति) में निपुणता से युक्त (और अपने नूपुरों से) 'रुनुन्-झुनुन्, रुनुन्-झुनुन्, रुनुन्-झुनुन्' शब्द करने वाली भगवती पार्वती उन भगवान् शंकर की ओर चिरकाल तक देखें, जिन्होंने (पार्वती का नृत्य देखकर उस समय) ताण्डव करना छोड़ दिया है ॥४॥

स्वच्छ हास से युक्त अधरपल्लव से जिन्होंने चन्द्रमा की कला को लज्जित कर दिया है, (नृत्य के कारण) विशेष प्रकार से मुक्त वेणीरूपी सर्पिणी के द्वारा जिन्होंने नागमण्डली की शोभा पर अधिकार कर लिया है, शुभ अंग भंगिमाओं से जिन्होंने उछलती तरंगों वाली गंगा की कान्ति को जीत लिया है, ऐसी प्रसन्न उमा भगवान् शिव को अहर्निश प्रसन्न करें ॥५॥

नृत्य करते हुए चरणाम्बुजों के द्वारा लगाए हुए आलते के चिह्नों से, दर्पण के समान प्रभा से युक्त हिमाच्छादित भूभाग को प्रफुल्ल कमलों जैसी कान्ति समर्पित करके, कटि-प्रदेश में धारण की हुई किङ्किणियों की ध्वनि करने में प्रवीण पार्वती प्रगाढ़ रूप में चन्द्रमौलि (भगवान् शंकर) का मनोरञ्जन करें ॥६॥

भगवान् शंकर के सिर पर सुशोभित मल्लिकापुष्पों के अत्यन्त समीप मँडराते हुए भ्रमरों की गूँज को अंश (प्रधान) 'मध्यम' स्वर मानकर सुन्दरी सखियों के द्वारा भलीभाँति गाए जाते हुए 'प्रबन्ध' (गीत) को अपनी अंगभंगिमाओं द्वारा शैलजा (भगवती पार्वती) कामदेव के बैरी (भगवान् शंकर) की प्रसन्नता के लिए निरन्तर व्यक्त करें ।।७।।

अपांगों की भंगिमा से व्यक्त संकेतों के संस्पर्श से रोमाञ्चयुक्त अनंगगर्वभंजक भगवान् शंकर को, वे मन्दहासिनी (भगवती पार्वती) अपने चरणाम्बुजों में बँधे हुए नूपुरों की ध्वनि के द्वारा साथ-साथ नाचने के लिए लीलापूर्वक निमन्त्रण दें, सखियों के समूह से प्राप्त प्रशंसा के कारण जिनके विलास उल्लासमय हो गए हैं ।।८।।

वे सर्प इधर-उधर विश्राम करें, जो पहले (भगवान् शंकर के) विशाल बाहुदण्डों का शृंगार थे, (परन्तु) अब जो मृदंग, वेणु और वीणा की ध्वनि के कारण मोहित हैं, अंगों का बन्धन शिथिल हो जाने के कारण गिर गए हैं, जिन्होंने चंचलता का परित्याग कर दिया है और जो रह-रहकर धीरे-धीरे सरक रहे हैं ।।९।।

मद के कारण उल्लसित होते हुए भगवान् शंकर के मानस में उठती हुई तरंगों के जाल के द्वारा निमीलित (और) प्रचण्ड अग्नि के स्फुलिंगों से रहित तीसरा नेत्र जटा में स्थित भुजंगमाला; सिर पर स्थित गंगा और (नृत्य करती हुई पार्वती की) सखियों के समूह के लिए निरन्तर सुखदायी हो ।।१०।।

भगवती पार्वती के चरणों की गति से उल्लसित, कम्पित, रोमाञ्चित, (तत्पश्चात्) उठकर भगवती पार्वती के नर्तन में सम्मिलित, मुस्कराते और हर्षध्वनि करते हुए वे शंकर दर्शन का विषय हों, जो पार्वती की भुजाओं में आबद्ध हैं, सखियों के विनोद के पात्र बने हैं और जिनकी सखियाँ वीणा बजा कर उपासना कर रही हैं ।।११।।

हिलते हुए स्वर्णकुण्डलों से जिनके दर्पणोपम कपोल उल्लसित हो रहे हैं, जिनके पयोधर माला के लोटते हुए मोतियों से सुशोभित हो रहे हैं, झांझ की 'झनन्-झनन्' ध्वनि का अनुवर्तन करती हुई वे भगवती पार्वती भगवान् शंकर का आश्रय लें ।।१२।।

□□□

शृङ्गार रस का अवस्था भेद तथा अभिनय

शृङ्गार रस की दश अवस्थाएँ—

इन अवस्थाओं में पहली दशा में 'अभिलाष', दूसरी में 'चिन्ता', तीसरी में 'अनुस्मृति', चौथी में 'गुणकीर्तन', पाँचवीं में 'उद्वेग', छठी में 'विलाप', सातवीं में 'उन्माद', आठवीं में 'व्याधि', नवमीं में 'जड़ता' और दसवीं में 'मरण' होता है। ये दस दशाएँ पुरुषों में तथा स्त्रियों में समान रूप से होती हैं। इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं।

अभिलाष

संकल्प तथा इच्छा के कारण उत्पन्न होने वाला, प्रिय-समागम का उपाय पूर्ण करने वाला मानसिक उद्योग 'अभिलाष' कहलाता है।

इस प्रथमदशा में प्रियस्थान पर बार-बार आया जाया जाता है एवं उसकी नजरों में बार-बार आकर अनुराग का भाव प्रकट किया जाता है।

चिन्ता

दूती द्वारा (अवस्था आदि) कहने पर मुझे किस प्रकार किन उपायों से अपने इष्टतम व्यक्ति (प्रिय या प्रियतमा) की प्राप्ति हो—इस प्रकार चिन्ता को प्रकट किया जाए।

इस दूसरी अवस्था में कुछ तिरछी चितवन वाला आधी खुली आँखों से देखना, अपने कड़े पर या करधनी पर हाथ जाना और नाभि और नीवी का छूना होता है।

अनुस्मृति

बार-बार उँसासें लेना, प्रिय के विषय की चिन्ताओं की जमावट के कारण किसी भी काम में मन का न लगना 'अनुस्मृति' कही जाती है।

इस दशा में चित के प्रिय में निमग्न रहने के कारण न बैठने में, न सोने में और न अपने कार्यों में ही शक्ति रहने (विहस्ता) के कारण मन नहीं लगता है।

गुणकीर्तन

अंगों की लीलापूर्ण चेष्टाओं के साथ हँसने, देखने आदि से प्रिय की इस प्रकार अभिव्यक्ति करना, कि उसके समान दूसरा कोई नहीं हो सकता, 'गुण-कीर्तन' कहलाता है।

इस चौथी अवस्था को रोमांच, अश्रु तथा स्वेद के पोछने तथा दूती को मिलन (दशा) के लिए विश्वासपूर्वक कथन के साथ प्रेषित करने की क्रियाओं द्वारा अभिनीत करना चाहिए।

उद्वेग

जिसे बैठने या बिछौने पर लेटते हुए भी हर्ष और सन्तोष न हो और अपने इष्ट के प्रति सदा उत्सुकता बनी रहती हो, तो इसे (पाँचवीं) 'उद्वेगदशा' कहा जाता है।

चिन्ता, उसास लेना, खेद, हृदय की पीड़ा तथा अतिशय उद्वेग के द्वारा इस 'उद्वेग' दशा का अभिनय करना चाहिए।

विलाप

'वे यहाँ रहते थे, यहाँ बैठते थे, यहाँ मुझसे मिले थे,' इत्यादि वचनों के कहते हुए रोना 'विलाप' दशा होती है।

(इस दशा में) यह रोने वाली नारी अतिशय उद्विग्न रहती है तथा अपने इष्ट के प्रति उत्सुक रहती है। इसमें इधर उधर भटकते हुए 'विलाप' दशा का अभिनय करना चाहिए।

उन्माद

जब केवल अपने इष्ट के विषय में बातचीत करते रहने या उसी का ध्यान बना रहे तो अन्य व्यक्तियों के प्रति विराग हो जाने या द्वेष रखने के कारण 'उन्माद' दशा हो जाती है।

इस दशा का नाट्य प्रदर्शन में अपलक देखने, लम्बी सांस खींचने, ध्यान करने और चलने के समय रोने के द्वारा अभिनय करना चाहिए।

व्याधि

जब साम, दान आदि उपायों से तथा इच्छित वस्तुओं के भेजने पर भी प्रिय की उपलब्धि या अनुकूलता न हो पाए, तो (चिन्ता के निरन्तर बनी रहने पर) 'व्याधि' दशा हो जाती है।

व्याधि की इस आठवीं दशा में हृदय में मोह हो जाता है (या वह बैठने लगता है) शरीर जलता है, सिर में तीव्र वेदना होने लगती है और उसे कहीं भी चैन (धृति) नहीं मिलता। इन्हीं क्रियाओं के द्वारा इसका अभिनय करना चाहिए।

जड़ता

पूछने पर उत्तर न दे, न सुने, न देखे और स्मृति के न रहने के कारण हाय हाय करती रहे, तो इसे 'जड़ता' नामक नवीं अवस्था कहते हैं।

उस समय में हुंकार भरने, शरीर के सारे अंगों के ढीले पड़ने, नाक और मुँह में अतिशय सांस भरने या चलने तथा बुद्धिमान्द्य के द्वारा इस दशा का अभिनय किया जाए।

मरण

जब सभी उपाय करने पर भी इष्ट प्राप्ति न हो, तो कामाग्नि की दाह व्यथा को न सह सकने पर 'मरण' दशा हो जाती है।

इन सभी अवस्थाओं की कामतन्त्र (कामविज्ञान) के अनुसार विचार करते हुए योजना करनी चाहिए। ये दशाएं इष्ट के अभाव या अप्राप्ति के कारण होती हैं। जहाँ तक हो सके, इसमें अन्तिम दशा का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।

□□□

गीत गोविन्द

अष्टपदी

भरतनाट्यम्, ओडिसी, कथक और मणिपुरी इत्यादि सभी प्रमुख नृत्यशैलियों में जयदेवरचित 'गीतगोविन्द' अर्थात् 'अष्टपदी' पर आधारित अभिनय बड़ी श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इसकी गीतियों का गान वैष्णव सम्प्रदाय के प्रमुख देवालयों में चौबीसों घन्टे गूंजता रहता है। यहाँ 'गीतगोविन्द' का मूल और गीतियों का हिन्दी सारांश दिया जा रहा है। नाट्य और संगीत से परिपूर्ण तथा भक्ति से मुक्ति की ओर ले जाने वाली यह कृति अमर है।

॥ श्रीः ॥

श्री जयदेवकविरचितम्

गीतगोविन्दकाव्यम्

प्रथम सर्गः

(सामोददामोदरः)

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमैर्नक्तं
भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे ! गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहःकेलयः ॥१॥

[इस श्लोक के पूर्वार्ध में समुच्चयालङ्कार तथा उत्तरार्ध में आशीः अलङ्कार है। फलतः दोनों की संसृष्टि है। इस श्लोक में वैदर्भी रीति, कैशिकी वृत्ति, संभाविता गीति, मध्य लय, प्रसाद गुण, अनुकूल नायक तथा स्वाधीनपतिका नायिका है। श्लोक के पूर्वार्ध में अभिलाष-लक्षण विप्रलम्भ शृङ्गार तथा उत्तरार्द्ध में सम्भोग शृङ्गार है। शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥१॥]

वाग्देवताचरितचित्रितचित्तसद्मा पद्मावतीचरणचारणचक्रवर्ती ।
श्रीवासुदेवरतिकेलिकथासमेतमेतं करोति जयदेवकविः प्रबन्धम् ॥२॥

[इस श्लोक में चित्त तथा सद्म का अभेद बतलाया गया है, अतएव रूपकालङ्कार है तथा अनुज्ञालङ्कार भी। 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इस लक्षण के अनुसार वसन्ततिलका वृत्त, ओज गुण, गौडीय रीति, भारती वृत्ति तथा संभाविता गीति है ॥२॥]

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥३॥

[इस श्लोक में दीपकालङ्कार, पाञ्चाली रीति, कैशिकी वृत्ति तथा द्रुत-विलम्बित छन्द है। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' यह द्रुतविलम्बित वृत्त का लक्षण है ॥३॥]

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः संदर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः ।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी
कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥४॥

[इस श्लोक में 'सूर्याश्वैमर्सजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।' इस लक्षण के अनुसार शार्दूलविक्रीडित वृत्त तथा समुच्चयालङ्कार ॥४॥]

अष्टपदी : प्रबन्ध–१

(मालवगौड तथा रूपक ताल में)

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम्
विहितवहित्रचरित्रमखेदम् ।
केशव धृतमीनशरीर
जय जगदीश हरे ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥

[इस श्लोक में अर्द्धमागधी रीति, उपमा तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार, उत्साह नामक स्थायिभाव तथा वीररस हैं ॥१॥]

क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे
धरणिधरणकिणचक्रगरिष्ठे ।
केशव धृतकच्छपरूप
जय जगदीश हरे ॥ २ ॥

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना ।
केशव धृतशूकररूप
जय जगदीश हरे ॥ ३ ॥

[इस पद में उपमालङ्कार है ॥३॥]

तव करकमलवरे नखमद्भुतशृङ्गम्
दलितहिरण्यकशिपुतनुभृङ्गम् ।
केशव धृतनरहरिरूप
जय जगदीश हरे ॥ ४ ॥

[रसमञ्जरी का कहना है कि अन्यत्र तो भौंरे कमलाग्र का भेदन करके मकरन्द पान करके तृप्त होते हैं, किन्तु यहाँ पर तो स्वयं यह भौंरा कमलाग्र के द्वारा ही विदीर्ण हो गया। यही इस नखश्रृङ्ग की अद्‌भुतता है ।।४।।]

छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन,
पदनखनीरजनितजनपावन ।
केशव धृतवामनरूप,
जय जगदीश हरे ।। ५ ।।

[इस पद में अद्‌भुत रस तथा अतिशयोक्ति अलंकार है ।।५।।]

क्षत्रियरुधिरमये जगदपगतपापम्,
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम् ।
केशव धृतभृगुपतिरूप,
जय जगदीश हरे ।।६।।

[इस पद में स्वभावोक्ति अलंकार तथा अद्‌भुत रस है ।।६।।]

वितरसि दिक्षु रणे दिक्पतिकमनीयं,
दशमुखमौलिबलिं रमणीयम् ।
केशव धृतरामशरीर,
जय जगदीश हरे ।। ७ ।।

[इस पद में जाति अलंकार है ।।७।।]

वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभम्,
हलहतिभीतिमिलितयमुनाभम् ।
केशव धृतहलधररूप
जय जगदीश हरे ।। ८ ।।

[इस पद के नायक श्रीबलराम जी धीरललित नायक हैं ।।८।।]

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्, सदयहृदय दर्शितपशुघातम् ।
केशव धृतबुद्धशरीर, जय जगदीश हरे ।। ९ ।।

[इस पद में वर्णित भगवान् बुद्ध धीरप्रशान्त नायक हैं। धीरप्रशान्त नायक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है—'शान्तो विनीतो धीरश्च धीरशान्तो द्विजो वणिक् ।

अर्थात् धीरप्रशान्त नायक ब्राह्मण अथा वणिक् जाति का होता है। वह शान्त स्वभाव वाला विनयान्वित तथा धैर्य सम्पन्न होता है ।।९।।]

म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालं, धूमकेतुमिव किमपि करालम् ।
केशव धृतकल्किशरीर, जय जगदीश हरे ॥ १० ॥

[कृपाण का तेज भी नील तथा भास्कर होता है, उसी तरह धूमकेतु तारा तथा औत्पातिक अग्नि भी । फलतः दोनों की समता होने से यहाँ पर उपमालङ्कार है । इस श्लोक में वर्णित नायक धीरोद्धत नायक है ।

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारम्, शृणु सुखदं शुभदं भवसारम् ।
केशव धृतदशविधरूप, जय जगदीश हरे ॥ ११ ॥

[इस श्लोक में शान्तरस तथा पर्यायोक्ति अलंकार है ॥११॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥११॥

इति दशावतारकीर्तिधवलो नाम प्रथमः प्रबन्धः ।

अष्टपदी : प्रबन्ध-२

(गुर्जरीराग तथा निःसार ताल में रसमञ्जरीकार के अनुसार इस प्रबन्ध का राग प्रतिमण्ठ)

श्रितकमलाकुचमण्डल, धृतकुण्डल ए ।
कलितललितवनमाल, जय जय देव हरे ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥
दिनमणिमण्डलमण्डन भवखण्डन ए ।
मुनिजनमानसहंस, जय जय देव हरे ॥ २ ॥
कालियविषधरगञ्जन, जनरञ्जन ए ।
यदुकुलनलिनदिनेश, जय जय देव हरे ॥३॥

[इस श्लोक के प्रथम विशेषण के द्वारा श्रीभगवान् को अत्यन्त बलशाली, द्वितीय विशेषण के द्वारा श्रीभगवान् को नायकोचित जनाह्लादिगुणसम्पन्न तथा तृतीय विशेषण के द्वारा कुलीन बतलाया गया है ॥३॥]

मधुमुरनरकविनाशन, गरुडासन ए ।
सुरकुलकेलिनिदान, जय जय देव हरे ॥४॥
अमलकमलदललोचन भवमोचन ए ।
त्रिभुवनभुवननिधान, जय जय देव हरे ॥५॥

जनकसुताकृतभूषण, जितदूषण ए ।
समरशमितदशकण्ठ, जय जय देव हरे ॥६॥

अभिनवजलधरसुन्दर, धृतमन्दर ए ।
श्रीमुखचन्द्रचकोर, जय जय देव हरे ॥ ७ ॥

तव चरणं प्रणता, वयमिति भावय ए ।
कुरु कुशलं प्रणतेषु, जय जय देव हरे ॥ ८ ॥

श्रीजयदेवकवेरिदं कुरुते मुदमुए ।
मंगलमुज्ज्वलगीतं, जय जय देव हरे ॥ ९ ॥

पद्मापयोधरतटी परिरम्भलग्नकाश्मीरमुद्रितमुरो मधुसूदनस्य ।
व्यक्तानुरागमिव खेलदनंगखेदस्वेदाम्बुपूरमनुपूरयतु प्रियं वः ॥ १ ॥

[इस श्लोक में प्रथम पाद में मुद्रित पद का प्रयोग कर के कवि ने इस भाव को मुद्रा की भंगिमा से अभिव्यक्त किया कि श्रीलक्ष्मी जी के मन में यह भावना बनी रहती है, कि श्रीभगवान् आलिङ्गन तो मेरा करते हैं, किन्तु इनका स्नेह श्रीराधा के प्रति ही है ।

इस श्लोक में वर्णित नायिका मुग्धा, कुशल नायक, वसन्ततिलका वृत्त, आशीः, उत्प्रेक्षा तथा अनुप्रास अलंकार एवं शृङ्गार रस हैं ॥ १ ॥]

वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै-
र्भ्रमन्तीं कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ।
अमन्दं कन्दर्पज्वरजनितचिन्ताकुलतया,
वलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी ॥ २ ॥

[इस श्लोक में 'वासन्तीकुसुमसुकुमारैः' पद में लुप्तोपमालंकार है । इस पद्य में वर्णित दक्षिण नायक हैं । दक्षिण नायक का अनुराग अनेक नायिकाओं में हुआ करता है । वह सभी नायिकाओं के साथ समान रूप में स्नेह करता है ॥ १ ॥]

[इस श्लोक में वैदर्भी रीति तथा उपनागरिका वृत्ति है ॥ २ ॥]

□

अष्टपदी : प्रबन्ध-३
(वसन्त राग यथा प्रति ताल में)

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे,
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे ।

विहरति हरिरिह सरसवसन्ते,
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥

[इस श्लोक में शृङ्गार के उद्दीपन विभावों का वर्णन है । इससे विप्रलम्भ शृङ्गार की पुष्टि होती है ॥ १ ॥]

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसङ्कुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ॥ विहरति० ॥ २ ॥

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥ विहरति० ॥ ३ ॥

मदनमहीपतिकनकदण्डरुचिकेशरकुसुमविकासे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥ विहरति० ॥ ४ ॥

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृ[redacted]रिताशे ॥ विहरति० ॥ ५ ॥

माधविकापरिमलललिते नवमालिकयातिसुगन्धौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ॥ विह० ॥ ६ ॥

स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भणमुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥ विह० ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमिदमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसबसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥ विह० ॥ ८ ॥

[इति माधवोत्सवकमलाकरनामा तृतीयः प्रबन्धः ।

□

दरविदलितमल्लीवल्लिचञ्चत्पराग-
प्रकटितपटवासैर्वासयन्काननानि ।
इह हि दहति चेतः केतकीगन्धबन्धुः
प्रसरदसमबाणप्राणवद्गन्धवाहः ॥ १० ॥

[इस श्लोक में मालिनी छन्द है। 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः', यह मालिनी छन्द का लक्षण है। इस श्लोक में समासोक्ति तथा वर्णानुप्रास इन दो अलंकारों की संसृष्टि है।]

उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूतांकुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलरवैरुद्गीर्णकर्णज्वराः ।
नीयन्ते पथिकैः कथङ्कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः ॥ २ ॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द है। इसमें काव्यलिङ्ग नामक अलंकार, गौडीया रीति तथा विप्रलम्भ शृङ्गार रस है ।

'वासरा' पद में बहुवचन का प्रयोग औचित्ययुक्त है ॥ २ ॥]

अनेकनारीपरिरम्भसम्भ्रमस्फुरन्मनोहारिविलासलालसम् ।
मुरारिमारादुपदर्शयन्त्यसौ सखी समक्षं पुनराह राधिकाम् ॥ ३ ॥

[इस श्लोक 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ' इस लक्षण के अनुसार वंशस्थविला छन्द, अनुप्रास अलंकार तथा दक्षिण नायक हैं ॥ ३ ॥]

अष्टपदी : प्रबन्ध-४

(रामकरीराग तथा यति ताल में)

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगस्मितशाली ॥
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ॥ ध्रुव० ॥ १ ॥

[इस गीत का राग रामकरी तथा झम्पाताल हैं। रसमञ्जरीकार इस गीत में रूपक ताल मानते हैं ॥ १ ॥]

पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम् ।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम् ॥ हरि० ॥ २ ॥

कापि विलासविलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम् ।
ध्यायति मुग्धवधूरधिकं मधुसूदनवदनसरोजम् ॥ हरि० ॥ ३ ॥

कापि कपोलतले मिलिता लपितुं किमपि श्रुतिमूले ।
चारु चुचुम्ब नितम्बवती दयितं पुलकैरनुकूले ॥ हरि० ॥ ४ ॥

[इस श्लोक में मधुसूदन के वदन में सरोजत्व आरोप करके औचित्य का आधान कर दिया है, क्योंकि कमल से मधु अधिक स्पन्दित होता है ॥ ४ ॥]

[इस श्लोक में वर्णित नायक भगवान् श्रीकृष्ण अनुकूल नायक हैं ॥ ५ ॥]

केलिकलाकुतुकेन च काचिदमुं यमुनाजलकूले ।
मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जगतं विचकर्ष करेण दुकूले ॥ हरि० ॥ ५ ॥

करतलतालतरलवलयावलिकलितकलस्वनवंशे ।
रासरसे सहनृत्यपरा हरिणा युवतिः प्रशशंसे ॥ हरि० ॥ ६ ॥

श्लिष्यति कामपि चुम्बति कामपि कामपि रमयति रामाम् ।
पश्यति सस्मितचारुतरामपरामनुगच्छति वामाम् ॥ हरि० ॥ ७ ॥

[इस श्लोक में श्रीभगवान् का वर्णन शठ, धृष्ट, दक्षिण, अनुकूल तथा धूर्त नायक के रूप में किया गया है। इस श्लोक में वर्णित सभी नायिकाएँ अभिसारिका नायिकाएँ हैं।]

श्रीजयदेवभणितमिदमद्भुतकेशवकेलिरहस्यम् ।
वृन्दावनविपिने ललितं वितनोतु शुभानि यशस्यम् ।। हरि० ।। ८ ।। □

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनंगोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यंगमालिङ्गितः
शृंगारः सखि ! मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ।। १ ।।

[इस श्लोक में दीपकालंकार है, वैदर्भी रीति है, शार्दूलविक्रीडित छन्द है शृङ्गार रस है तथा वाक्यौचित्य है। इस सम्पूर्ण गीत की नायिका श्रीराधा जी उत्कण्ठिता नायिका हैं। नायक के द्वारा विपरीत आचरण किए जाने पर भी विरहोत्कण्ठित तथा उदास रहने वाली नायिका 'उत्कण्ठिता नायिका' कहलाती है।]

नित्योत्सङ्गवसद्भुजंगकवलक्लेशादिवेशाचलं
प्रालेयप्लवनेच्छयानुसरति श्रीखण्डशैलानिलः ।
किं च स्निग्धरसालमौलिमुकुलान्यालोक्य हर्षोदया-
दुन्मीलन्ति कुहूः कुहूरिति कलोत्तालाः पिकानां गिरः ।। २ ।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द, वर्णानुप्रास तथा उपमा अलंकार, वैदर्भी रीति तथा विप्रलम्भ-शृङ्गार का सूचक रति नामक स्थायीभाव है।।]

रासोल्लासभरेण विभ्रमभृतामाभीरवामभ्रुवा-
मभ्यर्णं परिरभ्य निर्भरमुरः प्रेमान्धया राधया ।
साधु त्वद्वदनं सुधामयमिति व्याहृत्य गीतस्तुति-
व्याजादुद्भटचुम्बितः स्मितमनोहारी हरिः पातु वः ।। ३ ।।

[इस श्लोक में आशीः, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजोक्ति आदि अलंकार हैं। प्रगल्भा नायिका है, मुग्ध नायक है तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।]

[इति श्रीजयदेवकृतौ गीतगोविन्दे सामोददामोदरो नाम प्रथमः सर्गः ।।१।।]

□

द्वितीयः सर्गः

(अक्लेशकेशवः)

विहरति वने राधा साधारणप्रणये हरौ
विगलितनिजोत्कर्षादीर्ष्यावशेन गताऽन्यतः ।
क्वचिदपि लताकुञ्जे गुञ्जन्मधुव्रतमण्डली-
मुखरशिखरे लीना दीनाप्युवाच रहः सखीम् ।। १ ।।

[इस श्लोक में हरिणी छन्द है। 'रसयुगहयैः न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी'। यह हरिणी चन्द का लक्षण है। रतिभाव के उद्रेकातिशय के कारण रसवदलंकार तथा अनुप्रासालंकार हैं एवं प्रौढ़ा नायिका है।

स्वोत्कर्षाभाव का अनुभव कर हीन बनी राधा कुछ बोल नहीं सकती थीं फिर भी वे अपनी सखी से रहस्य की बातें बतलाने लगीं—यह 'अपि' शब्द के द्वारा द्योतित किया गया है। इसीलिए 'अपि' शब्द चमत्कारातिशययुक्त है ॥ १ ॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-५

(गुर्जरी राग तथा यति ताल में)

सञ्चरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम् ।
चलितदृगञ्चलचञ्चलमौलिकपोलविलोलवतंसम् ।
रासे हरिमिह विहितविलासम्
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम् ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥

चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदिरसुवेशम् ॥ रासे० ॥ २ ॥

गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलम्भितलोभम् ।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम् ॥ रासे० ॥ ३ ॥

विपुलपुलकभुजपल्लववलयितबल्लवयुवतिसहस्रम् ।
करचरणोरसि मणिगणभूषणकिरणविभिन्नतमिस्रम् ॥ रासे० ॥ ४ ॥

जलदपटलचलदिन्दुविनिन्दकचन्दनतिलकललाटम् ।
पीनपयोधरपरिसरमर्दननिर्दयहृदयकपाटम् ॥ रासे० ॥ ५ ॥

मणिमयमकरमनोहरकुण्डलमण्डितगण्डमुदारम् ।
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम् ॥ रासे० ॥ ६ ॥

विशदकदम्बतले मिलितं कलिकलुषभयं शमयन्तम् ।
मामपि किमपि तरलतरंगदनंगदृशा मनसा रमयन्तम् ॥ रासे० ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमतिसुन्दरमोहनमधुरिपुरूपम् ।
हरिचरणस्मरणं प्रति सम्प्रति पुण्यवतामनुरूपम् ॥ रासे० ॥ ८ ॥

[इस अष्टपदी के आठों श्लोकों में लय नाम का छन्द है। 'मुनिर्यगणैर्लय-मामनन्ति' यह लय छन्द का लक्षण है। इस पाँचवें प्रबन्ध का नाम मधुरिपुरत्नकण्ठिका है ॥ ८ ॥] □

गणयति गुणग्रामं भ्रामं भ्रमादपि नेहते
वहति च परितोषं दोषं विमुञ्चति दूरतः ।
युवतिषु वलत्तृष्णे कृष्णे विहारिणि मां विना
पुनरपि मनो वामं कामं करोति करोमि किम् ॥ १ ॥

[इस श्लोक में हरिणी नामक छन्द यमक नामक शब्दालंकार तथा संशय एवं दीपक नामक अर्थालङ्कार एवं क्रियोचित्य है ।]

अष्टपदी : प्रबन्ध-६

(मालवगौड राग तथा एकताली ताल में)

निभृतनिकुञ्जगृहं गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम् ।
चकितविलोकितसकलदिशा रतिरभसभरेण हसन्तम् ।
सखि ! हे केशिमथनमुदारम्
रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥

प्रथमसमागमलज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम् ।
मृदुमधुरस्मितभाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम् ॥ सखि० ॥ २ ॥

किसलयशयननिवेशितया चिरमुरसि ममैव शयानम् ।
कृतपरिरम्भणचुम्बनया परिरभ्य कृताधरपानम् ॥ सखि० ॥ ३ ॥

अलसनिमीलितलोचनया पुलकावलिललितकपोलम् ।
श्रमजलसकलकलेवरया वरमदनमदादतिलोलम् ॥ सखि० ॥ ४ ॥

कोकिलकलरवकूजितया जितमनसिजतन्त्रविचारम् ।
श्लथकुसुमाकुलकुन्तलया नखलिखितघनस्तनभारम् ॥ सखि० ॥ ५ ॥

चरणरणितमणिनूपुरया परिपूरितसुरतवितानम् ।
मुखरविशृङ्खलमेखलया सकचग्रहचुम्बनदानम् ॥ सखि० ॥ ६ ॥

रतिसुखसमयरसालसया दरमुकुलितनयनसरोजम् ।
निःसहनिपतिततनुलतया मधुसूदनमुदितमनोजम् ॥ सखि० ॥ ७ ॥

श्रीजयदेवभणितमिदमतिशयमधुरिपुनिधुवनशीलम् ।
सुखमुत्कण्ठितगोपवधूकथितं वितनोतु सलीलम् ॥ सखि० ॥ ८ ॥

[इस सम्पूर्ण गीत की नायिका उत्कण्ठिता नायिका है, विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस है तथा लय छन्द है ॥ ८ ॥]

□

हस्तस्रस्तविलासवंशमनृजुभ्रू वल्लिमद्‌पल्लवी-
वृन्दोत्सारिदृगन्तवीक्षितमतिस्वेदार्द्रगण्डस्थलम् ।
मामुद्वीक्ष्य विलज्जितं स्मितसुधामुग्धाननं कानने
गोविन्दं व्रजसुन्दरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च ॥ १ ॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा दीपकालंकार है। इस श्लोक में विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस, पाञ्चाली रीति, लाटानुप्रासालंकार तथा दक्षिण नायक है।]

दुरालोकस्तोकस्तबकनवकाशोकलतिका-
विकासः कासारोपवनपवनोऽपि व्यथयति ।
अपि भ्राम्यद्भृङ्गीरणितरमणीया न मुकुल-
प्रसूतिश्चूतानां सखि ! शिखरिणीयं सुखयति ॥ २ ॥

[इस श्लोक में शिखरिणी वृत्त है—'रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी'। यह शिखरिणी वृत्त का लक्षण है। समुच्चयालंकार, लाटानुप्रासालंकार, क्रियौचित्य, विप्रलम्भ-श्रृङ्गार रस तथा मागधी एवं गौडीया रीति इस श्लोक की विशेषताएँ हैं।]

साकूतस्मितमाकुलाकुलगलद्धम्मिल्लमुल्लासित-
भ्रू वल्लीकमलीकदर्शितभुजामूलोर्ध्वहस्तस्तनम् ।
गोपीनां निभृतं निरीक्ष्य गमिताकाङ्क्षश्चिरं चिन्तय-
न्नन्तर्मुग्धमनोहरं हरतु वः क्लेशं नवः केशवः ॥ ३ ॥

[इति जयदेवकृतौ गीतगोविन्दे अक्लेशकेशवो नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥]

□

तृतीयः सर्गः

(मुग्धमधुसूदनः)

कंसारिरपि संसारवासनाबन्धश्रृङ्खलाम् ।
राधामाधाय हृदये तत्याज व्रजसुन्दरीः ॥ १ ॥

[इस पद्य में पथ्या वृत्त है।]

इतस्ततस्तामनुसृत्य राधिकामनङ्गबाणव्रणखिन्नमानसः ।
कृतानुतापः स कलिन्दनन्दिनीतटान्तकुञ्जे विषसाद माधवः ॥ २ ॥

[इस श्लोक में वंशस्थविला नामक वृत्त है। 'वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ'। यह वंशस्थविला वृत्त का लक्षण है।]

अष्टपदी : प्रबन्ध-७

(गुर्जरी राग तथा यति ताल में)

मामियं चलिता विलोक्य वृतं वधूनिचयेन ।
सापराधतया मयापि न वारिताऽतिभयेन ।
हरि हरि हतादरतया गता सा कुपितेव ॥ ध्रुवपदम् ॥ १ ॥

किं करिष्यति किं वदिष्यति सा चिरं विरहेण ।
किं धनेन जनेन किं मम जीवितेन गृहेण ॥ हरि हरि० ॥ २ ॥

चिन्तयामि तदाननं कुटिलभ्रु कोपभरेण ।
शोणपद्ममिवोपरिभ्रमताकुलं भ्रमरेण ॥ हरि हरि० ॥ ३ ॥

[यहाँ पर क्रोध से तमतमाए मुखड़े की सदृशता लाल कमल से तथा कुटिल काली भौंहों की सदृशता काले भ्रमरों की पंक्ति से बतलाए जाने के कारण इस श्लोक में वाक्यार्थी उपमा है ॥ ३ ॥]

तामहं हृदि सङ्गतामनिशं भृशं रमयामि ।
किं वनेऽनुसरामि तामिह किं वृथा विलपामि ॥ हरि हरि० ॥ ४ ॥

तन्वि ! खिन्नमसूयया हृदयं तवाकलयामि ।
तन्न वेद्मि कुतो गतासि न तेन तेऽनुनयामि ॥ हरि हरि० ॥ ५ ॥

दृश्यसे पुरतो गतागतमेव मे विदधासि ।
किं पुरेव ससम्भ्रमं परिरम्भणं न ददासि ? ॥ हरि हरि० ॥ ६ ॥

क्षम्यतामपरं कदापि तवेदृशं न करोमि ।
देहि सुन्दरि ! दर्शनं मम मन्मथेन दुनोमि ॥ हरि हरि० ॥ ७ ॥

वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन ।
किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन ॥ हरि हरि० ॥ ८ ॥

हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे न सा गरलद्युतिः ।

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ? ।। १ ।।

पाणौ मा कुरु चूतसायकममुं मा चापमारोपय
क्रीडानिर्जितविश्व ! मूर्च्छितजनाघातेन किं पौरुषम् ।

तस्या एव मृगीदृशो मनसिज ! प्रेङ्खत्कटाक्षाशुग-
श्रेणीजर्जरितं मनागपि मनो नाद्यापि सन्धुक्षते ।। २ ।।

भ्रूपल्लवं धनुरपाङ्गतरङ्गितानि
बाणा गुणः श्रवणपालिरिति स्मरेण ।

तस्यामनङ्गजयजंगमदेवताया-
मस्त्राणि निर्जितजगन्ति किमर्पितानि ।। ३ ।।

भ्रूचापे निहितः कटाक्षविशिखो निर्मातु मर्मव्यथां
श्यामात्मा कुटिलः करोतु कबरीभारोऽपि मारोद्यमम् ।

मोहं तावदयं च तन्वि ! तनुतां बिम्बाधरो रागवान्
सद्वृत्तः स्तनमण्डलस्तव कथं प्राणैर्मम क्रीडति ? ।। ४ ।।

तानि स्पर्शसुखानि ते च तरलाः स्निग्धा दृशोर्विभ्रमा-
स्तद्वक्त्राम्बुजसौरभं स च सुधास्यन्दी गिरां वक्रिमा ।

सा बिम्बाधरमाधुरीति विषयासङ्गेऽपि चेन्मानसं
तस्यां लग्नसमाधि, हन्त विरहव्याधिः कथं वर्धते ।। ५ ।।

तिर्यक्कण्ठविलोलमौलितरलोत्तंसस्य वंशोच्चर-
द्दीप्तिस्थानकृतावधानललनालक्षैर्न संलक्षिताः ।

सम्मुग्धे मधुसूदनस्य मधुरे राधामुखेन्दौ सुधा-
सारे कन्दलिताश्चिरं ददतु वः क्षेमं कटाक्षोर्मयः ।। ६ ।।

□

चतुर्थः सर्गः

(स्निग्ध मधुसूदनः)

यमुनातीरवानीरनिकुञ्जे मन्दमास्थितम् ।
प्राह प्रेमभरोद्भ्रान्तं माधवं राधिकासखी ।। १ ।।

अष्टपदी : प्रबन्ध–८

(कर्णाट राग तथा एकताली ताल में)

निन्दति चन्दनमिन्दुकिरणमनु विन्दति खेदमधीरम् ।
व्यालनिलयमिलनेन गरलमिव कलयति मलयसमीरम् ।

माधव ! मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।
सा विरहे तव दीना ।। ध्रुवपदम् ।। १ ।।

अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालम् ।
स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनीदलजालम् ।। सा वि० २ ।।

कुसुमविशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयम् ।
व्रतमिव तव परिरम्भसुखाय करोति कुसुमशयनीयम् ।। सा वि० ३ ।।

वहति च चलितविलोचनजलभरमाननकमलमुदारम् ।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम् ।। सा वि० ४ ।।

विलिखति रहसि कुरङ्गमदेन भवन्तमसमशरभूतम् ।
प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम् ।। सा वि० ५ ।।

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम् ।
विलपति हसति विषीदति रोदिति चञ्चति मुञ्चति तापम् ।। सा वि० ६ ।।

प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव ! तव चरणे पतिताहम् ।
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम् ।। सा विं० ७ ।।

श्रीजयदेवभणितमिदमधिकं यदि मनसा नटनीयम् ।
हरिविरहाकुलवल्लवयुवतिसखीवचनं पठनीयम् ।। सा वि० ८ ।।

□

आवासो विपिनायते प्रियसखीमालापि जालायते
तापोऽपि श्वसितेन दाववहनज्वालाकलापायते ।
सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथं
कन्दर्पोऽपि यमायते विरचयञ्शार्दूलविक्रीडितम् ।। १ ।।

अष्टपदी : प्रबन्ध-९

(देशाख्य राग तथा एकताली ताल में)

स्तनविनिहितमपि हारमुदारम् ।
सा मनुते कृशतनुरिव भारम् ।
राधिका तव विरहे केशव ! ।। ध्रुवपदम् ।। १ ।।

सरसमसृणमपि मलयजपङ्कम् ।
पश्यति विषमिव वपुषि सशङ्कम् ।। राधिका ।। २ ।।

श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् ।
मदनदहनमिव वहति सदाहम् ।। राधिका० ।। ३ ।।

दिशि दिशि किरति सजलकणजालम् ।
नयननलिनमिव विगलितनालम् ।। राधिका० ।। ४ ।।

त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ।
बालशशिनमिव सायमलोलम् ।। राधिका० ।। ५ ।।

नयनविषयमपि किसलयतल्पम् ।
कलयति विहितहुताशविकल्पम् ।। राधिका० ।। ६ ।।

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।
विरहविहितमरणेव निकामम् ।। राधिका० ।। ७ ।।

श्रीजयदेवभणितमिति गीतम् ।
सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ।। राधिका० ।। ८ ।।

सा रोमाञ्चति सीत्करोति विलपत्युत्कम्पते ताम्यति
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि ।
एतावत्यतनुज्वरे वरतनुर्जीवेन्न किं ते रसा-
स्स्वर्वैद्यप्रतिम ! प्रसीदसि यदि त्यक्तोऽन्यथा हस्तकः ।। १ ।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द है । दीपकालङ्कार है। विप्रलम्भ श्रृङ्गार नामक रस है। अनुकूल अथवा दक्षिण नायक श्रीभगवान् हैं। उत्कण्ठिता नायिका श्रीराधा है और सखी दूती है, जो श्रीराधा की सहायिका है।]

स्मरातुरां दैवतवैद्यहृद्य ! त्वदङ्गसंगामृतमात्रसाध्याम् ।
विमुक्तबाधां कुरुषे न राधामुपेन्द्र ! वज्रादपि दारुणोऽसि ।। २ ।।
कन्दर्पज्वरसञ्ज्वरातुरतनोराश्चर्यमस्याश्चिरं
चेतश्चन्दनचन्द्रमः कमलिनीचिन्तासु सन्ताम्यति ।

किन्तु क्लान्तिवशेन शीतलतनुं त्वामेकमेव प्रियं
ध्यायन्ती रहसि स्थिता कथमपि क्षीणा क्षणं प्राणिति ।।३।।

[इस श्लोक में विरोधालङ्कार है, अद्भुत रस है तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।]

क्षणमपि विरहः पुरा न सेहे
नयननिमीलनखिन्नया यया ते ।
श्वसिति कथमसौ रसालशाखां
चिरविरहेण विलोक्य पुष्पिताग्राम् ।।४।।

वृष्टिव्याकुलगोकुलावनरसादुद्धृत्य गोवर्धनं
बिभ्रद्वल्लवबल्लभाभिरधिकानन्दाच्चिरं चुम्बितः ।
दर्पेणेव तदर्पिताधरतटीसिन्दूरमुद्राङ्कितो
बाहुर्गोपतनोस्तनोतु भवतां श्रेयांसि कंसद्विषः ।।५।।

[इति श्रीजयदेवकृतौ श्रीगीतगोविन्दे स्निग्धमधुसूदनो नाम चतुर्थः सर्गः ।।४।।]

पञ्चमः सर्गः

(आकाङ्क्षपुण्डरीकाक्षः)

अहमिह निवसामि याहि राधा-
मनुनय मद्वचनेन चानयेथाः ।
इति मधुरिपुणा सखी नियुक्ता
स्वयमिदमेत्य पुनर्जगाद राधाम् ।।१।।

[इस श्लोक में पुष्पिताग्रा वृत्त है ।]

अष्टपदी : प्रबन्ध-१०

(देशवराडी राग तथा रूपक ताल में)

वहति मलयसमीरे मदनमुपनिधाय ।
स्फुटति कुसुमनिकरे विरहिहृदयदलनाय ।।
तव विरहे वनमाली सखि ! सीदति ।।ध्रुवपदम्।।१।।

वहति शिशिरमयूखे मरणमनुकरोति ।
पतति मदनविशिखे विलपति विकलतरोऽति । तव वि० ।।२।।

ध्वनति मधुपसमूहे श्रवणमपिदधाति ।
मनसि कलितविरहे निशि निशि रुजमुपयाति । तव वि० ॥३॥

वसति विपिनविताने त्यजति ललितधाम ।
लुठति धरणिशयने बहु विलपति तव नाम । तव वि० ॥४॥

भणति कविजयदेवे विरहविलसितेन ।
मनसि रभसविभवे हरिरुदयतु सुकृतेन । तव वि० ॥५॥

पूर्वं यत्र समं त्वया रतिपतेरासादिताः सिद्धय-
स्तस्मिन्नेव निकुञ्जमन्मथमहातीर्थे पुनर्माधवः ।
ध्यायंस्त्वामनिशं जपन्नपि तवैवालापमन्त्रावलीं
भूयस्त्वत्कुचकुम्भनिर्भरपरीरम्भामृतं वाञ्छति ॥१॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-११

(गुर्जरीराग तथा एकतालो ताल में)

रतिसुखसारे गतमभिसारे मदनमनोहरवेषम् ।
न कुरु नितम्बिनि ! गमनविलम्बनमनुसर तं हृदयेशम् ॥

धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली ।
गोपीपीनपयोधरमर्दनचञ्चलकरयुगशाली ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥

नामसमेतं कृतसङ्केतं वादयते मृदुवेणुम् ।
बहु मनुतेऽतनु ते तनुसङ्गतपवनचलितमपि रेणुम् ॥ धीर० ॥२॥

पतति पतत्रे विचलति पत्रे शङ्कितभवदुपयानम् ।
रचयति शयनं सचकितनयनं पश्यति तव पन्थानम् ॥धीर० ॥३॥

मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं रिपुमिव केलिसुलोलम् ।
चल सखि ! कुञ्जं सतिमिरपुञ्जं शीलय नीलनिचोलम् ॥धीर०॥४॥

उरसि मुरारेरुपहितहारे घन इव तरलबलाके ।
तडिदिव पीते ! रतिविपरीते राजसि सुकृतविपाके । धीर० ॥५॥

विगलितवसनं परिहृतरसनं घटय जघनमपिधानम् ।
किसलयशयने पङ्कजनयने निधिमिव हर्षनिदानम् । धीर० ॥६॥

हरिरभिमानी रजनिरिदानीमियमपि याति विरामम् ।
कुरु मम वचनं सत्वररचनं पूरय मधुरिपुकामम् । धीर० ॥७॥

श्री जयदेवे कृतहरिसेवे भणति परमरमणीयम् ।
प्रमुदितहृदयं हरिमतिसदयं नमत सुकृतकमनीयम् । धीर० ॥८॥

विकिरति मुहुः श्वासानाशाः पुरो मुहुरीक्षते
प्रविशति मुहुः कुञ्जं गुञ्जन्मुहुर्बहु ताम्यति ।
रचयति मुहुः शय्यां पर्याकुलं मुहुरीक्षते
मदनकदनक्लान्तः कान्ते ! प्रियस्तव वर्तते ॥१॥

[इस श्लोक में हरिणी छन्द तथा दीपकालङ्कार है ॥]

त्वद्वाम्येन समं समग्रमधुना तिग्मांशुरस्तं गतो
गोविन्दस्य मनोरथेन च समं प्राप्तं तमः सान्द्रताम् ।
कोकानां करुणस्वनेन सदृशी दीर्घा मदभ्यर्थना
तन्मुग्धे ! विफलं विलम्बनमसौ रम्योऽभिसारक्षणः ॥२॥

[इस श्लोक में सहोक्ति अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित छन्द है ॥]

आश्लेषादनु चुम्बनादनु नखोल्लेखादनु स्वान्तज-
प्रोद्बोधादनु सम्भ्रमादनु रतारम्भादनु प्रीतयोः ।
अन्यार्थं गतयोर्भ्रमान्मिलितयोः सम्भाषणैर्जानतो-
र्दम्पत्योरिह को न को न तमसि व्रीडाविमिश्रो रसः ॥३॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द, दीपक, समुच्चय तथा भ्रान्तिमान् अलङ्कारों की संसृष्टि है ॥]

सभयचकितं विन्यस्यन्तीं दृशं तिमिरे पथि
प्रतितरु मुहुः स्थित्वा मन्दं पदानि वितन्वतीम् ।
कथमपि रहःप्राप्तामङ्गैरनङ्गतरङ्गिभिः
सुमुखि ! सुभगः पश्यन्स त्वामुपैतु कृतार्थताम् ॥४॥

[इस श्लोक में हरिणी छन्द तथा अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार है ॥]

राधामुग्धमुखारविन्दमधुपस्त्रैलोक्यमौलिस्थली-
नेपथ्योचितनीलरत्नमवनीभारावतारान्तकः ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीजनमनस्तोषप्रदोषोदयः
कंसध्वंसनधूमकेतुरवतु त्वां देवकीनन्दनः ॥५॥

[इस श्लोक में श्लेष, लुप्तोपमा, परिकर तथा वर्णोपमा नामक अलङ्कारों का समावेश है। इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा पाञ्चाली रीति है।]

इति श्री जयदेवकृतौ श्री गीतगोविन्देऽभिसारिकावर्णने
साकाङ्क्षपुण्डरीकाक्षो नाम पञ्चमः सर्गः ।।५।।

□

षष्ठः सर्गः

(धन्यवैकुण्ठकुंकुमः)

अथ तां गन्तुमशक्तां चिरमनुरक्तां लतागृहे दृष्ट्वा ।
तच्चरितं गोविन्दे मनसिजमन्दे सखी प्राह ।।१।।

अष्टपदी : प्रबन्ध-१२

(गुणकरी राग तथा रूपक ताल में)

पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम् ।
तदधरमधुरमधूनि पिबन्तम् ।।
नाथ हरे ! सीदति राधाऽऽवासगृहे ।। ध्रुवपदम् ।।१।।

त्वदभिसरणरभसेन वलन्ती ।
पतति पदानि कियन्ति चलन्ती ।। नाथ हरे० ।।२।।

विहितविशदबिसकिसलयवलया ।
जीवति परमिह तव रतिकलया ।। नाथ हरे० ।।३।।

मुहुरवलोकितमण्डनलीला ।
मधुरिपुरहमिति भावनशीला ।। नाथ हरे० ।।४।।

त्वरितमुपैति न कथमभिसारम् ।
हरिरिति वदति सखीमनुवारम् ।। नाथ हरे० ।।५।।

श्लिष्यति चुम्बति जलधरकल्पम् ।
हरिरुपगत इति तिमिरमनल्पम् ।। नाथ हरे० ।।६।।

भवति विलम्बिनि विगलितलज्जा ।
विलपति रोदिति वासकसज्जा ।। नाथ हरे० ।।७।।

श्रीजयदेवकवेरिदमुदितम् ।
रसिकजनं तनुतामतिमुदितम् ।। नाथ हरे० ।।८।।

□

विपुलपुलकपालिः स्फीतसीत्कारमन्त-
जनितजडिम काकुव्याकुलं व्याहरन्ती ।
तव कितव ! विधायामन्दकन्दर्पचिन्तां
रसजलनिधिमग्ना ध्यानलग्ना मृगाक्षी ॥१॥

['ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इस लक्षण के अनुसार इस श्लोक में मालिनी छन्द तथा रसवदलङ्कार है ।]

अङ्गेष्वाभरणं करोति बहुशः पत्रेऽपि संचारिणि
प्राप्तं त्वां परिशङ्कते वितनुते शय्यां चिरं ध्यायति ।
इत्याकल्पविकल्पतल्परचनासङ्कल्पलीलाशत-
व्यासक्तापि विना त्वया वरतनुर्नैषानिशां नेष्यति ॥२॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द और समुच्चय अलङ्कार है ।]

किं विश्राम्यसि कृष्णभोगिभवने भाण्डीरभूमीरुहि
भ्रातर्यासि न दृष्टिगोचरमितः सानन्दनन्दास्पदम् ।
राधाया वचनं तदध्वगमुखान्नन्दान्तिके गोपतो
गोविन्दस्य जयन्ति सायमतिथिप्राशस्त्यगर्भा गिरः ॥३॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीड़ित छन्द, विप्रलम्भ शृङ्गार रस तथा रीति स्थायीभाव है ।]

(इति श्रीगीतगोविन्दे वासकसज्जावर्णने धन्यवैकुण्ठो नाम षष्ठः सर्गः ॥५॥

सप्तम सर्गः

(नागरनारायणः)

अत्रान्तरे च कुलटाकुलवर्त्मघात-
संजातपातक इव स्फुटलाञ्छनश्रीः ।
वृन्दावनान्तरमदीपयदंशुजालै-
र्दिक्सुन्दरीवदनचन्दनबिन्दुरिन्दुः ॥१॥

प्रसरति शशधरबिम्बे विहितविलम्बे च माधवे विधुरा ।
विरचितविविधविलापं सा परितापं चकारोच्चैः ॥२॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-१३

(मालव राग तथा यति ताल में)

कथितसमयेऽपि हरिरहह न ययौ वनं
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम् ।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवंचिता ।।ध्रुवपदम् ।।१।।

यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितं ।
तेन मम हृदयमिदमसमशरकीलितम् ।। यामि हे० ।।२।।

मम मरणमेव वरमिति वितथकेतना ।
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना ।। यामि हे० ।।३।।

मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी ।
कापि हरिमनुभवति कृतसुकृतकामिनी ।। यामि हे० ।।४।।

अहह कलयामि वलयादिमणिभूषणम् ।
हरिविरहदहनवहनेन बहुदूषणम् ।। यामि हे० ।।५।।

कुसुमसुकुमारतनुमतनुशरलीलया ।
स्रगपि हृदि हन्ति मामतिविषमशीलया ।। यामि हे० ।।६।।

अहमिह निवसामि नगणितवनवेतसा ।
स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा ।। यामि हे० ।।७।।

हरिचरणशरणजयदेवकविभारती ।
वसतु हृदि युवतिरिव कोमलकलावती ।। यामि हे० ।।८।।

□

तत्किं कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभि-
र्बद्धो बन्धुभिरन्धकारिणि वनाभ्यर्णे किमुद्भ्राम्यति ।
कान्तः क्लान्तमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः
सङ्केतीकृतमञ्जुवञ्जुललताकुञ्जेऽपि यन्नागतः ।।१।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित वृत्त तथा संशय नामक अलङ्कार है ।]

अथागतां माधवमन्तरेण सखीमियं वीक्ष्य विषादमूकाम् ।
विशङ्कमाना रमितं कयापि जनार्दनं दृष्टवदेतदाह ।।२।।

अष्टपदी : प्रबन्ध-१४

(वसन्त राग तथा यति ताल में)

स्मरसमरोचितविरचितवेशा
गलितकुसुमदरविलुलितकेशा
कापि मधुरिपुणा विलसति युवतिरधिकगुणा ।। ध्रुवपदम् ।।१।।

हरिपरिरम्भणवलितविकारा ।
कुचकलशोपरि तरलितहारा ।। कापि० ।।२।।

विचलदलकललिताननचन्द्रा ।
तदधरपानरभसकृततन्द्रा ।। कापि० ।।३।।

चञ्चलकुण्डलदलितकपोला ।
मुखरितरसनजघनगतिलोला ।। कापि० ।।४।।

दयितविलोकितलज्जितहसिता ।
बहुविधकूजितरतिरसरसिता ।। कापि० ।।५।।

विपुलपुलकपृथुवेपथुभङ्गा ।
श्वसितनिमीलितविकसदनङ्गा ।। कापि० ।।६।।

श्रमजलकणभरसुभगशरीरा ।
परिपतितोरसि रतिरणधीरा ।। कापि० ।।७।।

श्रीजयदेवभणितहरिरमितम् ।
कलिकलुषं जनयतु परिशमितम् ।। कापि० ।।८।।

विरहपाण्डुमुरारिमुखाम्बुजद्युतिरयं तिरयन्नपि वेदनाम् ।
विधुरतीव तनोति मनोभुवः सुहृदये हृदये मदनव्यथाम् ।।१।।

अष्टपदी : प्रबन्ध-१५

(गुर्जरी राग तथा एकताली ताल में)

समुदितमदने रमणीवदने चुम्बनवलिताधरे ।
मृगमदतिलकं लिखति सपुलकं मृगमिव रजनीकरे ।।

रमते यमुनापुलिनवने विजयी मुरारिरधुना ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥
धनचयरुचिरे रचयति चिकुरे तरलिततरुणाननने ।
कुरबककुसुमं चपलासुषमं रतिपतिमृगकानने ॥ रमते० ॥२॥

घटयति सुघने कुचयुगगगने मृगमदरुचिरूषिते ।
मणिसरममलं तारकपटलं नखपदशशिभूषिते ॥ रमते० ॥३॥

जितबिसशकले मृदुभुजयुगले करतलनलिनीदले ।
मरकतवलयं मधुकरनिचयं वितरति हिमशीतले ॥ रमते० ॥४॥

रतिगृहजघने विपुलापघने मनसिजकनकासने ।
मणिमयरसनं तोरणहसनं विकिरति कृतवासने ॥ रमते० ॥५॥

चरणकिसलये कमलानिलये नखमणिगणपूजिते ।
बहिरपवरणं यावकभरणं जनयति हृदि योजिते ॥ रमते० ॥६॥

रमयति सुभृशं कामपि सुदृशं खलहलधरसोदरे ।
किमफलमवसं चिरमिह विरसं वद सखि ! विटपोदरे ॥ रमते० ॥७॥

इह रसभणने कृतहरिगुणने मधुरिपुपदसेवके ।
कलियुगरचितं न वसतु दुरितं कविनृपजयदेवके ॥ रमते० ॥८॥

नायातः सखि ! निर्दयी यदि शठस्त्वं दूति ! किं दूयसे ?
स्वच्छन्दं बहुवल्लभः स रमते, किं तत्र ते दूषणम् ? ।
पश्याद्य प्रियसङ्गमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणै-
रुत्कण्ठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यसि ॥१॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा काव्यलिङ्ग नामक अलङ्कार है ॥]

अष्टपदी : प्रबन्ध-१६
(देशीवराडी राग तथा रूपक ताल में)

अनिलतरलकुवलयनयनेन ।
तपसि न सा किसलयशयनेन ।
सखि ! या रमिता वनमालिना ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥

[इस पद में श्री राधा ने श्री भगवान् के गुणों का स्तुतिपरक एवं निन्दापरक वर्णन किया है ।]

विकसितसरसिजललितमुखेन ।
स्फुटति न सा मनसिजविशिखेन ।। सखि ! या० ।।२।।

अमृतमधुरमृदुतरवचनेन ।
ज्वलति न सा मलयजपवनेन ।। शखि ! या० ।।३।।

स्थलजलरुहरुचिकरचरणेन ।
लुठति न सा हिमकरकिरणेन ।। सखि ! या० ।।४।।

सजलजलदसमुदयरुचिरेण ।
दलति न सा हृदि चिरविरहेण ।। सखि ! या० ।।५।।

कनकनिकषरुचिशुचिवसनेन ।
श्वसिति न सा परिजनहसनेन ।। सखि ! या० ।।६।।

सकलभुवनजनवरतरुणेन ।
वहति न सा रुजमतिकरुणेन ।। सखि ! या० ।।७।।

श्रीजयदेवभणितवचनेन ।
प्रविशतु हरिरपि हृदयमनेन ।। सखि ! या० ।।८।।

□

मनोभवानन्दन चन्दनानिल !
प्रसीद रे दक्षिण ! मुञ्च वामताम् ।
क्षणं जगत्प्राण ! विधाय माधवं
पुरो मम प्राणहरो भविष्यसि ।।१।।

[इस श्लोक का छन्द वंशस्थ है तथा इसमें अतिशयोक्ति अलंकार है ।।]

रिपुरिव सखीसंवासोऽयं शिखीव हिमानिलो
विषमिव सुधारश्मिर्यस्मिन्दुनोति मनोगते ।
हृदयमदये तस्मिन्नेवं पुनर्वलते बला-
त्कुवलयदृशां वामः कामो निकामनिरंकुशः ।।२।।

[इस श्लोक में हरिणी वृत्त तथा विरोधालंकार है ।।]

बाधां विधेहि मलयानिल ! पञ्चबाण !
प्राणान्गृहाण न गृहं पुनराश्रयिष्ये ।
किं ते कृतान्तभगिनि ! क्षमया तरङ्गै-
रङ्गानि सिञ्च मम शाम्यतु देहदाहः ।।३।।

[इस श्लोक में वसन्ततिलका वृत्त एवं अप्रस्तुतप्रशंसाऽलंकार है ।।]

प्रातर्नीलनिचोलमच्युतमुरः संवीतपीतांशुकं
राधायाश्चकितं विलोक्य हसति स्वैरं सखीमण्डले ।
व्रीडाचञ्चलमञ्चलं नयनयोराधाय राधानने
स्वादुस्मेरमुखोऽयमस्तु जगदानन्दाय नन्दात्मजः ॥४॥

[इस श्लोक में हास्य रस, शार्दूलविक्रीडित वृत्त, स्वभावोक्ति अलङ्कार तथा इस सर्ग में शठ नायक एवं अभिसारिका नायिका है ।

इति श्रीजयदेवकृतौ श्रीगीतगोविन्दे विप्रलब्धावर्णने
नागरनारायणो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

अष्टमः सर्गः

(विलक्ष्यलक्ष्मीपतिः)

अथ कथमपि यामिनीं विनीय स्मरशरजर्जरितापि सा प्रभाते ।
अनुनयवचनं वदन्तमग्रे प्रणतमपि प्रियमाह साभ्यसूयम् ॥१॥

अष्टपदी : प्रबन्ध–१७

(भैरवी राग तथा यति ताल में)

रजनिजनितगुरुजागररागकषायितमलसनिवेशम् ।
वहति नयनमनुरागमिव स्फुटमुदितरसाभिनिवेशम् ।
हरि हरि याहि माधव ! याहि केशव ! मा वद कैतववादम् ।
तामनुसर सरसीरुहलोचन ! या तव हरति विषादम् ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥

[इस श्लोक में पुष्पिताग्रा वृत्त, खण्डिता नायिका, धूर्त नायक, विप्रलम्भ-शृङ्गार रस तथा जाति नामक अलंकार है ।]

कज्जलमलिनविलोचनचुम्बनविरचितनीलिमरूपम् ।
दशनवसनमरुणं तव कृष्ण ! तनोति तनोरनुरूपम् ॥ हरि हरि० ॥२॥

वपुरनुहरति तव स्मरसङ्गरखरनखरक्षतरेखम् ।
मरकतशकलकलितकलधौतलिपेरिव रतिजयलेखम् ॥हरि हरि० ॥३॥

चरणकमलगलदलक्तकसिक्तमिदं तव हृदयमुदारम् ।
दर्शयतीव बहिर्मदनद्रुमनवकिसलयपरिवारम् ॥ हरि हरि० ॥४॥

दशनपदं भवदधरगतं मम जनयति चेतसि खेदम् ।
कथयति कथमधुनापि मया सह तव वपुरेतदभेदम् ॥ हरि हरि० ॥५॥

बहिरिव मलिनतरं तव कृष्ण ! मनोऽपि भविष्यति नूनम् ।
कथमथ वञ्चयसे जनमनुगतमसमशरज्वरदूनम् ॥ हरि हरि० ॥६॥

भ्रमति भवानबलाकवलाय वनेषु किमत्र विचित्रम् ।
प्रथयति पूतनिकैव वधूवधनिर्दयबालचरित्रम् ॥ हरि हरि० ॥७॥

श्रीजयदेवभणितरचितिवञ्चितखण्डितयुवतिविलापम् ।
शृणुत सुधामधुरं विबुधा ! विबुधालयतोऽपि दुरापम् ॥ हरि हरि० ॥८॥

तवेदं पश्यन्त्याः प्रसरदनुरागं बहिरिव
प्रियापादालक्तच्छुरितमरुणद्योति हृदयम् ।
ममाद्य प्रख्यातप्रणयभरभङ्गेन कितव !
त्वदालोकः शोकादपि किमपि लज्जां जनयति ॥१॥

[इस श्लोक में शिखरिणी छन्द तथा उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥]

अन्तर्मोहनमौलिघूर्णनचलन्मन्दारविभ्रंशन-
स्तम्भाकर्षणदृप्तिहर्षणमहामन्त्रः कुरङ्गीदृशाम् ।
दृप्यद्दानवदूयमानदिविषद्दुर्वारदुःखापदां
भ्रंशः कंसरिपोर्विपोलयतु वः श्रेयांसि वंशीरवः ॥२॥

इति श्रीजयदेवकृतौ श्रीगीतगोविन्दे खण्डितावर्णने
विलक्ष्यलक्ष्मीपतिर्नामाष्टमः सर्गः ॥८॥

नवमः सर्गः

(मुग्धमुकुन्दः)

तामथ मन्मथखिन्नां रतिरसभिन्नां विषादसम्पन्नाम् ।
अनुचिन्तितहरिचरितां कलहान्तरितामुवाच रहसि सखी ॥१॥

[इस पद्य में पथ्या आर्या छन्द है ॥]

अष्टपदी : प्रबन्ध-१८

(गुर्जरी राग तथा यति ताल में)

हरिरभिसरति वहति मधुपवने ।
किमपरमधिकसुखं सखि भवने ॥
माधवे मा कुरु मानिनि मानमये ॥ ध्रुव० १ ॥

तालफलादपि गुरुमतिसरसम् ।
किं विफलीकुरुषे कुचकलशम् ।। माधवे० ।।२।।

कति न कथितमिदमनुपदमचिरम् ।
मा परिहर हरिमतिशयरुचिरम् ।। माधवे० ।।३।।

किमिति विषीदसि रोदिषि विकला ? ।
विहसति युवतिसभा तव सकला ।। माधवे० ।।४।।

सजलनलिनीदलशीतलशयने ।
हरिमवलोकय सफलय नयने ।। माधवे० ।।५।।

जनयसि मनसि किमिति गुरुखेदम् ?
शृणु मम वचनमनीहितभेदम् ।। माधवे ।।६।।

हरिरुपयातु वदतु बहुमधुरम् ।
किमिति करोषि हृदयमतिविधुरम् ।। माधवे० ।।७।।

श्रीजयदेवभणितमतिललितम् ।
सुखयतु रसिकजनं हरिचरितम् ।। माधवे० ।।८।।

स्निग्धे यत्परुषासि यत्प्रणमति स्तब्धासि यद्रागिणि
द्वेषस्थासि यदुन्मुखे विमुखतां यातासि तस्मिन्प्रिये ।
तद्युक्तं विपरीतकारिणि तव श्रीखण्डचर्चा विषं
शीतांशुस्तपनो हिमं हुतवहः क्रीडामुदो यातनाः ।।१।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा विरोधालंकार है ।]

सान्द्रानन्दपुरन्दरादिदिविषद्वृन्दैरमन्दादरा-
दानम्रैर्मुकुटेन्द्रनीलमणिभिः सन्दर्शितेन्दिन्दिरम् ।
स्वच्छन्दं मकरन्दसुन्दरगलन्मन्दाकिनीमेदुर
श्रीगोविन्दपदारविन्दमशुभस्कन्दाय वन्दामहे ।।२।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा रूपकालंकार है, क्योंकि चरणों में कमल का, श्रीगङ्गाजी में पराग का तथा देवताओं के मुकुट में जटित इन्द्रनील इत्यादि मणियों में भ्रमर का आरोप किया गया है ।।]

इति श्रीजयदेवकृतौ श्रीगीतगोविन्दे कलहान्तरितावर्णने
मुग्धमुकुन्दो नाम नवमः सर्गः ।।९।।

दशमः सर्गः

(चतुरचतुर्भुजः)

अत्रान्तरे मसृणरोषवशामपारनिःश्वासनिःसहमुखीं सुमुखीमुपेत्य ।
सव्रीडमीक्षितसखीवदनां दिनान्ते सानन्दगद्गदपदं हरिरित्युवाच ॥१॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-१९

(देशवराडी राग तथा अष्टताली ताल में)

वदसि यदि किञ्चिदपि दन्तरुचिकौमुदी
हरति दरतिमिरमतिघोरम् ।
स्फुरदधरशीधवे तव वदनचन्द्रमा
रोचयतु लोचनचकोरम् ॥

प्रिये ! चारुशीले ! मुञ्च मयि मानमनिदानम्
सपदि मदनानलो दहति मम मानसं
देहि मुखकमलमधुपानम् ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥

सत्यमेवासि यदि सुदति ! मयि कोपिनी
देहि खरनखरशरघातम् ।
घटय भुजबन्धनं जनय रदखण्डनं
येन वा भवति सुखजातम् । प्रिये ! ० ॥२॥

त्वमसि मम भूषणं त्वमसि मम जीवनं
त्वमसि मम भवजलधिरत्नम् ।
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी
तत्र मम हृदयमतियत्नम् । प्रिये ! ० ॥३॥

नीलनलिनाभमपि तन्वि ! तव लोचनं
धारयति कोकनदरूपम् ।
कुसुमशरबाणभावेन यदि रञ्जयसि
कृष्णमिदमेतदनुरूपम् ॥ प्रिये ! ० ॥४॥

कुसुमशरबाणभावेन यदि रञ्जयसि

स्फुरतु कुचकुम्भयोरुपरि मणिमञ्जरी
रञ्जयतु तव हृदयदेशम् ।
रसतु रसनापि तव घनजघनमण्डले
घोषयतु मन्मथनिदेशम् । प्रिये ! ० ॥५॥

स्थलकमलगञ्जनं मम हृदयरञ्जनं
जनितरतिरङ्गपरभागम् ।
भण मसृणवाणि ! करवाणि चरणद्वयं
सरसलसदलक्तकरागम् । प्रिये ! ० ॥६॥

स्मरगरलखण्डनं मम शिरसि मण्डनं
धेहि पदपल्लवमुदारम् ।
ज्वलति मयि दारुणो मदनकदनारुणो
हरतु तदुपाहितविकारम् ॥ प्रिये ! ० ॥७॥

इति चटुलचाटुपटुचारु मुरवैरिणो
राधिकामधि वचनजातम् ।
जयति जयदेवकविभारतीभूषितं
मानिनीजनजनितशातम् ॥ प्रिये ! ० ॥८॥

परिहर कृतातङ्के ! शङ्कां त्वया सततं घन-
स्तनजघनयाक्रान्ते स्वान्ते परानवकाशिनि ।
विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोऽपि ममान्तरं
प्रणयिनि ! परीरम्भारम्भे विधेहि विधेयताम् ॥१॥

[इस श्लोक में हरिणी नामक वृत्त तथा काव्यलिङ्ग अलङ्कार है । 'प्रणयिनि' पद में पदौचित्य है तथा वर्णानुप्रास इस श्लोक में विद्यमान है । इस श्लोक की नायिका श्रीराधा प्रौढा नायिका हैं तथा श्रीभगवान् प्रगल्भ नायक हैं ।]

मुग्धे ! विधेहि मयि निर्दयदन्तदंश-
दोर्वल्लिबन्धनिबिडस्तनपीडनानि ।
चण्डि ! त्वमेव मुदमुद्वह पञ्चबाण-
चाण्डालकाण्डदलनादसवः प्रयान्ति ॥२॥

[इस श्लोक में वसन्ततिलका छन्द है तथा रति नामक भाव व्यंग्य है । अतएव इस श्लोक में रसवदलङ्कार है । इस श्लोक के नायक भगवान् श्रीकृष्ण अनुकूल नायक हैं, श्रीराधा मुग्धा नायिका हैं, प्रसाद नामक गुण है तथा वैदर्भी रीति है ।]

शशिमुखि ! तव भाति भंगुरभ्रूर्युवजनमोहकरालकालसर्पी ।
तदुदितभयभञ्जनाय यूनां त्वदधरसीधुसुधैव सिद्धमन्त्रः ॥३॥

[इस श्लोक में पुष्पिताग्रा वृत्त तथा कल्पितोपमा और रूपक अलङ्कार है ।]

व्यथयति वृथा मौनं तन्वि ! प्रपञ्चय पञ्चमं
तरुणि ! मधुरालापैस्तापं विनोदय दृष्टिभिः ।
सुमुखि ! विमुखीभावं तावद्विमुञ्च न मुञ्च मां
स्वयमतिशयस्निग्धो मुग्धे ! प्रियोऽयमुपस्थितः ॥४॥

[इस श्लोक में हरिणी वृत्त, यथासंख्य अलङ्कार, अनुकूल नायक, प्रसाद गुण, कैशिकी वृत्ति, वैदर्भी रीति तथा मागधी गीति है ।]

बन्धूकद्युतिबान्धवोऽयमधरः स्निग्धो मधूकच्छवि-
र्गण्डश्चण्डि ! चकास्ति नीलनलिनश्रीमोचनं लोचनम् ।
नासाभ्येति तिलप्रसूनपदवीं कुन्दाभदन्ति ! प्रिये !
प्रायस्त्वन्मुखसेवया विजयते विश्वं स पुष्पायुधः ॥५॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द, उपमा तथा उत्प्रेक्षालङ्कार है ।]

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसन्दीपनं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम् ।
रतिस्तव कलावती रुचिरचित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि ! पृथ्वीगता ॥६॥

[इस श्लोक में पृथ्वी छन्द तथा कल्पितोपमालङ्कार है ।]

स प्रीतिं तनुतां हरिः कुवलयापीडेन सार्धं रणे
राधापीनपयोधरस्मरणकृत्कुम्भेन सम्भेदवान् ।
यत्र स्विद्यति मीलति क्षणमपि क्षिप्रं तदालोकन-
व्यामोहेन जितं जितं जितमभूत्कंसस्य कोलाहलः ॥७॥

इति श्री जयदेवकृतौ श्री गीतगोविन्दे मानिनीवर्णने
चतुरचतुर्भुजो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः

(सामोददामोदरः)

सुचिरमनुनयेन प्रीणयित्वा मृगाक्षीं
गतवति कृतवेशे केशवे कुञ्जशय्याम् ॥
रचितरुचिरभूषां दृष्टिमोषे प्रदोषे
स्फुरति निरवसादां कापि राधां जगाद ॥१॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-२०

(वसन्त राग तथा यति ताल में)

विरचितचाटुवचनरचनं चरणे रचितप्रणिपातम् ।
सम्प्रति मञ्जुलवञ्जुलसीमनि केलिशयनमनुयातम् ।।
मुग्धे ! मधुमथनमनुगतमनुसर राधिके ! ।। ध्रुवपदम् ।।१।।

घनजघनस्तनभारभरे ! दरमन्थरचरणविहारम् ।
मुखरितमणिमञ्जीरमुपैहि विधेहि मरालनिकारम् ।।मुग्धे०।।२।।

शृणु रमणीयतरं तरुणीजनमोहनमधुपविरावम् ।
कुसुमशरासनशासनबन्दिनि पिकनिकरे भज भावम् ।।मुग्धे०।।३।।

अनिलतरलकिसलयनिकरेण करेण लतानिकुरम्बम् ।
प्रेरणमिव करभोरु ! करोति गतिं प्रति मुञ्च विलम्बम् ।।मुग्धे०।।४।।

स्फुरितमनङ्गतरङ्गवशादिव सूचितहरिपरिरम्भम् ।
पृच्छ मनोहरहारविमलजलधारममुं कुचकुम्भम् ।।मुग्धे०।।५।।

अधिगतमखिलसखीभिरिदं तव वपुरपि रतिरणसज्जम् ।
चण्डि ! रसितरशनारवडिण्डिममभिसर सरसमलज्जम् ।।मुग्धे०।।६।।

स्मरशरसुभगनखेन सखीमवलम्ब्य करेण सलीलम् ।
चल वलयक्वणितैरवबोधय हरिमपि निगदितशीलम् ।।मुग्धे०।।७।।

श्रीजयदेवभणितमधरीकृतहारमुदासितवामम् ।
हरिविनिहितमनसामधितिष्ठतु कण्ठतटीमविरामम् ।।मुग्धे०।।८।।

□

सा मां द्रक्ष्यति वक्ष्यति स्मरकथां प्रत्यङ्गमालिङ्गनैः
प्रीतिं यास्यति रंस्यते सखि ! समागत्येति चिन्ताकुलः ।
स त्वां पश्यति वेपते पुलकयत्यानन्दति स्विद्यति
प्रत्युद्गच्छति मूर्च्छति स्थिरतमःपुञ्जे निकुञ्जे प्रियः ।।१।।

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा दीपक अलङ्कार है ।]

अक्ष्णोर्निक्षिपदञ्जनं श्रवणयोस्तापिच्छगुच्छावलीं
मूर्ध्नि श्यामसरोजदामकुचयोः कस्तूरिकापत्रकम् ।
धूर्तानामभिसारसम्भ्रमजुषां विष्वङ्निकुञ्जे सखि !
ध्वान्तं नीलनिचोलचारु सुदृशां प्रत्यङ्गमालिङ्गति ।।२।।

[इस श्लोक में यथासंख्य अलङ्कार तथा शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।।]

काश्मीरगौरवपुषामभिसारिकाणा-
माबद्धरेखमभितो रुचिमञ्जरीभिः ।
एतत्तमालदलनीलतमं तमिस्रं
तत्प्रेमहेमनिकषोपलतां तनोति ।।३।।

[इस श्लोक में उपमा अलङ्कार तथा वसन्ततिलका वृत्त है ।]

हारावलीतरलकाञ्चनकाञ्चिदाम-
केयूरकङ्कणमणिद्युतिदीपितस्य ।
द्वारे निकुञ्जनिलयस्य हरिं निरीक्ष्य
व्रीडावतीमथ सखीमियमित्युवाच ।।४।।

[इस श्लोक में वसन्ततिलका वृत्त तथा अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।।]

अष्टपदी : प्रबन्ध-२१

(वराडी राग तथा रूपक ताल में)

मञ्जुतरकुञ्जतलकेलिसदने
विलस रतिरभसहसितवदने ! ।।
प्रविश राधे ! माधवसमीपमिह ।। ध्रुवपदम् ।।१।।

नवभवदशोकदलशयनसारे
विलस कुचकलशतरलहारे ! ।।प्रविश० ।।२।।

कुसुमचयरचितशुचिवासगेहे ।
विलस कुसुमसुकुमारदेहे ।। प्रविश० ।।३।।

मृदुचलमलयपवनसुरभिशीते ।
विलस मदनशरनिकरभीते ।। प्रविश० ।।४।।

विततबहुवल्लिनवपल्लवघने ।
विलस चिरमलसपीनजघने ! ।। प्रविश० ।।५।।

मधुमुदितमधुपकुलकलितरावे ।
विलस कुसुमशरसरसभावे ।। प्रविश० ।।६।।

मधुरतरपिकनिकरनिनदमुखरे ।
विलस दशनरुचिरुचिरशिखरे ।। प्रविश० ।।७।।

विहितपद्मावतीसुखसमाजे ।
कुरु मुरारे ! मङ्गलशतानि ।
भणति जयदेवकविराजराजे ।। प्रविश० ।।८।।

त्वां चित्तेन चिरं वहन्नयमतिश्रान्तो भृशं तापितः
कन्दर्पेण च पातुमिच्छति सुधासम्बाधबिम्बाधरम् ।
अस्याङ्कं तदलङ्कुरु क्षणमिह भ्रूक्षेपलक्ष्मीलव-
क्रीते दास इवोपसेवितपदाम्भोजे कुतः सम्भ्रमः ? ।।१।।

सा ससाध्वससानन्दं गोविन्दे लोललोचना ।
सिञ्जानमंजुमंजीरं प्रविवेशाभिवेशनम् ।।२।।

अष्टपदी : प्रबन्ध-२२

(वराडी राग तथा यति ताल में)

राधावदनविलोकनविकसितविविधविकारविभङ्गम् ।
जलनिधिमिव विधुमण्डलदर्शनतरलिततुंगतरङ्गम् ।।
हरिमेकरसं चिरमभिलषितविलासम् ।
सा ददर्श गुरुहर्षवशंवदवदनमनङ्गनिवासम् ।। ध्रुवपदम् ।।१।।

हारममलतरतारमुरसि दधतं परिरभ्य विदूरम् ।
स्फुटतरफेनकदम्बकरम्बितमिव यमुनाजलपूरम् ।। हरि० ।।२।।

श्यामलमृदुलकलेवरमण्डलमधिगतगौरदुकूलम् ।
नीलनलिनमिव पीतपरागपटलभरवलयितमूलम् ।। हरि० ।।३।।

तरलदृगंचलचलनमनोहरवदनजनितरतिरागम् ।
स्फुटकमलोदरखेलितखंजनयुगमिव शरदि तडागम् ।। हरि० ।।४।।

वदनकमलपरिशीलनमिलितमिहिरसमकुण्डलशोभम् ।
स्मितरुचिरुचिरसमुल्लसिताधरपल्लवकृतरतिलोभम् ।। हरि० ।।५।।

शशिकिरणच्छुरितोदरजलधरसुन्दरसकुसुमकेशम् ।
तिमिरोदितविधुमण्डलनिर्मलमलयजतिलकनिवेशम् ।। हरि० ।।६।।

विपुलपुलकभरदन्तुरितं रतिकेलिकलाभिरधीरम् ।
मणिगणकिरणसमूहसमुज्ज्वलभूषणसुभगशरीरम् ।। हरि० ।।७।।

श्रीजयदेवभणितविभवद्विगुणीकृतभूषणभारम् ।
प्रणमत हृदि विनिधाय हरिं सुचिरं सुकृतोदयसारम् ॥ हरि० ॥८॥

अतिक्रम्यापाङ्गं श्रवणपथपर्यन्तगमन-
प्रयासेनेवाक्ष्णोस्तरलतरतारं गमितयोः ।
इदानीं राधायाः प्रियतमसमायातसमये
पपात स्वेदाम्बुप्रसर इव हर्षाश्रुनिकरः ॥१॥

[इस श्लोक में उपमाअलङ्कार और शिखरिणी वृत्त है ।]

भजन्त्यास्तल्पान्तं कृतकपटकण्डूतिपिहित-
स्मितं याते गेहाद्बहिरवहितालीपरिजने ।
प्रियास्यं पश्यन्त्याः स्मरपरवशाकूतसुभगं
सलज्जा लज्जापि व्यगमदिव दूरं मृगदृशः ॥२॥

[इस श्लोक में रसवद् अलङ्कार तथा शिखरिणी वृत्त हैं ।]

सानन्दं नन्दसूनुर्दिशतु मितपरं सम्मदं मन्दमन्दं
राधामाधाय बाह्वोर्विवरमनु दृढं पीडयन्प्रीतियोगात् ।
तुङ्गौ तस्या उरोजावतनु वरतनोर्निर्गतौ मा स्म भूतां
पृष्ठं निर्भिद्य तस्माद्बहिरिति वलितग्रीवमालोकयन्वः ॥३॥

जयश्रीविन्यस्तैर्महित इव मन्दारकुसुमैः
स्वयं सिन्दूरेण द्विपरणमुदा मुद्रित इव ।
भुजापीडक्रीडाहतकुवलयापीडकरिणः
प्रकीर्णासृग्बिन्दुर्जयति भुजदण्डो मुरजितः ॥४॥

[इस श्लोक में शिखरिणी छन्द है, अनुप्रास तथा उत्प्रेक्षालङ्कारों की संसृष्टि है। इस श्लोक में पाञ्चाली रीति, आरभटी वृत्ति तथा वीररस है ।]

सौन्दर्यैकनिधेरनङ्गललनालावण्यलीलाजुषो
राधाया हृदि पल्वले मनसिजक्रीडैकरङ्गस्थले ।
रम्योरोजसरोजखेलनरसित्वादात्मनः ख्यापय-
न्ध्यातुर्मानसराजहंसनिभतां देयान्मुकुन्दो मुदम् ॥५॥

[इस श्लोक में रूपक तथा आशीः अलङ्कारों की संसृष्टि है तथा शार्दूल-विक्रीडित छन्द है ।]

[इति श्रीजयदेवकृतौ श्रीगीतगोविन्दे राधिकामिलने
सानन्ददामोदरो नामैकादशः सर्गः ॥११॥]

द्वादशः सर्गः

(सुप्रीत पीताम्बरः)

गतवति सखीवृन्देऽमन्दत्रपाभरनिर्भर-
स्मरपरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम् ।
सरसमनसं दृष्ट्वा राधां मुहुर्नवपल्लव-
प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरिः प्रियाम् ॥१॥

[इस श्लोक में हरिणी वृत्त है। इस सर्ग की नायिका श्रीराधा स्वाधीनभर्तृका नायिका हैं। शय्या को बार-बार देखने से श्रीराधा की सम्भोग के प्रति इच्छा व्यक्त होती है।]

अष्टपदी : प्रबन्ध-२३

(विभास राग तथा एकताली ताल में)

किसलयशयनतले कुरु कामिनि ! चरणनलिनविनिवेशम् ।
तव पदपल्लववैरिपराभवमिदमनुभवतु सुवेशम् ॥
क्षणमधुना नारायणमनुगतमनुसर राधिके ! ॥ ध्रुवपदम् ॥१॥

करकमलेन करोमि चरणमहमागमितासि विदूरम् ।
क्षणमुपकुरु शयनोपरि मामिव नूपुरमनुगतिशूरम् ॥ क्षण० ॥२॥

वदनसुधानिधिगलितममृतमिव रचय वचनमनुकूलम् ।
विरहमिवापनयामि पयोधररोधकमुरसि दुकूलम् ॥ क्षण० ॥३॥

प्रियपरिरम्भणरभसवलितमिव पुलकितमतिदुरवापम् ।
मदुरसि कुचकलशं विनिवेशय शोषय मनसिजतापम् ॥ क्षण० ॥४॥

अधरसुधारसमुपनय भामिनि ! जीवय मृतमिव दासम् ।
त्वयि विनिहितमनसं विरहानलदग्धवपुषमविलासम् ॥ क्षण० ॥५॥

शशिमुखि ! मुखरय मणिरशनागुणमनुगुणकण्ठनिनादम् ।
श्रुतियुगले पिकरुतविकले मम शमय चिरादवसादम् ॥क्षण० ॥६॥

मामतिविफलरुषा विकलीकृतमवलोकितुमधुनेदम् ।
लज्जितमिव नयनं तव विरमति सृजसि वृथा रतिखेदम् ॥ क्षण० ॥७॥

श्रीजयदेवभणितमिदमनुपदनिगदितमधुरिपुमोदम् ।
जनयतु रसिकजनेषु मनोरमरतिरसभावविनोदम् ॥ क्षण० ॥८॥

प्रत्यूहः पुलकांकुरेण निविडाश्लेषे निमेषेण च
क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथाकेलिभिः ।
आनन्दाधिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्नभू-
दुद्भूतः स तयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियं भावुकः ॥१॥

दोर्भ्यां संयमितः पयोधरभरेणापीडितः पाणिजै-
राविद्धो दशनैः क्षताधरपुटः श्रोणीतटेनाहतः ।
हस्तेनानमितः कचेऽधरमधुस्यन्देन सम्मोहितः
कान्तः कामपि तृप्तिमाप तदहो कामस्य वामा गतिः ॥२॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित छन्द तथा रसवदलङ्कार है। गीतगोविन्द के रसिकप्रिया नामक व्याख्याकार ने इस श्लोक को कामिनीहास नामक पच्चीसवाँ प्रबन्ध तथा इससे पहले वाले श्लोक को इस काव्य का चन्द्रहास नामक चौबीसवाँ प्रबन्ध माना है और अपने कथन की पुष्टि में प्रमाणों का भी उल्लेख किया है। किन्तु इन दोनों प्रबन्धों की चर्चा मूलग्रन्थ में नहीं की गयी है।]

वामाङ्गे रतिकेलिसङ्कुलरणारम्भे तथा साहस-
प्रायं कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भि यत्सम्भ्रमात् ।
निष्पन्दा जघनस्थली शिथिलिता दोर्वल्लिरुत्कम्पितं
वक्षो मीलितमक्षि पौरुषरसः स्त्रीणां कुतः सिध्यति ॥३॥

[इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित वृत्त, सम्भोगश्रृङ्गार रस तथा विशेषोक्ति अलङ्कार है। इस प्रबन्ध का नाम रसिक प्रियाकार ने पौरुषरसप्रेमविलास बतलाया है।]

तस्याः पाटलपाणिजाङ्कितमुरो निद्राकषाये दृशौ
निर्धौताधरशोणिमा विलुलितस्रस्तस्रजो मूर्धजाः ।
काञ्चीदाम दरश्लथाञ्चलमिति प्रातर्निखातैर्दृशो-
रेभिः कामशरैस्तदद्भुतमभूत्पत्युर्मनः कीलितम् ॥४॥

[इस श्लोक में अद्भुतरसोपबृंहित श्रृङ्गार रस और शार्दूलविक्रीडित छन्द है।]

व्याकोशः केशपाशस्तरलितमलकैः स्वेदमोक्षौ कपोलौ
क्लिष्टा बिम्बाधरश्रीः कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टिः ।
काञ्चीकान्तिर्हताशा स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्यः
पश्यन्ती सत्रपा सा तदपि विलुलिता मुग्धकान्तिर्धिनोति ॥५॥

ईषन्मीलितदृष्टि मुग्धविलसत्सीत्कारधारावशा-
दव्यक्ताकुलकेलिकाकुविकसद्दन्तांशुधौताधरम् ।
शान्तस्तब्धपयोधरं भृशपरिष्वङ्गात्कुरङ्गीदृशो
हर्षोत्कर्षविमुक्तनिःसहतनोर्धन्यो धयत्याननम् ॥६॥

अथ सहसा सुप्रीतं सुरतान्ते सा नितान्तखिन्नाङ्गी ।
राधा जगाद सादरमिदमानन्देन गोविन्दम् ॥७॥

अष्टपदी : प्रबन्ध-२४

(रामकरी राग तथा यति ताल में)

कुरु यदुनन्दन ! चन्दनशिशिरतरेण करेण पयोधरे ।
मृगमदपत्रकमत्र मनोभवमङ्गलकलशसहोदरे ॥
निजगाद सा यदुनन्दने क्रीडति हृदयानन्दने ॥ध्रुवपदम्॥१॥

अलिकुलगञ्जनमञ्जनकं रतिनायकसायकमोचने ।
त्वदधरचुम्बनलम्बितकज्जलम् उज्ज्वलय प्रिय ! लोचने ॥निज० ॥२॥

नयनकुरंगतरंगविकासनिरासकरे श्रुतिमण्डले ।
मनसिजपाशविलासधरे शुभवेश ! निवेशय कुण्डले ! निज० ॥३॥

भ्रमरचयं रचयन्तमुपरि रुचिरं सुचिरं मम सम्मुखे ।
जितकमले विमले परिकर्मय नर्मजनकमलकं मुखे ॥ निज० ॥४॥

मृगमदरसवलितं ललितं कुरु तिलकमलिकरजनीकरे ।
विहितकलङ्ककलं कमलानन ! विश्रमितश्रमशीकरे ॥ निज० ॥५॥

मम रुचिरे चिकुरे कुरु मानद ! मनसिजध्वजचामरे ।
रतिगलिते ललिते कुसुमानि शिखण्डिशिखण्डकडामरे ॥ निज० ॥६॥

सरसघने जघने मम शम्बरदारणवारणकन्दरे ।
मणिरशनावसनाभरणानि शुभाशय ! वासय सुन्दरे ॥ निज० ॥७॥

[इस प्रबन्ध के नायक श्रीभगवान् अनुकूल नायक हैं, प्रगल्भा नायिका श्रीराधा हैं तथा इसमें संभोगशृंगार रस है ।]

श्रीजयदेववचसि रुचिरे सदयं हृदयं कुरु मण्डने ।
हरिचरणस्मरणामृतनिर्मितकलिकलुषज्वरखण्डने । निज० ॥८॥

रचय कुचयोश्चित्रं पत्रं कुरुष्व कपोलयो-
र्घटय जघने काञ्चीं मुग्धस्रजा कबरीभरम् ।
कलय वलयश्रेणीं पाणौ पदे मणिनूपुरा
विति निगदितः प्रीतः पीताम्बरोऽपि तथाकरोत् ॥१॥

यद्गान्धर्वकलासु कौशलमनुध्यानं च यद्वैष्णवं
यच्छृंगारविवेकतत्त्वरचनाकाव्येषु लीलायितम् ।
तत्सर्वं जयदेवपण्डितकवेः कृष्णैकतानात्मनः
सानन्दाः परिशोधयन्तु सुधियः श्रीगीतगोविन्दतः ॥२॥

श्रीभोजदेवप्रभवस्य रामादेवीसुतश्रीजयदेवकस्य ।
पराशरादिप्रियवर्गकण्ठे श्रीगीतगोविन्दकवित्वमस्तु ॥३॥

साध्वी माध्वीक ! चिन्ता न भवति भवतः शर्करे ! कर्कशासि
द्राक्षे ! द्रक्ष्यन्ति के त्वाममृत ! मृतमसि क्षीर ! नीरं रसस्ते ।
माकन्द ! क्रन्द कान्ताधर ! धर न तुलां गच्छ यच्छन्ति भावं
यावच्छृंगारसारं शुभमिव जयदेवस्य वैदग्ध्यवाचः ॥४॥

[इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द, आरभटी वृत्ति, वैदर्भी रीति तथा गुणकीर्तन नामक नाट्यालङ्कार है ।]

इत्थं केलितती‍र्विहृत्य यमुनाकूले समं राधया
तद्रोमावलिमौक्तिकावलियुगे वेणीभ्रमं बिभ्रति ।
तत्राह्लादिकुचप्रयागफलयोर्लिप्सावतोर्हस्तयो-
र्व्यापाराः पुरुषोत्तमस्य ददतु स्फीतां मुदां सम्पदम् ॥५॥

[इस प्रबन्ध का नाम सुप्रीतपीताम्बर तालश्रेणी बतलाया है । इस श्लोक में साङ्गरूपकालंकार है । इस श्लोक की नायिका श्रीराधा स्वाधीनभर्तृका नायिका है और इस श्लोक में शार्दूलविक्रीडित वृत्त है ।]

इति श्री जयदेवकृतौ गीतगोविन्दे सुप्रीतपीताम्बरो
नाम द्वादशः सर्गः ॥१२॥

॥ श्री राधाकृष्णाभ्यां नमः ॥

□□□

गीतगोविन्द का सर्ग और प्रबन्ध-सारांश

'गीतगोविन्द' के व्याख्याकार आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी के अनुसार सर्गों के नामों से उनमें निहित विषय भी स्पष्ट है जैसे :—

प्रथम सर्ग का नाम सामोददामोदर, द्वितीय सर्ग का अक्लेशकेशव, तृतीय सर्ग का नाम मुग्धमधुसूदन, चतुर्थ सर्ग का नाम स्निग्धमधुसूदन, पञ्चम सर्ग का साकांक्षपुण्डरीकाक्ष, षष्ठ सर्ग का धन्यवैकुण्ठ, सप्तम सर्ग का नागरनारायण, अष्टम सर्ग का विलक्ष्यलक्ष्मीपति, नवम सर्ग का मुग्धमुकुन्द, दशम सर्ग का चतुरचतुर्भुज, एकादश सर्ग का सानन्ददामोदर तथा अन्तिम द्वादश सर्ग का नाम सुप्रीतपीताम्बर है।

समस्त सर्गों का नाम उन्होंने श्रीभगवान् को विभिन्न मनःस्थितियों के अनुसार रखा है। श्रीराधा श्रीभगवान् की प्रियतमा उनकी अनन्य प्रेयसी तथा मनःस्थिति के परिवर्तन की केन्द्र बिन्दु है।

'गीतगोविन्द' के सभी प्रबन्धों के विषय भी अलग अलग हैं। प्रथम प्रबन्ध में कवि ने श्रीभगवान् के दश अवतारों को स्तुति करते हुए स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण भगवान् ने दस अवतार धारण किए हैं। प्रयोजन-विशेष को दृष्टिपथ में रखकर श्रीभगवान् ने लोकोपकारार्थ मत्स्य, कूर्म, यज्ञवाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि—इन दस दिव्य शरीरों को धारण किया। द्वितीय प्रबन्ध में श्री जयदेव कवि ने बतलाया है, कि एक ही श्रीकृष्ण भगवान् के श्रीविष्णु, सवितृमण्डलमध्यवर्ति, कालियमर्दन, मधुरिपु, श्रीराम आदि रूप हैं। तीसरे प्रबन्ध में सखी ने श्रीराधा को यह बतलाया है, कि श्रीभगवान् ब्रजयुवतियों के साथ यमुना तट पर विहार करते हुए वसन्तोत्सव मना रहे हैं। सखी के द्वारा प्रेरित श्रीराधा ने देखा, कि वस्तुतः श्रीभगवान् ब्रजाङ्गनाओं के साथ वसन्त की मादक वेला में मदन-महोत्सव का अनुभव कर रहे हैं। श्रीभगवान् के द्वारा की जानेवाली अपनी उपेक्षा श्रीराधा के लिए असह्य हो गई। सखी ने श्रीराधा के समक्ष श्रीभगवान् के अन्यनायिकापरत्व का विस्तृत वर्णन चतुर्थ प्रबन्ध में किया है।

द्वितीय सर्ग का प्रारम्भ पाँचवें प्रबन्ध से होता है। श्रीभगवान् की अनन्य प्रेयसी श्रीराधा अपनी सखी के द्वारा श्रीभगवान् की स्वेच्छाचारिता को जानकर

विरहाग्नि की पीड़ा में व्याकुल हो गईं। फिर भी उनका मन भगवान् कृष्ण में ही लगा था। वे चाहती थीं कि श्रीकृष्ण के विषय में न सोचें, किन्तु उन्हें श्रीभगवान् के कल्याणकारक गुण ही याद आते थे। उनके मन में भगवान् के दोषों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह पाता था। छठे प्रबन्ध में उन्होंने अपनी सखी से प्रार्थना की कि श्रीकृष्ण ने इसी यमुना तट के निकुञ्ज गृह में, जहाँ पर मैं विद्यमान हूँ, मेरा कौमार्यापहार किया है। इस प्रकार श्रीराधा ने श्रीमाधव के साथ अपने प्रथम समागम के समस्त सुखद अनुभवों का वर्णन इस प्रबन्ध में किया है।

गीतगोविन्द काव्य का छठा प्रबन्ध तीसरे सर्ग से प्रारम्भ होता है। वसन्त ऋतु की मधुर वेला में ब्रजाङ्गनाओं से परिवृत श्रीभगवान् ने जब यह अनुभव किया कि उनकी नित्य प्रेयसी श्रीराधा उनके समीप नहीं हैं, तो उनका सम्पूर्ण आमोद-प्रमोद विषाद में बदल गया। श्रीभगवान् इधर-उधर श्रीराधा का अन्वेषण कर रहे थे। श्रीराधा को खोजते हुए श्रीकृष्ण यमुनातट के निकुञ्ज, वेतसीलतागृह आदि में आए, किन्तु राधा नहीं मिलीं। समस्त ब्रजाङ्गनाओं को छोड़कर अब विषण्ण वे एकान्त में किसलय-शय्या पर पड़े-पड़े सोच रहे थे, कि कहीं से राधा आ न रही हो। श्रीराधा ने मुझे गोपाङ्गनाओं से आवृत देखा होगा, इसीलिए वह अप्रसन्न होकर कहीं चली गई होगी। उनको अपने किए हुए पर बड़ा पछतावा हो रहा था। राधा ही मेरी प्राणेश्वरी है। यदि वही नहीं, तो वसन्तोत्सव कैसा? वह भी मेरे ही समान कहीं बैठकर दुःखानुभव कर रही होगी। विप्रलम्भ का विषैला प्रभाव उनके तन और मन को बेचैन बना रहा था।

आठवें प्रबन्ध में श्रीराधा-विप्रयोगविषण्ण श्रीकृष्ण के समीप आकर श्रीराधिका की सखी ने श्रीराधा के प्रणयपूर्ण विरह को बतलाया। उसने कहा कि श्रीराधा सम्प्रति विरहाग्नि की भीषण ज्वाला में संतप्त हो रही है। शीतलोपचार के समस्त साधन व्यर्थ हो गए हैं। वह मरणासन्न हो रही है। आपके अभाव में श्रीराधा विक्षिप्त-सी हो गई है। आमोद-प्रमोद के समस्त साधन उसे और संतप्त ही कर रहे हैं।

'गीतगोविन्द' के नवें प्रबन्ध में सखी ने कहा कि—श्रीराधा हार को भी भार समझती है, चन्दन-रस उसे विष के समान संतप्त कर रहा है, मलयानिल उसकी कामाग्नि को और प्रज्ज्वलित कर रही है, उसकी नीलकमल के समान मनोहर आँखों में अश्रुकण ही सर्वदा भरे रहते हैं और अपने हाथों पर गाल रखकर सर्वदा वह आपके ही विषय में सोचती रहती है। नवपल्लवों की शय्या उसे आग की तरह लाल दीखती है। सर्वदा वह आपके श्रीहरि नाम को इस भावना से जपती रहती है, कि जन्मान्तर में भी आप ही उसके पति हों। इस दयनीय स्थिति में आप उसे शीघ्र दर्शन दें, अन्यथा उसके प्राणपखेरू उड़ने ही वाले हैं। जिस राधा ने कभी भी आपके

विप्रयोग को बर्दाश्त नहीं किया, वह आपके बिना इस बसन्तऋतु में भी कैसे जीवित है ? यही आश्चर्य की बात हैं।

गीतगोविन्द का पाँचवाँ सर्ग दसवें प्रबन्ध के साथ प्रारम्भ होता है। श्रीभगवान् ने श्रीराधिका की सखी से कहा कि मैं यहाँ निकुञ्जगृह में हूँ, तुम शीघ्र ही श्रीराधा को यहाँ लाओ। सखी ने भी श्रीराधा के सन्निकट आकर इस सम्पूर्ण प्रबन्ध में श्रीभगवान् की श्रीराधाविषयिणी सतृष्ण आकांक्षा का निवेदन किया। उसने बतलाया कि तुम्हारे बिना श्रीभगवान् विकल है, कामाग्नि की ज्वाला से संतप्त हैं, कोयल की कूजन और भ्रमरों की गुञ्जन उन्हें दुःखी ही बना रही है। प्रहृष्टता उनसे दूर-सी चली गई है। वे लताकुञ्ज में तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

ग्यारहवें प्रबन्ध में सखी ने श्रीराधा से कहा, कि अब तुम्हें श्रीभगवान् के सन्निकट चलने में देर नहीं करनी चाहिए। वे तुम्हारा ही नाम लेकर वंशी बजा रहे हैं। जब कोई पक्षी वृक्ष की शाखा पर बैठता है, तो पत्तों की आवाज़ सुनकर उन्हें आभास होता है, कि किसी ओर से श्रीराधा आ रही हैं। वे घबरा कर तुम्हें देखने के लिए निकुञ्जगृह से बाहर आकर देर तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहते हैं, अतएव तुम शीघ्र अलंकृत होकर श्रीभगवान् के सन्निकट चलो।

गीतगोविन्द काव्य का द्वादश प्रबन्ध षष्ठ सर्ग से प्रारम्भ होता है। सखी ने अनुभव किया, कि श्रीराधा भगवान् के विरह में इतनी कमजोर हो गई हैं, कि श्रीभगवान् तक पहुँचने में असमर्थ हैं। उसने पुनः श्रीभगवान् को बतलाया, कि भगवन् ! श्रीराधा आपके आने की प्रतीक्षा कर रही हैं। सदा वह आपकी राह देखती रहती हैं। वह आपके अभिसारानन्द को याद कर चलती तो हैं; किन्तु कुछ कदम चलकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती हैं। वह अपने में आपका अध्यास करके अनुभव करती हैं, कि मैं ही श्रीकृष्ण हूँ। वह आपकी अनेक लीलाओं को करती हैं। अन्धकार को देखकर उन्हें लगता है, कि श्याममूर्ति श्रीभगवान् आ गए और वह अन्धकार का ही आलिङ्गन और चुम्बन करने लग जाती हैं। वह इतनी दुर्बल और असमर्थ हो गई हैं कि कहीं उनकी यह रात बीत भी न पाए।

सातवें सर्ग का प्रारम्भ त्रयोदश प्रबन्ध से होता हैं। इस प्रबन्ध में कवि ने चन्द्रोदय हो जाने पर विरहिणी नायिका श्रीराधा की मनःस्थिति का विशद वर्णन किया है। चन्द्रमा की शीतल किरणें विरहिणी राधा के लिए अत्यन्त सन्तापकारिणी थीं। वह विलाप करने लगी। उसे लग रहा था, मेरा यौवन और सौन्दर्य सब कुछ व्यर्थ है, अन्यथा मेरे श्रीकृष्ण मेरी इस प्रकार से उपेक्षा क्यों करते ? अब तो मेरा मर जाना ही अच्छा है। वसन्त की रात्रि तो मुझे जलाए जा रही है और श्रीकृष्ण किसी पुण्यशालिनी ब्रजाङ्गना का अनुभव कर रहे हैं। मेरे ये समस्त आभूषण श्रीकृष्ण के बिना व्यर्थ हैं। यह कोमल पुष्पमाला भी काम का बाण बनकर मुझे

सता रही है। काम भी तो कुसुमसायक ही कहलाता है। मैं तो वेतसलतागृह में श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा कर रही हूँ और श्रीकृष्ण मुझे मन से भी याद नहीं करते।

इसी बीच श्रीराधा की सखी श्रीकृष्ण के पास से लौट कर आ गयी, किन्तु वह उदास और मौन थी। आयी हुई सखी को देखकर श्रीराधा के मन में हुआ, कि लगता है, कि मेरी सखी ने उस दशा में श्रीकृष्ण को देखा है, जब कि वे किसी अन्य युवती के साथ विलास कर रहे थे।

गीतगोविन्द के चौदहवें प्रबन्ध में श्रीराधा ने सखी से कहा—सखी! मैं जानती हूँ, कि कामक्रीडा से अनुकूल वेश बनाकर कोई अधिक गुणवती सुन्दरी श्रीभगवान् के साथ रमण कर रही है। श्रीभगवान् के साथ विपरीत रति करने वाली उस रमणी के हार चञ्चल हो रहे होंगे, मुख पर काले घुँघराले केश लटक रहे होंगे, गालों पर चञ्चल कुण्डल सुशोभित होते होंगे, श्रीकृष्ण के देखने पर वह लज्जित होकर मुस्करा देती होगी और अनेक प्रकार के रतिकूजन करती होगी। उसकी श्वासों और काम की गति तीव्र होती होगी और अन्त में स्वेदकण से लथपथ शरीर वाली वह श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर विश्राम करती होगी।

पन्द्रहवें प्रबन्ध में श्रीराधा ने श्रीकृष्ण के साथ रमण करने वाली शङ्कित रमणी के ही अनुमानित स्वरूप का निरूपण किया है। कामकेलि के पश्चात् उस उपभुक्ता रमणी का श्रीकृष्ण किस प्रकार अलङ्करण करते होंगे—इस बात का श्रीराधा ने विशद अनुमान लगाया है। प्रबन्ध के अन्त में श्रीराधा ने कहा—भले ही श्रीकृष्ण ने मेरी उपेक्षा की, वे मेरे पास नहीं आये, किन्तु मेरे प्राण उनकी उपेक्षा नहीं करेंगे; अब वे स्वयं मेरे शरीर से निकल कर उनके पास जायेंगे।

सोलहवें प्रबन्ध में विरहिणी श्रीराधा ने कहा, कि वह नीलकमल के समान नेत्रों वाली भाग्यशालिनी रमणी इस वसन्त ऋतु में मेरे समान संतप्त तो नहीं होती होगी। कामदेव के कुसुमबाण उसके लिए अकिञ्चित्कर प्रतीत होंगे। वह श्रीकृष्ण के अमृत के समान मधुर वचनों को सुनकर प्रसन्न होती होगी। उसके लाल-लाल हाथ-पैर श्रीकृष्ण के मन को बहुत लुभाते होंगे। जलभरे बादलों को देखकर वह प्रसन्न होती होगी, मेरे समान दुःखी नहीं। पीताम्बरधारी श्रीकृष्ण के साथ उसे देखकर उसकी कोई भी सखी उसका उपहास नहीं करती होगी, क्योंकि वह संसार के सर्वश्रेष्ठ युवक श्रीकृष्ण के साथ सुशोभित होती होगी। इस प्रबन्ध के अन्त में श्रीराधा ने करुण विलाप किया। वे काम से प्रार्थना करती थीं, कि वह उनके प्राणों का हरण कर ले।

'गीतगोविन्द' काव्य का आठवाँ सर्ग सत्रहवें प्रबन्ध से प्रारम्भ होता है। श्रीकृष्ण के विरह में संतप्त श्रीराधा ने किसी प्रकार उस वसन्त की रात्रि को बिताया, क्योंकि वह कामसंतप्त थी। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण श्रीराधा के सन्निकट आए

और उनसे प्रणय-प्रार्थना करने लगे। किन्तु श्रीकृष्ण के इस व्यवहार से क्षुब्ध श्रीराधा ने उनसे कहा—श्रीकृष्ण ! रात्रि में आपने बहुत जागरण किया है, आपकी आँखें लाल हैं। हे कमलनयन ! आप जाइए, उसी के साथ रहिए, जिसके साथ आपने रात व्यतीत की है। उसी नायिका के नेत्रों का आँजन आपके अधरों को सुशोभित कर रहा है। उसके द्वारा किए गए नखक्षत से आपके श्यामवर्ण के वक्षस्थल पर कामविजय की रेखा-सी अङ्कित हो गयी है। उसके चरणालक्तक की छाप आपके वक्षस्थल को सुशोभित कर रही है। उसके दन्तक्षत के कारण आपके होंठ अब भी घायल हैं। आपका शरीर ही नहीं, मन भी काला है। लगता है आप अबलाओं का वध करने के लिए वन में विचरण किया करते हैं। आपने बचपन में भी पूतना नामक नारी का वध किया था। हे श्रीकृष्ण ! आपके इस व्यवहार से मुझे कष्ट तो कम होता है, लज्जा अधिक होती है। आपने मेरे प्रख्यात प्रेम को तोड़ दिया है, अतएव आप यहाँ से चले जाएं।

अठारहवें प्रबन्ध में कलहान्तरिता श्रीराधा को एकान्त में समझाते हुए सखी ने कहा—श्रीराधे ! वसन्त की वेला में श्रीभगवान् तुम्हारे पास आए हैं। इससे बड़ा कौन-सा सुख हो सकता है ? तुम अपना मान छोड़ दो। अपने बड़े तथा रसपूर्ण स्तनकलशों को व्यर्थ न बनाओ। मैंने बार-बार तुमसे कहा है, कि श्रीभगवान् का परित्याग अच्छा नहीं। तुम्हारे इस व्यर्थ रुदन को देखकर सभी सखियाँ हँसती हैं। शीतल जलकण युक्त कमलपत्र की शय्या पर श्रीभगवान् से तुम अवश्य मिलो। अपना विषाद छोड़कर श्रीभगवान् से मिलकर मीठी-मीठी बातें करती हुई तुम आनन्दानुभव करो। स्नेह युक्त भी श्रीभगवान् से तुम कलह करती हो, उनसे विमुख बनी हो, इसीलिए तुम्हें कष्ट होता है।

गीतगोविन्द का दसवाँ सर्ग उन्नीसवें प्रबन्ध से प्रारम्भ होता है। सायंकाल की बेला हो गयी, रुष्ट और दीर्घ निःश्वास लेती हुई श्रीराधा के पास आकर श्रीभगवान् ने कहा—श्रीराधे ! तुम मान छोड़ दो, मुझसे कुछ बातें करो, तुम्हारे दाँतों की कान्ति चाँदनी सी उजागर हो। मैं कामसंतप्त हूँ, मुझे चुम्बन दो। कामक्रीड़ा करती हुई तुम नखक्षत तथा दन्तक्षत करो। अपनी भुजाओं के बन्धन में मुझे बाँध लो। तुम ही मेरा भूषण और जीवन हो। तुम्हारे नीलकमल के समान मनोहर नेत्र अब भी कोपकषायित हैं, यह बड़े खेद की बात है। तुम कामबाणों का प्रहार मेरे ऊपर करो, अपने स्तनों को सजाओ, तुम्हारी घुँघरू की आवाज वाली करधनी काम की राजाज्ञा का उद्घोष करे। मैं तुम्हारे लाल-लाल पैरों को अलक्तक रस से रञ्जित कर देना चाहता हूँ। तुम अपनी शंका छोड़ दो। तुम जैसा सोचती हो, वैसा दोष मुझमें नहीं है। अब मेरे साथ कामक्रीड़ा करो। अपना मौन भंग करो, इससे मुझे कष्ट होता है; कुछ भी तो बोलो। तुम्हारे पुष्पवत् अङ्ग-प्रत्यङ्ग मुझे कामदेव के समान मादक प्रतीत होते हैं। तुम एक हो, किन्तु तुम में अनेक देवसुन्दरियों का निवास है।

एकादश सर्ग का प्रारम्भ बीसवें प्रबन्ध से होता है। इस प्रबन्ध में सखी ने श्रीराधा से कहा, कि अब तो श्रीभगवान् ने तुमसे क्षमा भी माँग ली, अतएव तुम्हें उनका अनुसरण करना चाहिए। तुम भी उनके साथ वञ्जुललतागृह में प्रवेश करो। हंस के समान चलती हुई तुम्हारे पैरों के नूपुर एक बार झंकृत हो जाएँ। देखो, कोयल कामदेव के सन्देश को सुना रही है, शीतल मन्द सुगन्ध वायु बह रही है और तुम्हारे फड़कते हुए स्तन श्रीहरि के भावी आलिङ्गन को सूचित करते हैं। अब तो तुम सजो और अपनी सखियों का हाथ पकड़ कर रतिकेलिनिकुञ्ज में प्रवेश करो। वहाँ पर श्रीकृष्ण तुम्हारी प्रतीक्षा व्यग्रता-पूर्वक कर रहे हैं। तुम्हारी आँखों में अंजन, कानों में तमालपत्र, गले में नीलकमल की माला, शरीर पर नीला वस्त्र डालने का काम अकेले यह अन्धकार ही करेगा; अतएव इस अन्धेरे में ही जाकर श्रीभगवान् से तुम मिलो।

इक्कीसवें प्रबन्ध में कवि ने बतलाया है, कि सखी के द्वारा प्रेरित श्रीराधा रतिकेलिनिकुञ्ज के दरवाजे पर पहुँची, तो वहाँ पर व्यग्रता से प्रतीक्षा करते हुए श्रीकृष्ण को देखकर वह लज्जा से लाल हो गयी। इस प्रकार लज्जित श्रीराधा को देखकर सखी ने कहा—श्री राधे ! इस मनोहर रतिनिकुञ्ज में तुम प्रवेश करो। नवीन पल्लवों से बनी शय्या पर तुम श्रीकृष्ण के साथ विपरीत रति करो। तुम्हारे स्तनों के हार चञ्चल हो जाएँ। पुष्पों से समलंकृत इस विलास-निकुञ्ज में तुम विलास करो। रतिजन्य श्रमापहारिणी शीतल मन्द सुगन्ध बयार चल रही है, अतएव यहाँ पर तुम दीर्घ काल तक श्रीमाधव के साथ विलास करो। भंवरे गुञ्जन कर रहे हैं, कोयल कूक रही है। यही तुम्हारा श्रीकृष्ण के साथ विलास करने का समय है। अब देर न करो, इस समय श्रीकृष्ण तो तुम्हारे क्रीतदास हैं। तुम इनके अङ्ग को समलंकृत करो, ये तुम्हारे पैरों की सेवा करेंगे।

बाइसवें प्रबन्ध में श्रीराधा ने लतानिकुञ्ज में प्रवेश किया। आयी हुई श्रीराधा को देखकर श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न थे। उनके शरीर पर कामविकार स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहे थे। श्याम वर्ण के शरीर पर हार सुशोभित हो रहा था, पीताम्बर धारण किए हुए उनकी आँखें चञ्चल हो गयी थीं, गालों पर कुण्डल सुशोभित हो रहे थे और वे मुस्कुरा रहे थे। काले घुंघराले बालों के बीच-बीच में पुष्प लगे हुए थे। उनका पूरा शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। इस प्रकार से मनोहर श्रीकृष्ण को देखकर प्रसन्न श्रीराधा की बड़ी-बड़ी आंखों से हर्षजन्य अश्रु के बिन्दु निकल पड़े। चतुर सखियों ने देखा कि हम लोगों के यहाँ रहने से श्रीराधा-माधव के मधुर मिलन में व्यवधान हो रहा है। अतएव वह तरह-तरह का बहाना बनाकर उस रतिकेलिनिकुञ्ज से बाहर चली गयीं। अब क्या था, श्रीकृष्ण को एकान्त में प्रेमपूर्वक देखती हुई श्रीराधा को देखकर लज्जा भी लज्जित होकर श्रीराधा से दूर चली गयी। श्रीकृष्ण ने आनन्दपूर्वक श्रीराधा को अपनी भुजाओं के विशाल अन्तराल

में भर लिया और प्रेमपूर्वक गाढालिङ्गन करते समय गर्दन घुमाकर अपनी पीठ की ओर मानों इस शङ्का से वे देख रहे थे, कि कहीं राधा के कठोर स्तन उनकी पीठ को फोड़कर बाहर न निकल आये हों ।

गीतगोविन्द काव्य का अन्तिम बारहवाँ सर्ग तेइसवें प्रबन्ध से प्रारम्भ होता है । श्रीराधा-माधव को स्वछन्द मिलन का अवसर प्रदान करने के लिए सखियाँ विभिन्न प्रकार का बहाना बनाकर लतानिकुञ्ज से बाहर चली गयीं । कामपरतन्त्र श्रीराधा श्रीकृष्ण को देखकर मुस्कुराती हुई बार-बार किसलयशय्या को देख रही थीं । उनके मन के भावों को समझकर श्रीकृष्ण ने कहा – सुन्दरि ! इस किसलयशय्या पर अपने चरणकमलों को रखो । तुम दूर से चलकर आयी हो, थक गयी होगी; मैं तुम्हारे पैरों को दबा देता हूँ । अपने मुखचन्द्र से वचनामृत का उच्चारण करो । मेरे और तुम्हारे मिलन में बाधक तुम्हारे उन्नत उरोजों पर विद्यमान वस्त्र को मैं हटा दे रहा हूँ । तुम अपने मङ्गलमय स्तनकलशों को मेरे वक्षस्थल पर स्थापित कर दो । इससे मेरा कामसन्ताप दूर हो जाएगा । मैं तुम्हारे अधरों के अमृत का पान करके पुनर्जीवित होना चाहता हूँ । मैं चाहता हूँ कि तुम्हारी मणिमयी करधनी ध्वनित हो और रतिकालिक कण्ठध्वनि भी मेरे कानों को आप्यायित करे । तुमने व्यर्थ ही मेरे ऊपर क्रोध किया था, अब तो मुझे स्नेहपूर्वक देखो । इसके पश्चात् श्रीराधा-माधव की अत्यन्त मनोहर कामक्रीड़ा प्रारम्भ हुई । पुरुषायित रतिव्यापृत श्रीराधा ने अपने स्तनों का भार श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर रख दिया, उन्हें अपने भुजपाश में बाँध दिया । श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर नखक्षत किया और उनके होंठों को अपने दाँतों से काट लिया । अपनी जाँघों से श्रीकृष्ण को असकृत् प्रताड़ित करती हुई हाथों से उनके बालों को पकड़ कर खींचा तथा उनके अधरों का पान करके मोहित कर दिया । श्रीराधा की इस क्रिया से श्रीकृष्ण को अत्यधिक तृप्ति हुई । लगता है, कि श्रीराधा ने श्रीकृष्ण पर विजय प्राप्त करने के लिए बड़े जोर-शोर से पुरुषायित रति प्रारम्भ की थी, किन्तु वे हार गयी । उसकी जाँघें निश्चेष्ट हो गईं, भुजलताएँ शिथिल हो गयीं, हृदय लम्बी श्वास के कारण जोर-जोर से उछल रहा था और अपनी आँखें बन्द करके वे श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर सो गयीं । प्रातःकाल श्रीकृष्ण ने जब श्रीराधा के नखक्षत युक्त वक्षस्थल, नींद से व्याकुल लाल-लाल आंखें, लाली रहित स्वच्छ अधर, मुर्झायी तथा बालों से खुलकर गिरी माला तथा अस्त-व्यत केशकलाप को देखा ही नहीं कि, तो वे देखते ही रह गए । उनका मन कीलित हो गया । खुले काले घुंघराले चञ्चल बाल श्रीराधा के मुख को मधुर बना रहे थे, गालों पर पसीने की सूखी रेखाएँ तथा मुरझाई ओठों की शोभा सबके सब श्रीकृष्ण के लिए आकर्षण के साधन थे । स्तनों की कान्ति हार की शोभा को तिरस्कृत कर रही थी तथा करधनी भी फीकी प्रतीत होती थी । जगकर अपने को वस्त्ररहित देखकर लज्जित श्रीराधा ने अपने हाथों से अपने स्तनों तथा जाँघों

को ढँक लिया। श्रीराधा के इस सौन्दर्य ने श्रीकृष्ण के मन को मोहित कर लिया। श्रीराधा का तात्कालिक मनोहर मुख देखने का सौभाग्य तो कोई भाग्यवान् पुरुष ही प्राप्त कर सकता था।

चौबीसवाँ प्रबन्ध गीतगोविन्द का अन्तिम प्रबन्ध है। कामक्रीड़ा के अन्त में श्रीराधा ने देखा, कि श्रीकृष्ण प्रसन्न हैं। उन्होंने श्रीकृष्ण से कहा—प्रियतम ! मेरे मनोहर स्तनों पर आप कस्तूरी रस से पत्रक का निर्माण कर दें, मेरी आँखों का काजल फिर से ठीक कर दें, मेरे कानों में कुण्डल पहना दें, मुख पर पड़े बालों को हटाकर आप मेरे मुखड़े को सजा दें। अष्टमी के चन्द्र के समान मनोहर मेरे ललाट पर कस्तूरी का तिलक लगा दें। मेरे काले घुँघराले बालों में पुष्प सजा दें और अपने हाथों से प्रसन्नतापूर्वक मेरी जाँघों पर करधनी सजाएँ। इस प्रकार श्रीराधा ने जो-जो कहा, श्रीकृष्ण ने प्रसन्न मन से उन सभी कार्यों को किया।

□ □ □

नाट्य मण्डप या नाट्यशाला

भारतीय रंगमंचों का जितना विशद एवं सांगोपांग वर्णन भरत के नाट्शास्त्र में मिलता है, उतना अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। ध्वनि कम्पनों के आवर्तन और परावर्तन के आधार पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर जो नाट्य मण्डप (Theatres) इस शताब्दी में विकसित हुए हैं, वे भवन ध्वनिकी (Architectural Acoustics) की कला के उत्कृष्टतम उदाहरण हैं। लेकिन वे भरतकालीन नाट्य मण्डपों की वैज्ञानिक दृष्टि को कम नहीं करते, अपितु यह देखकर आश्चर्य होता है, कि विद्युत व्यवस्था के अभाव में उस काल के नाट्य मण्डपों की तुलना आज के अच्छे नाट्य मण्डप या सभागृह से की जा सकती है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण बम्बई में निर्मित टाटा सभागृह है, जिसमें ध्वनि विस्तारक यंत्रों को न लगाकर ऐसी व्यवस्था की गई है, कि सभागृह में बैठा प्रत्येक दर्शक मंच पर उपस्थित कलाकार की ध्वनि को बिना माइक के समान रूप से स्पष्ट सुन सके।

भरत के अनुसार कुशल विश्वकर्मा ने लौकिक सभागृह या प्रेक्षागृह के विषय में विचार करके शास्त्र के अनुसार उसके आकार को तीन प्रकार से निर्धारित किया। उसके मण्डप आयत, वर्ग तथा त्रिभुज आकार में तीन प्रकार के होते हैं। उनके तीन प्रमाण (माप) ज्येष्ठ, मध्यम तथा हीन (बड़ा, मँझला और छोटा) हैं। इनके माप हस्त दण्ड के आधार पर १०८ हाथ, ६४ हाथ तथा ३२ हाथ निर्धारित किए गए हैं। बड़ा (ज्येष्ठ) नाट्यगृह १०८ हाथ का, बीच का (मध्यम) ६४ हाथ का और छोटा (कनिष्ठ) ३२ हाथ का होता है। देवताओं के लिए ज्येष्ठ नाट्यगृह, राजाओं के लिए मध्यम और अन्य सामान्य जनों के अभिनय के लिए छोटे नाट्यगृह का विधान किया गया है। सभी सभागृहों में मध्यम आकृति का सभागृह अधिक उपयुक्त माना गया है, क्योंकि कथोपकथन (संवाद) और गायन सरलता से सुना जा सकता है। वास्तु शास्त्र के ज्ञाताओं ने आयत, वर्ग तथा त्रिकोण आकारों की तीन नाट्यगृहों की विधियाँ कही हैं।

नाट्यवेद के प्रयोग करनेवालों के द्वारा त्र्यस्र (त्रिकोण) को सबसे छोटा, चतुरस्र (वर्ग) को मध्यम तथा विकृष्ट (आयत) को बड़ा जाना जाए। प्रेक्षागृहों के प्रमाण तथा लक्षण, जो विश्वकर्मा ने बताए हैं, वे इस प्रकार हैं :—

अणु, रज, बाल, लिक्षा, यूका, यव, अंगुल, हस्त व दण्ड इतने प्रकार के माप बताए गए हैं। आठ अणु का रज (कण), आठ रजकणों का एक बाल, आठ बालों की एक लिक्षा (लीख), आठ लीखों का एक जूं, आठ जुंओं का एक जौ, आठ जौ का एक अंगुल होता है और २४ अंगुल का एक हाथ माना जाता है। ४ हाथ का एक दण्ड माप के रूप में निर्धारित है।

उपर्युक्त नाट्यगृहों में मनुष्यों के लिए जो हो, उसकी लम्बाई ६४ हाथ और चौड़ाई ३२ हाथ होनी चाहिए। निर्माताओं को इससे विस्तृत नाट्य मण्डप नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि ऐसे नाट्यगृह में नाटक की अभिव्यक्ति स्पष्ट न हो सकेगी। निश्चित मान से अधिक मण्डप के विस्तृत होने पर कथोपकथन तथा पाठ्य का स्वर, साधारण वाणी (ध्वनि) के धर्म के अनुसार दूर तक न जा सकने के कारण, अधिक वैस्वर्य को प्राप्त होता है और इसी प्रकार अभिनेता के मुख के अनेक प्रकार के दृष्टि विक्षेपों से समन्वित भाव सभागृह के विस्तृत होने पर अव्यक्त रह जाते हैं। अतः सभागृहों या प्रक्षागृहों में मध्यम (चतुरस्र) विस्तार वाला सबसे अधिक वांछित माना जाता है, क्योंकि उसमें समस्त पाठ्य व गान भली भाँति सुना जा सकता है।

वास्तु शिल्पियों ने सभी प्रकार के सभागृह या प्रेक्षागृहों की तीन विधियाँ बताई हैं—आयत (विकृष्ट), चतुरस्र (वर्ग) तथा त्र्यस्र (त्रिभुज)। त्रिभुजाकार को छोटा, वर्गाकार को मध्यम और आयताकार को बड़ा प्रेक्षागृह कहा है। देवता लोग गृह तथा उपवन आदि की रचना संकल्प मात्र से कर लेते थे, परन्तु मनुष्यों की सभी सर्जनात्मक भावनाएँ प्रयत्नों के द्वारा हीं सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए मनुष्य को देवताओं द्वारा सम्पादित कार्य के विषय में स्पर्धा नहीं करनी चाहिए।

मनुष्य के प्रेक्षागृह के लक्षणों का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

सर्वप्रथम निर्माता या प्रयोक्ता को भूमि के विभागों का परीक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् वास्तु शास्त्र के अनुसार निर्माण कार्य प्रारम्भ करना चाहिए। जो भूमि समतल, स्थिर, कठोर तथा काले अथवा सफेद रंग की हो, उसी पर निर्माताओं के द्वारा नाट्यगृह बनवाए जाने चाहिए। पहले तो भूमि का शोधन करें। फिर प्रेक्षागृह की इमारत का माप करना चाहिए। उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तर भाद्रपद, बुध (सौम्य), विशाखा, रेवती, पुष्य और अनुराधा नामक नक्षत्रों के योग नाट्यगृह के निर्माण के लिए शुभ हैं। उचित तिथि, अनुकूल मुहूर्त तथा शुभ करण (तिथि का अर्द्ध भाग) में ब्राह्मणों को संतुष्ट करके पुण्याह का वाचन कराए। तदनन्तर शान्ति पाठ के जल को छिड़ककर सूत (डोरी) को फैलाए और ३४ हाथ लम्बी भूमि नापकर फिर पीछे के भाग को दो भागों में बाँट दे। उस आधे-आधे बँटे हुए का जो पिछला भाग है, उसके भी आधे विभाग में रंगशीर्ष की परिकल्पना की जाए। इसके भी पिछले भाग में नेपथ्य गृह का विधान किया जाए। कहे हुए ढंग से विधिपूर्वक ठीक-ठीक विभागों में बाँटकर शुभ नक्षत्रों के योग में मण्डप की

नीवें रखनी चाहिए और शंख तथा दुन्दुभी के निर्घोष के साथ मृदंग तथा पणव इत्यादि समस्त वाद्यों को बजाकर उसकी स्थापना (शिलान्यास) करनी चाहिए। इस अवसर पर अनिष्टकारी वस्तुओं, पाखंडियों आश्रमियों (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थियों आदि), काषाय वस्त्रधारी व्यक्ति (श्रमण, संन्यासी आदि) तथा विकलांग जनों को हटा देना चाहिए।

रात्रिकाल में विविध प्रकार के भाजनों से पुष्प, गन्ध तथा फलों से युक्त बलि दशों दिशाओं में (उनके अधिष्ठित देवताओं को लक्ष्य करके) समर्पित करनी चाहिए। पूर्व में शुक्ल (सफेद) अन्न से युक्त, दक्षिण में नील अन्न से युक्त, पश्चिम में पीले तथा उत्तर में लाल रंग के अन्न से युक्त अर्पित करनी चाहिए। जिस दिशा में जैसे देवता की कल्पना की गई है, उस दिशा में मंत्रों से पुरस्कृत वैसी ही बलि अर्पित की जानी चाहिए। शिलान्यास (नीवें रखने) के समय घृतयुक्त पायस ब्राह्मणों को दिया जाना चाहिए; राजा को मधुपर्क और गुड़युक्त चावल (मीठा भात) काम करने वालों को दिया जाना चाहिए। बुद्धिमान् जनों के द्वारा प्रेक्षागृह का स्थापन (नीवें) मूल नक्षत्र में, अनुकूल तिथि और मुहूर्त में शुभकरण की स्थिति में होना चाहिए। इसकी नींव पड़ जाने के बाद दीवाल उठाने का कार्य (भित्तिकर्म) प्रारम्भ होना चाहिए; भित्तिकर्म समाप्त होने पर स्तम्भों की स्थापना की जानी चाहिए।

शुभ तिथि में, नक्षत्रों के शुभ योग में तथा शुभकरण में स्तम्भों की स्थापना रोहिणी अथवा श्रवण नक्षत्रों में होनी चाहिए। तीन रातों तक उपवास कर चुके भली भाँति सुस्थिर चित्तवाले नाट्याचार्य के द्वारा, शुभ सूर्योदय काल में स्तम्भों की स्थापना की जानी चाहिए। सबसे पहले घी और सरसों से संस्कार करके ब्राह्मण स्तम्भ की स्थापना की जाती है। इससे सम्बद्ध सभी पूजा की विधि श्वेत रंग से की जानी चाहिए और इसके उपलक्ष्य में पायस को बाँटना चाहिए। इसके अनन्तर क्षत्रिय स्तम्भ की स्थापना में वस्त्र, मालाएँ तथा अनुलेप सभी लाल वर्ण की दी जानी चाहिए और गुड़ का भात (मीठा भात) ब्राह्मणों को देना उचित है और उत्तर के कोण में वैश्य स्तम्भ की स्थापना होना चाहिए, उसकी स्थापन-विधि पीले रंग की वस्तुओं से की जानी चाहिए और ब्राह्मणों को घी में पका भात दिया जाना चाहिए। पूर्व-उत्तर कोण में शूद्र नामक स्तम्भ पर भली प्रकार प्रयत्नपूर्वक प्रायः नीले रंग की सब विधि प्रस्तुत करनी चाहिए और ब्राह्मण भोजन के रूप में खिचड़ी दी जानी चाहिए। पूर्वोक्त ब्राह्मण-स्तम्भ के मूल भाग में, जो सफेद रंग की माला तथा अनुलेपन से युक्त है, सुवर्ण का कर्णाभरण स्थापित करना चाहिए। क्षत्रिय नामक स्तम्भ के मूल में ताँबा तथा वैश्य नामक स्तम्भ के मूल में चाँदी देनी चाहिए। शूद्र-स्तम्भ में लोहा दिया जाय तथा अन्य शेष स्तम्भों के मूल में सोना स्थापित किया जा सकता है।

स्वस्ति वाचन, पुण्याह वाचन तथा जयघोष के साथ पुष्प तथा मालाओं से सज्जित करके स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए। प्रचुर रत्न, गौ तथा वस्त्रादि

दान देकर ब्राह्मणों को सन्तुष्ट करके स्तम्भों को उठाना चाहिए। स्तम्भों का उत्थापन इस प्रकार करना चाहिए, कि वे अचल रहें, अकम्प भी हों तथा वैसे ही अविचलित भी हों, क्योंकि स्तम्भों को भली भांति उठाने में ये दोष माने गए हैं। स्तम्भ के चलायमान होने पर अवृष्टि, उसके वलित होने पर मृत्यु-भय तथा उसके कम्पित होने पर शत्रुसमूह से दारुण भय होता है। इन दोषों से रक्षा करते हुए शुभ रीति से स्तम्भ की स्थापना करनी चाहिए और ब्राह्मण नामक स्तम्भ की स्थापना में गाय की दक्षिणा दी जानी चाहिए। शेष स्तम्भों के उत्थापन में कर्ताओं (मण्डप निर्माताओं) को भोजन कराना चाहिए और नाट्याचार्य को मंत्रों से पवित्र करके उन भोज्य वस्तुओं को वितरित करना चाहिए। पुरोहित और राजा को मधुपायस (खीर का एक प्रकार) तथा निर्माताओं को (कारीगरों को) नमकीन खिचड़ी का भोजन कराए। इस प्रकार इन सभी विधियों को सम्पन्न करके, सब प्रकार के वाद्यों को वजा कर वास्तु-शास्त्र की उचित रीति से अभिमंत्रित करके स्तम्भों को उठाए। 'जिस प्रकार मेरु पर्वत अचल है और हिमालय महाशक्तिशाली है, हे स्तम्भ, तू उसी प्रकार अचल तथा राजा के लिए जय प्रदान करने वाला हो।'

इस प्रकार वास्तु-शास्त्रज्ञ विधि के अनुसार निर्दिष्ट शैली से स्तम्भ द्वार, दीवाल तथा नेपथ्यगृह का निर्माण करे। रंगपीठ के पार्श्व में मत्तवारणी का निर्माण होना चाहिए, मत्तवारणी चार स्तम्भों से युक्त रंगपीठ के बराबर माप की होनी चाहिए। यह मत्तवारणी ऊँचाई में डेढ़ हाथ होनी चाहिए, और मत्तवारणी तथा रंगमण्डप की ऊँचाइयों में एक दूसरे से तुल्यता होनी चाहिए। मत्तवारणी के स्थान पर माला, धूप, गन्ध और उसी प्रकार विविध रंगों के वस्त्र अर्पित किए जाने चाहिए और भूत-जनों को रुचिकर लगनेवाली बलि भी दी जानी चाहिए। कुशल कारीगरों के द्वारा स्तम्भों के नीचे लोहा लगाया जाना चाहिए और ब्राह्मणों के भोजन में खिचड़ी ही दी जानी चाहिए। इस प्रकार वास्तु शास्त्र की समुचिति विधियों के अनुसार मत्तवारणी का निर्माण करके तदनन्तर रंगपीठ की रचना निर्दिष्ट विधि के अनुसार की जानी चाहिए। रंगशीर्ष (रंग की ऊपरी सतह) षड्दारुक के ढाँचे पर भली प्रकार आधारित होना चाहिए और नेपथ्यगृह के दो द्वार रखने चाहिए। रंगशीर्ष के पटाव के लिए हल से जोतकर ढेलों, तिनकों और कंकड़ (रेह या रेत आदि) से रहित की हुई काली मिट्टी डालनी चाहिए। हल में सफेद रंग के बैल यत्नपूर्वक जोते जाने चाहिए और यहाँ अन्य काम करनेवाले ऐसे लोगों को लगाना चाहिए जो अंगदोष से रहित हों। सर्वांगसम्पन्न सुदृढ़ पुरुषों के द्वारा नई टोकरियों से मिट्टी ढोने का कार्य कराना चाहिए और इस प्रकार प्रयत्नपूर्वक रंगशीर्ष की रचना की जाए। रंगशीर्ष को न तो कछुआ की पीठ की (मध्य में ऊँचा) तरह होना चाहिए और न मछली की पीठ की तरह (मध्य में कुछ गहरा), वरन् दर्पणतल के समान रंगशीर्ष श्रेष्ठ माना जाता है। कुशल कारीगरों के द्वारा रंगशीर्ष में रत्न भी जड़े जाने चाहिए; पूर्व में हीरा, दक्षिण में वैदूर्य, पश्चिम में स्फटिक, उत्तर में

मूँगा और मध्य में सोना, इस क्रम से लगाया जाय। इस प्रकार रंगशीर्ष का निर्माण करने के बाद लकड़ी का काम आरम्भ करना चाहिए।

यह लकड़ी का कार्य बहुत सोच-समझ और निरीक्षण-परीक्षण के बाद प्रारम्भ होना चाहिए। इसमें अनेक शिल्पों (शिल्पविधियों) का प्रयोग होता है, अनेक सज्जा की विधियों का उपयोग किया जाता है और यह अनेक सर्प, सिंह तथा हाथी आदि जंगली जानवरों की मूर्तियों से सुशोभित होता है। अनेक प्रकार की पुतलिकाओं से यह चारों ओर से सजा होना चाहिए, यह सुन्दर व्यवस्थित वेदिकाओं पर आधारित द्वारों और कपाटों से सज्जित होता है। अनेक शैलियों में बनी हुई सुन्दर चौकोर तथा गोल जालियों से तथा स्तम्भों के ऊपरी भाग और मूल-भाग सुन्दर कटावदार कार्निशों से युक्त होते हैं। इस तरह विविध प्रकार के कुट्टिमों (फर्शों) पर स्थापित स्तम्भों से युक्त इस लकड़ी के कार्य को सम्पादित करने के बाद दीवार बनाने का (भित्तिकर्म) काम आरम्भ करना चाहिए। स्तम्भ, नागदन्त (खूँटी) खिड़की, कोण अथवा अवान्तर द्वार किसी अन्य द्वार के सम्मुख नहीं होना चाहिए।

नाट्यमण्डप पर्वत-कन्दरा के आकार का तथा दो भूमियों वाला (दो भिन्न स्तरों पर) होना चाहिए और ध्वनि को गम्भीर बनाने की दृष्टि से इसमें छोटी खिड़कियाँ होनी चाहिए तथा ऐसा हो जिसमें वायु का प्रवेश न हो सके। पात्रों, गायकों तथा बाजों का स्वर गम्भीरता को प्राप्त हो, इसलिए शिल्पियों को नाट्यमण्डप वायुशून्य बनाना चाहिए। दीवार उठाने के बाद उसपर लेप (प्लास्टर) करवाए और उस लेप के ऊपर (बाहर) चूने की पुताई का कार्य प्रयत्न के साथ करवाना चाहिए। दीवारों के लिप जाने तथा सब ओर से परिमार्जित समतल शोभायुक्त हो जाने पर उन पर चित्रों का अंकन करना अपेक्षित है। चित्रकारी में स्त्री-पुरुष जनों (युग्मों) के अंकन किए जाने चाहिए, लताबन्ध आदि मैथुन प्रकारों वाली रतिक्रीड़ा के चरितों का आलेखन होना उचित है। वास्तु-शास्त्र के ज्ञाताओं के द्वारा इस प्रकार विकृष्ट नामक नाट्यमण्डप का निर्माण किया जाना चाहिए।

चतुरश्र (वर्गाकार) नामक नाट्यमण्डप का लक्षण इस प्रकार बताया गया है—

नाट्यशास्त्रवेत्ता को शुभ भूमिभाग में स्थित चारों ओर बत्तीस-बत्तीस हाथ का नाट्यमण्डप (चतुरश्र नामक) बनाना चाहिए। जो विधि, जो लक्षण तथा जिस प्रकार का मांगलिक कृत्य पहले विकृष्ट (आयत) के बारे में निर्दिष्ट किए गए हैं, पूर्णरूप से उसी प्रकार चतुरश्र (वर्गाकार) नाट्यगृह में भी करवाए। सूत से सम्यक् रीति से स्थानों का विभाजन करके चौकोर और सम बनाकर चिनी हुई ईंटों से मजबूत दीवार बनानी चाहिए। प्रयोक्ताओं के द्वारा उसमें भीतरी भाग में रंगपीठ के ऊपर मण्डप को धारण करना चाहिए।

नाट्यशास्त्र वेत्ता को शुभ भूमिभाग में स्थित चारों ओर ३२-३२ हाथ का नाट्य मण्डप (चतुरश्र नाम) बनाना चाहिए। विकृष्ट नाट्य मण्डप के अन्तर्गत जो

विधि, लक्षण और मांगलिक कृत्य बताए गए हैं उन्हीं को यहाँ भी कराया जाना चाहिए। सूत (डोरी) द्वारा सम्यक् रीति से स्थानों का विभाजन करके चौकोर और सम बनाकर चिनी हुई ईंटों से मजबूत दीवार बनानी चाहिए। प्रयोक्ताओं के द्वारा उसमें भीतरी भाग में रंगपीठ के ऊपर मण्डप को धारण करने में समर्थ १० स्तम्भों की स्थापना करनी चाहिए। स्तम्भों के बाहर प्रेक्षकों के बैठने के लिए ईंट तथा लकड़ी की सीढ़ियों के रूप में पीठ अर्थात् बैठने का स्थान बनाना चाहिए। धरातल से आधे हाथ भर ऊँची और एक हाथ चौड़ी क्रमशः उठती हुई पंक्तियों द्वारा दर्शकों को बैठने की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए, जिससे रंगपीठ के दृश्य को समुचित रीति से देखा जा सके।

उपर्युक्त स्तम्भों के अतिरिक्त वास्तुविद् को नाट्य मण्डप के भीतरी भाग में दिशाओं के क्रम से मण्डप धारण करने में समर्थ छह अन्य स्तम्भों को भी विधिपूर्वक स्थापित करना चाहिए। उनके चारों ओर आठ स्तम्भों की स्थापना करके उनके मध्य में आठ हाथ लम्बी पीठों (Seats) की स्थापना करनी चाहिए। इन आठ हाथ लम्बी पीठों का मुख उलटा रंगपीठ की ओर होता है। विज्ञ निर्माताओं को शालभंजिकाओं (पुत्तलिकाओं) से अलंकृत मण्डप को धारण करने के लिए अन्य स्तम्भ भी बनाए जाने चाहिए, जो मण्डप के बोझ को (शहतीरों को) सँभालने में सहायक हों।

इसके पश्चात् शास्त्र विधि से नेपथ्यगृह का निर्माण करना चाहिए, जिसमें रंगपीठ में प्रवेश करने के लिए एक द्वार हो। एक दूसरा द्वार पहले की समानता में विपरीत दिशा में बाहर से नेपथ्य में लोगों के प्रवेश के लिए बनाया जाए और रंग के दूसरी ओर सामने दूसरा द्वार बनाया जाना चाहिए। इसका रंगपीठ प्रमाण में आठ हाथ का चौकोर, समतल और वेदिका के समान सजा हुआ होना चाहिए। जैसा पहले कहा गया है, उसी माप के अनुसार वेदिका (रंगपीठ) के सम्मुख पार्श्व में चार स्तम्भों से युक्त मत्तवारिणी का निर्माण करना चाहिए। रंगपीठ या तो इससे अधिक ऊँचा या इसके समान हो। आयताकार नाट्य मण्डप में यह ऊँचा होता है और वर्गाकार नाट्य मण्डप में दोनों समतल होने चाहिए। इस तरह इस विधि से चतुरस्र नामक नाट्यगृह बनाया जाता है।

त्रिभुजाकार नाट्य मण्डप का लक्षण इस प्रकार बताया गया है :—

निर्माताओं के द्वारा इस नाट्यगृह की योजना त्रिभुजाकार करनी चाहिए और इसके मध्य कोण (शीर्ष कोण) में रंगपीठ की स्थापना की जानी चाहिए। एक द्वार इस मध्य कोण पर स्थित होना चाहिए और दूसरा द्वार रंगपीठ के पीछे बनाना चाहिए। दीवारों, खम्भों आदि के बारे में जिस विधि का कथन वर्गाकार नाट्य मण्डप के अन्तर्गत किया गया है, वह सब त्रिभुजाकार नाट्यगृह में भी प्रयुक्त होना चाहिए।

इस प्रकार नाट्य मण्डप की रचना का विस्तृत उल्लेख करके भरत ने उसकी विधिवत् पूजा का विधान भी बताया है, जिसमें कहा है, कि शुभ नाट्यगृह का निर्माण

हो जाने पर उसमें जप में परायण ब्राह्मणों के साथ सात दिन तक गाय निवास करें। अनन्तर रात्रि होने पर अपने शरीर को मंत्रों से पवित्र किए हुए जल से पोंछकर, घर से अन्यत्र स्थान पर रखकर, दीक्षा ग्रहण कर, शरीर तथा मन से पवित्र रहकर, तीन रात्रि उपवास रखकर तथा नवीन वस्त्र धारणकर नाट्याचार्य देवताओं का आह्वान करके उनको नाट्यगृह तथा रंगपीठ में अधिवासित करे। फिर सभी लोकों को उत्पन्न करने वाले मूलकारण रूप शिव, जगत् के पितामह ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, स्वामी कार्तिकेय, सरस्वती, लक्ष्मी, सिद्धि, मेधा, धृति, स्मृति, चन्द्र, सूर्य, मरुत, लोकपाल, दोनों अश्विनीकुमार, मित्र, अग्नि, स्वर तथा वर्णों, रुद्रों, काल, कलि, मृत्यु, नियति, कालदण्ड, विष्णु के चक्र, नागराज वासुकि, वज्र, बिजली, समुद्रों, गन्धर्वों, अप्सराओं मुनियों (भूतों, पिशाचों, यक्ष, गुह्यकों, महासर्पों, असुरों तथा अन्यान्य नाट्य में विघ्न डालने वाले दैत्यों तथा राक्षसों) नाट्य कुमारियों, महाग्रामणी, यक्षों, गुह्यकों, भूत मण्डलों तथा अन्य देवर्षियों को नमस्कार कर, नाट्यगृह में जिनके लिए जो स्थान नियत है, उनका वहाँ हाथ जोड़कर आह्वान करके कहे—'आप रात्रि में हमको अपने संरक्षण में रखें और अपने अनुगामियों क साथ इस नाट्य में आपके द्वारा सहायता भी दी जानी चाहिए।'

इस प्रकार पूजा के पश्चात् नाट्य की निर्विघ्न सिद्धि के लिए जर्जर (इन्द्र की ध्वजा) तथा रग का पूजन बताया गया है और कहा गया है कि रंगदैवत का यह पूजन यज्ञ के समान है। इसके बिना नाट्य का अभिनय नहीं करना चाहिए। रंग के देवता पूजे जाने पर पूजनीय और सम्मानित होने पर सम्मानित करते हैं, अतः पूर्ण प्रयत्न के साथ रंग का पूजन करना चाहिए। आँधी से प्रज्ज्वलित आग भी उतनी तेजी के साथ भस्म नहीं करती, जितनी तेजी से नाट्य का अशुद्ध (दूषित) प्रयोग रंगाचार्य को क्षण भर में नष्ट कर डालता है। शास्त्रज्ञ, विनीत, शरीर और मन से सदा पवित्र, दीक्षा प्राप्त व शांत प्रकृति के नाट्याचार्य के द्वारा रंगपूजन किया जाना चाहिए। इस प्रकार प्रयोक्ताओं को नवीन नाट्यगृह में अभिनय क आरम्भ में रंग-पूजन की समस्त विधि का विधिवत् अनुष्ठान करना चाहिए।

पूर्वरंग

यवनिका (नाटक का पर्दा) उठने से पूर्व पूजन इत्यादि से संबंधित समस्त क्रियाओं को ही पूर्वरंग अर्थात् नाट्य कर्म से पूर्व की क्रियाएँ कहा जाता है।

नाट्यशास्त्र के अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अभिनवगुप्त की अभिनव भारती, नारद के संगीत मकरंद, शारदातनय के भावप्रकाश, बसवराज के शिवतत्त्व-रत्नाकर, संगीत चूड़ामणि, इत्यादि ग्रन्थों में भी नाट्यमण्डप के पर्याप्त उल्लेख मिलते हैं। प्राचीनकाल से नाट्यमण्डलियों द्वारा परम्परागत रूप से इनके निर्माण और पूजन का विधान आज तक चला आ रहा है, जो शहरी सभ्यता से दूर ग्रामीण अञ्चलों में देखा जा सकता है। □□□

ध्वनि एवं प्रकाश और मंच सज्जा

प्राचीनकाल में प्रकाश के अभाव के कारण प्रायः दिन में ही नाट्य प्रदर्शन हुआ करते थे। रात्रि में दीपकों के द्वारा मंच को आलोकित किया जाता था और साथ ही बड़ी-बड़ी मशालों का प्रयोग भी किया जाता था। देहाती क्षेत्रों में आज भी नर्तक या नर्तकी के साथ मशाल के रूप में प्रकाश व्यवस्था रहती है। नाट्य का कलाकार या नर्तकी जैसे-जैसे नृत्य करते हुए गली मुहल्लों में घूमती है तो मशाल लेकर उसके साथ एक या दो व्यक्ति चलते हैं। १६-वीं शताब्दी में यूरोप में मशालों के प्रकाश में नाट्याभिनय होता था। १७-वीं और १८-वीं शताब्दी में मोमबत्ती और तेलदीपों का प्रचलन हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में गैस के प्रकाश की व्यवस्था हुई और फिर विद्युत की रोशनी से मंच जगमगाने लगे। दो हजार वर्ष पूर्व की भारत, तिब्बत तथा नेपाल की अनेक गुफाओं में आकर्षक रंगों की जो चित्रकारी देखने को मिलती है उससे प्राचीन भारत की उन्नत प्रकाश व्यवस्था का पता तो लगता है लेकिन उसके विज्ञान के बारे में अब तक जानकारी नहीं हो सकी है।

भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यमण्डल (ऑडिटोरियम) की ध्वनि-व्यवस्था के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भवन निर्माण की कला बहुत उन्नत थी तथा प्रेक्षागृह को इस प्रकार बनाया जाता था, कि ध्वनि-विस्तारक-यंत्र (Sound System) की आवश्यकता ही न पड़े और सभी प्रेक्षकों को संवाद अथवा संगीत की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़े।

आज ध्वनि-विज्ञान और प्रकाश-विज्ञान अत्यन्त उन्नत दशा में हैं। इसलिए रंगमंच पर *विभिन्न ध्वनि उपकरणों (Sound Equipments), ध्वनि-प्रभाव (Sound Effects)*, स्लाइड प्रोजेक्शन तथा हल्की और तेज *प्रकाश व्यवस्था* के लिए विभिन्न प्रकाश उपकरणों (Light Equipments) जैसे—पाद प्रकाश के लिए 'फुट लाइट', शीर्ष प्रकाश के लिए 'बैटन्स', तीव्र प्रकाश के लिए 'फ्लड लाइट', बिन्दु प्रकाश के लिए 'स्पॉट लाइट' और 'इफैक्ट्स प्रोजेक्टर' का प्रयोग किया जा रहा है। वातावरण को यथार्थ बनाने के लिए विज्ञान की सहायता से आज जितना किया जा सकता है,

वह पहले उपलब्ध नहीं था। अतः इन सबका लाभ उठाने में नर्तक को समर्थ होना चाहिए। कार्यक्रम की प्रस्तुति और सफलता का श्रेय आज की इस व्यवस्था को दिया जाए, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। जब कलाकार की कला भी गुण सम्पन्न होती है, तो इन सबसे मिलकर दर्शक और श्रोता अद्वितीय रसानन्द का अनुभव करते हैं।

ध्वनि एवं प्रकाश व्यवस्था के साथ-साथ नर्तक को निम्नलिखित बातों का भी ध्यान रखना चाहिए :—

१. संगीत के लिए अच्छे गायक और वादक रखने चाहिए। बेसुरे अथवा खराब कंठ वाले गायक से उत्कृष्ट नृत्य भी नीरस हो जाता है।

२. छन्द या कवित्त नर्तक को यथासंभव स्वयं नहीं बोलना चाहिए। हाँफते-हाँफते जब माइकोफ़ोन के नज़दीक पहुँचकर नर्तक पढ़न्त करता है, तो बहुत बुरा प्रतीत होता है। इससे छन्द में निहित रस नष्ट हो जाता है। अतः अपनी मण्डली के किसी कलाकार को यह काम सौंप देना चाहिए। इस बीच नर्तक सीधा खड़ा रहकर कुछ भाव भंगिमाएँ प्रदर्शित कर सकता है।

३. माइक पर कितनी दूरी से बोलना चाहिए तथा वाद्यों की माइक से कितनी दूरी हो, ताकि इच्छित और प्रभावशाली ध्वनि श्रोता-दर्शकों को अधिक सुनाई पड़े, इसका ध्यान रखना चाहिए।

४. मंच पर पैर के आघात मारने से माइक में अनुकूल ध्वनि जानी चाहिए।

५. प्रदर्शन के समय नर्तक को मंच पर बहुत आगे या बहुत पीछे खड़े रखने की प्रवृत्ति नहीं रखनी चाहिए। इससे दर्शकों पर उचित प्रभाव नहीं पड़ता तथा ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था भी प्रभावित होती है।

६. नाचते-नाचते मंच पर प्रायः घुंघरू निकल जाया करते हैं। इन घुंघरुओं को हटाने के लिए नर्तक को शर्म नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह पैरों को बड़ा आघात पहुँचा सकते हैं। यदि नर्तक किसी कारण ऐसे छिटके हुए घुंघरुओं पर ध्यान न दे पाए, तो वादकों में से किसी को उठकर उन्हें तुरन्त हटा देना चाहिए।

७. कुछ नर्तक स्वयं ठुमरी गाते हैं और फिर भाव प्रदर्शन करते हैं। हमारी राय में यह अधिक शोभनीय नहीं लगता। इससे उनकी नर्तनकला प्रभावित होती है। गान-पद्धति पर ध्यान जाने से नृत्य के प्रति दर्शकों की वृत्ति बँट जाती है। यह ऐसा ही है, जैसे कोई सितारवादक अपने वादन के बीच में गाना गाए या कोई गायक कलाकार गाते-गाते तबला भी बजाए। दो कलाओं का सम्मिलित प्रयोग दर्शक व श्रोता को उनकी कला में तुलना करने के लिए बाध्य करता है, जिसमें कलाकार की मुख्य कला को क्षति पहुँचती है। यदि ऐसा न हो, तो वादन में कुशल कलाकार नाचते हुए ढोलक भी क्यों न बजाएँ या गायन में मध्य में ठुमका लगाएँ!

वास्तव में ध्वनि, प्रकाश तथा नृत्य तीनों का संतुलित प्रयोग ही नर्तक को कीर्ति प्रदान करता है।

नाट्य मण्डप या नाट्यशाला के मंच की साज-सज्जा पर आजकल विशेष ध्यान दिया जाता है। प्राचीनकाल में जब विद्युत उपकरण नहीं थे, तब मंच (Dias) को लोकरुचि के अनुसार मांगलिक वस्तुओं से सजाया जाता था, जिनमें केले के पत्ते, आम्र वृक्ष और अशोक की पत्तियों से बने हुए तोरण, मिट्टी के घड़े, पुष्प, रंग-बिरंगे कपड़ों की झंडियां, मिट्टी और गोबर से बने हुए स्वस्तिक चित्र तथा विविध प्रकार के लौकिक उपकरणों की प्रधानता रहती थी। नाट्य-प्रदर्शन की सफलता के लिए रङ्गपूजा के अन्तर्गत विभिन्न देवी-देवताओं तथा भूत इत्यादि गणों से सम्बन्धित पूजा एवं अनिष्टकारी तत्वों से बचने के लिए मंत्रोच्चारणों के साथ स्तुति, पूजा-अर्चना का विधान था, जिसका विस्तृत उल्लेख भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है। भरत ने 'रंगसज्जा' के लिए अनेक वस्तुओं को बताया है।

आजकल मंच सज्जा के लिए आधुनिक तौर-तरीकों को इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन पुष्प, आकर्षक तोरण, पीतल का दीपदान जैसी चीजों का समावेश भी उसमें रहता है। मंच सज्जा के लिए आवश्यक है, कि जो कार्यक्रम वहाँ प्रस्तुत होने वाला हो, उससे वह पूरी तरह मेल खाए। आजकल एकल (सोलो) प्रदर्शन के लिए अधिक सजावट की आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन जब कोई नृत्य-नाटिका प्रस्तुत करनी होती है, तो मंच को उसकी विषय-वस्तु के अनुसार स्वरूप प्रदान करना होता है। मंच सज्जा से कथावस्तु का आकर्षण बढ़ता है और कथावस्तु से मंच सज्जा पर प्रभाव पड़ता है। दोनों चीजें मिलकर प्रेक्षक पर प्रभाव डालती हैं।

मंच सज्जा में प्रमुख रूप से दृश्य-सज्जा, ध्वनि तथा प्रकाश व्यवस्था का प्रमुख हाथ होता है। जब कोई विशेष नाटक या नृत्य-नाटिका का प्रदर्शन किया जाता है, तो मंच को उन वस्तुओं से सजाया जाता है, जिनसे वे मुखर हो उठें। स्पष्ट ध्वनि का सुनाई पड़ना एवं विभिन्न कोणों से मुख्य पात्रों को प्रकाशित करना तथा नर्तक व नर्तकियों को विविध रंगी प्रकाश द्वारा आलोकित करके सहृदयों के मन में स्थायी भावों को जगाकर उन्हें रसानुभूति की अवस्था में पहुँचाना होता है। इसके लिए पार्श्व ध्वनियों का प्रयोग भी किया जाता है। साथ ही दृश्य की सजीवता के लिए विविध अलंकरण और उपादान प्रयुक्त किए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि नाटक में राम वन में विचरण कर रहे हैं, तो मंच पर पर पर्दे अथवा फिल्म के माध्यम से पहाड़, नदी, वृक्ष एवम् घास-फूस की झोपड़ियों को दिखाना पड़ेगा और यदि कोई राज-भवन का दृश्य हो, तो उसे तदनुकूल भव्यता प्रदान करनी होगी। यदि कहा

जाए कि वर्तमान काल में मंच सज्जा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है, तो कोई गतिशयोक्ति न होगी। लेकिन स्वांग, नौटंकी, कथकली या रासलीला जैसे लोकधर्मी प्रदर्शनों में आज भी परम्परागत वेशभूषा, रूप-सज्जा और मंच सज्जा का ध्यान रखा जाता है। सूर्योदय हो या सूर्यास्त, दिन हो या रात, बसन्तऋतु हो या वर्षाऋतु, सभी कुछ वाद्ययंत्रों के माध्यम से दिखाया जाता है। लेकिन आज के युग में ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था अत्यन्त उन्नत होने के कारण दृश्य को इतना सजीव बना दिया जाता है, कि दर्शकगण स्वयं भी उसके साथ एकरूप हो जाते हैं।

□□□

नृत्य नाटिका का रचनात्मक ज्ञान

नृत्य रचना की कला को अँग्रेजी में 'कॉरियोग्राफी' कहा जाता है, जो अपने में एक स्वतन्त्र कला है। जब नर्तक को अंग और उपांगों से सम्बन्धित सम्यक् ज्ञान हो जाता है और उसकी सृजनात्मक क्षमता में वृद्धि हो जाती है, तो वह आसानी से नृत्यनाट्य या नृत्यनाटिका की रचना कर सकता है। आज इस कला की आवश्यकता बढ़ गई है, इसलिए उसका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी हो गया है।

प्रत्येक नर्तक कॉरियोग्राफर नहीं हो सकते अर्थात् नृत्य-रचयिता नहीं हो सकते और कोई अच्छा नृत्य रचयिता अच्छा नर्तक भी हो, यह आवश्यक नहीं है। नृत्य की बारीकियों को जानना; विविध नृत्य पद्धतियों से परिचित होना; विभिन्न भाषाओं तथा रीतिरिवाजों का ज्ञान; विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकारों की समझ रखना; चित्रकला का ज्ञान; लोकसङ्गीत का ज्ञान; साहित्य एवं संस्कृति का ज्ञान; कल्पनाशीलता; संगीत के विविध अंग व वाद्ययंत्रों की जानकारी तथा रंगमंचीय विधाओं का सम्यक् ज्ञान रखना एक श्रेष्ठ नृत्य रचयिता के लिए परम आवश्यक है। भाव प्रधान, अलंकार प्रधान, दृश्य प्रधान एवं चमत्कार प्रधान तत्वों का समावेश करके नृत्य नाटिका को आकर्षक बनाया जा सकता है।

फ़िल्म के क्षेत्र में उपर्युक्त बातों का ध्यान रखा जाता है, इसलिए वे नृत्य अधिक लोकप्रिय होते हैं। यद्यपि फ़िल्म की कला और मंच की कला में अन्तर है, फिर भी दोनों कलाएँ एक दूसरे के गुणों को ग्रहण कर सकती हैं। भारत की विभिन्न शास्त्रीय नृत्य शैलियों के श्रेष्ठ गुरुओं ने फिल्म के क्षेत्र में नृत्य-रचयिता के रूप में अपना योगदान दिया है। फ़िल्म के नृत्य और मंच के नृत्य को समझना नृत्य रचयिता के लिए जरूरी है।

मंच का नृत्य

मंच के नृत्यों में विषय वस्तु और उससे सम्बन्धित काल की अवधि के अनुसार एक निरन्तरता बनाए रखनी पड़ती है, ताकि कथा और अभिव्यक्ति का क्रम बना रहे। गायक, वादक और नर्तक सभी इस क्रम एवं उसकी तारतम्यता का ध्यान

रखते हैं। क्रम में अवरोध होने से प्रस्तुति को धक्का लगता है। नृत्य के समस्त अंगों का ध्यान रखते हुए तथा एकल नृत्य अथवा सामूहिक नृत्य की रचना का ध्यान रखते हुए नृत्य रचयिता उससे सम्बन्धित प्रस्तुति से कलाकारों को अवगत कराते हुए उन्हें प्रदर्शन के लिए अभ्यस्त करता है। इसमें कलात्मक तत्वों के साथ चमत्कार-प्रधान तत्वों का भी समायोजन रहता है। ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था, मंच सज्जा, रूप सज्जा तथा आवश्यक वस्त्राभूषणों का चुनाव और संगीत के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करते हुए नृत्य रचयिता को प्रयासरत रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रेक्षकों में बैठे साधारण जन और गुणीजन इत्यादि सभी का ध्यान रखते हुए नृत्य रचना करनी पड़ती है। पात्रों की शक्ति, क्षमता, रूप-रंग, मंच की परिधि और कार्यक्रम की अवधि का ध्यान भी नृत्य रचयिता को रहता है।

फ़िल्म का नृत्य

फ़िल्म के नृत्य में निर्माता या निर्देशक से जानना होता है, कि कुल कितने व किस प्रकार के नृत्यों की रचना (कोरियोग्राफी) करनी है। इसके बाद पहले से रिकार्ड किए हुए गीत या संगीत को सुनकर उसकी अवधि निश्चित की जाती है और फिर पात्रों की संख्या का निर्धारण करके उनके स्वरूप, फ़िल्मांकन के स्थल, गीत-संगीत और कहानी के अनुकूल ऐसे नृत्य की रचना की जाती है, जो साधारण दर्शकों का हल्का-फुल्का मनोरंजन कर सके। इसीलिए एक नृत्य को भिन्न-भिन्न साज-सज्जाओं के साथ भिन्न-भिन्न स्थलों पर फ़िल्माया जाता है।

फ़िल्म के नृत्य में नृत्य रचयिता को पात्रों की क्षमता, योग्यता और फिल्मांकन में होने वाले व्यय का ध्यान रखना होता है। मंच का नृत्य एक ही स्थल पर होता है, लेकिन फ़िल्म का नृत्य फ़िल्म के माध्यम से समस्त संसार में पहुँचता है। इसलिए फ़िल्म के नृत्य-रचयिता को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है, कि उसकी कला से विभिन्न देशों के विभिन्न भाषा-भाषियों एवं भारतीय कला से अनभिज्ञ व्यक्तियों का मनोरंजन होगा।

मंच के नृत्य की तरह फ़िल्म के नृत्य में मंच जैसी निरन्तरता नहीं रखी जाती, बल्कि उसका फिल्मांकन टुकड़ों में किया जाता है, जिसे शॉट डिवीजन कहते हैं। इसलिए मंच के कलाकारों की अपेक्षा फ़िल्म के कलाकारों को बहुत कम परिश्रम करना पड़ता है। वस्त्राभूषण, भाव, चेष्टा तथा मुद्राएँ भी इसमें परम्परागत न होने के कारण बंधी-बंधाई नहीं होतीं, बल्कि कलाकारों की क्षमता और लोक रुचि के अनुसार उनमें कैसा भी परिवर्तन-परिवर्धन किया जा सकता है। फ़िल्म का नृत्य कल्पनाप्रधान होता है, जबकि मंच का नृत्य कलाप्रधान। कला का प्रयोग दोनों में होता है, लेकिन फ़िल्म का नृत्य लोकरुचि पर आधारित रहकर परिवर्तनशील रहता है और मंच का नृत्य शास्त्रीय मर्यादाओं में बंधा रहता है। स्वच्छन्दता के कारण फ़िल्म के नृत्य की रचना मंच के नृत्य से बिलकुल भिन्न प्रकार की होती है।

नाट्य शास्त्र के अनुसार नृत्य के आचार्य के गुणों का वर्णन करते हुए बताया गया है, कि वह अच्छे कुल का हो; अनेक शिल्पों का प्रयोग जानता हो; उज्ज्वल एवं रूपवान हो; चारों प्रकार के अभिनय (आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य) से परिचित हो; वाद्य-वादन में कुशल हो; सम्प्रदाय का ज्ञाता हो; लय-ताल का मर्मज्ञ हो; नृत्य के भेदों को जानता हो; गृह-मोक्ष (नृत्य के आरम्भ एवं अन्त) में कुशल हो; नर्तक के हृदय की बात जानने वाला हो; सभापति को रिझाने वाला हो; सदा प्रसन्न रहनेवाला हो; राग-वाद्य-प्रबन्ध एवं पाटाक्षर का ज्ञाता हो तथा भाव बताने में समर्थ हो।

संगीत रत्नाकर के अनुसार नृत्य के गुरु में जो विशेषताएँ होनी चाहिए, वे इस प्रकार हैं—

आकर्षक व्यक्तित्व वाला हो; नृत्य के विज्ञान की समझ रखता हो; नृत्य के आरम्भ व अन्त का ज्ञाता; ताल का ज्ञाता; विविध वाद्य-यंत्रों का ज्ञाता; नृत्य की परम्परा का ज्ञाता; संगीत का मर्मज्ञ; स्थाय का ज्ञाता; राग प्रयोग में कुशल; लय में कुशल; काल का ज्ञाता; वाद्य-वृन्द की रचना में निपुण; मुख-वाद्य (मुख से बोले जाने वाले पाटाक्षर गीत तथा सम्बन्धित ताल-वाद्य) में कुशल; नवीन नृत्यों की रचना का ज्ञाता; कुशल शिक्षक; गीत, वाद्य और नृत्य के सिद्धान्तों में निष्णात; नर्तक के मन को समझने वाला और उसके हृदय में अपना स्थान बना लेने वाला अर्थात् नर्तक का प्रिय; दर्शकों को आकर्षित करने की क्षमता रखने वाला और नृत्य के प्रस्तुतीकरण तथा उसकी कमियों को जानने वाला हो।

इस प्रकार नृत्य के श्रेष्ठ गुरु अथवा रचयिता (कॉरियोग्राफर) में उपर्युक्त गुणों का होना आवश्यक है। आजकल विश्व छोटा हो गया है, अतः समस्त संसार के नृत्य हमारे सामने हैं। अपनी परम्परा की रक्षा करते हुए अन्य नृत्यों के प्रभाव से अपनी कला को सुरक्षित रखना हमारा कर्तव्य है।

□□□

नृत्य निर्देशन या कॉरियोग्राफ़ी की कला

नृत्य निर्देशन या नृत्य रचना की कला को अँग्रेजी में 'कॉरियोग्राफ़ी' (Choreography) कहा जाता है, जो एक स्वतन्त्र कला है। इसके बारे में शास्त्र में कोई अलग से विधान नहीं मिलता, लेकिन नृत्याचार्य, पात्रों के गुण तथा रंगविधान और अभिनय प्रयोग के आधार पर उसकी विशेषताओं का अनुमान लगाया जा सकता है, जो नृत्य निर्देशकों के लिए मननीय है। आज इस कला की आवश्यकता बढ़ गई है, इसलिए उसका व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करना जरूरी हो गया है।

कोई भी नर्तक कॉरियोग्राफर (नृत्य निर्देशक या नृत्य रचयिता) हो, यह आवश्यक नहीं और न यह आवश्यक है, कि प्रत्येक नृत्य निर्देशक एक अच्छा नर्तक हो। नृत्य के बारे में जानना, विभिन्न नृत्य पद्धतियों से परिचित होना, विभिन्न प्रकार के वस्त्रालंकारों की समझ रखना, चित्रकला का ज्ञान, लोक संगीत का ज्ञान, भाषा, साहित्य एवं संस्कृति का ज्ञान, कल्पनाशीलता, संगीत के विविध अंगों का ज्ञान और रंगमंचीय विधाओं की सम्यक् जानकारी रखना एक नृत्य निर्देशक के लिए आवश्यक है।

किसी सोलो नृत्य की शिक्षा देना अलग बात है और कथानक के अनुसार, विभिन्न प्रकार की अंग-भंगिमाओं या शैलियों के माध्यम से नृत्य संयोजन करके उसका उचित निर्देशन करना अलग गुण है। इस गुण को तभी बढ़ाया जा सकता है, जब नृत्य-कला का बारीकी से अध्ययन किया जाए। इस अध्ययन में अभ्यास की अपेक्षा उसकी तकनीक पर ध्यान अधिक दिया जाता है।

नृत्य निर्देशक को यह कभी नहीं भूलना चाहिए, कि वह जो कुछ प्रस्तुत करेगा, उससे साधारण व्यक्तियों को आनन्द मिलना चाहिए। अधिकतर दर्शक नृत्य के शास्त्रीय पक्ष को कम समझते हैं और उसके सौन्दर्य तत्त्व से ही प्रभावित होते हैं। अनुकूल भाव की सृष्टि करने में नर्तक की भाव-भंगिमाएँ सफल सिद्ध हो रही हैं अथवा नहीं और नृत्य की मुद्राओं से उन्हें ऐसी आकृतियाँ देखने को मिल रही हैं या नहीं, जो उन्हें आह्लादित कर सकें, इस ओर ही दर्शकों का विशेष ध्यान रहता है। शास्त्रीय या तकनीकी पक्ष से केवल चन्द दर्शकों को ही सन्तोष मिलता है। जिस

तरह कोई रंगीन कपड़ा खरीदते समय उसका विश्लेषण नहीं किया जाता, केवल मन पर पड़नेवाले प्रभाव से ही हम उसे स्वीकार या अस्वीकार कर देते हैं, उसी तरह नृत्य एक ऐसी कला है, जो बच्चें से लेकर वृद्ध तक सभी को आनन्दित कर देती है। एक नृत्य निर्देशक को सोचना चाहिए, कि कथक या भरतनाट्यम् जैसे नृत्य अधिक समय तक मनोरंजन करने में सफल सिद्ध नहीं होते, लेकिन किसी लोकनृत्य को आदमी रात भर देखता रहता है। इसलिए लोकरञ्जक तत्त्वों का ध्यान रखकर नृत्य रचना की जानी चाहिए और भाव प्रधान, अलङ्कार प्रधान एवं चमत्कार प्रधान तत्त्वों का सन्तुलित समावेश किया जाना चाहिए, ताकि साधारण जन एवं विशिष्ट जन, दोनों समान रूप से सन्तुष्ट हो सकें।

फ़िल्म के क्षेत्र में उपर्युक्त बातों का ध्यान रखकर ही नृत्य निर्देशक नए-नए नृत्यों का सृजन करते हैं, तभी वे नृत्य दर्शकों का मनोरंजन करने में सफल सिद्ध हो पाते हैं। यद्यपि फिल्म की कला और मंच की कला में कोई तालमेल नहीं, फिर भी दोनों कलाएँ एक दूसरे के गुणों को ग्रहण कर सकती हैं। आज बड़े-से-बड़े नृत्य-गुरु फिल्म नृत्य निर्देशक के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। गीत, शब्द, भाव, समय, स्थिति, पात्र, आवश्यकता, भाषा, कथा, दृश्य, कैमरा सम्पादन इत्यादि में दक्ष होने पर ही वे फिल्म के क्षेत्र में सफल हो पाते हैं।

मंच का नृत्य

मंच के नृत्यों में अवधि के अनुसार एक निरंतरता बनाए रखनी पड़ती है, ताकि कथा और कलात्मक अभिव्यक्ति का क्रम बना रहे। गायक, वादक और नर्तक सभी इस क्रम एवं उसकी तारतम्यता का ध्यान रखते हैं। क्रम में अवरोध होने से प्रस्तुति को धक्का लगता है। जब तक प्रदर्शन चलता है, तब तक कोई विश्रान्ति नहीं होती। नृत्य की सम्पूर्ण प्रस्तुति के लिए नृत्य के समस्त अंगों का ध्यान रखते हुए उनकी रचना करना 'कॉरियोग्राफ़ी' का प्रमुख लक्ष्य होता है। इसके निम्नांकित बातें आवश्यक होती हैं :—

१. बँधे बँधाए तोड़े, टुकड़े, कवित्त, गत आदि की अवधि का निश्चय करना।

२. लोकरुचि के अनुसार भावाभिनय के लिए नायक-नायिकाओं का अभ्यास करना।

३. संगीतकारों के साथ संगति बैठाने का पूर्वाभ्यास।

४. ठुमरी या कवित्त गायक के शब्द और उनको प्रस्तुति की अवधि का निश्चय करना।

५. चमत्कार प्रधान तत्त्वों के प्रदर्शन में दिए जाने वाले समय का निर्धारण करना।

६. ध्वनि और प्रकाश व्यवस्था का आवश्यकतानुसार पूर्वावलोकन।

७. मंचसज्जा, रूपसज्जा तथा उचित वस्त्राभूषणों का चुनाव।

८. दर्शकों की श्रेणी अर्थात् योग्यता का अनुमान लगाकर नृत्य और नृत्त का संतुलित संयोजन।

९. एकाकी (सोलो) नृत्य और समूह नृत्य के अनुसार पात्र विचार और नृत्य संयोजन।

फिल्म का नृत्य

फ़िल्म के नृत्य में निर्माता या निर्देशक से जानना होता है, कि कुल कितने व किस प्रकार के नृत्यों की रचना (कॉरियोग्राफ़ी) करनी है। इसके बाद पहले से रिकॉर्ड किए हुए गीत या संगीत की प्रतिलिपि लेकर उन्हें घर ले आया जाता है। इस संगीत को रिकार्डर पर बार-बार सुनकर मन में उसकी रूपरेखा बनाई जाती है। प्रत्येक गीत की अवधि निश्चित होती है, अतः पात्रों की संख्या का निर्धारण करके उनके स्वरूप, शूटिंग-स्थल, संगीत तथा कथा की प्रकृति के अनुकूल नृत्य की रचना की जाती है।

फिल्म के नृत्य में विविधता रखनी पड़ती है, ताकि दर्शक ऊबें नहीं। इसीलिए एक नृत्य को कई-कई स्थलों पर भिन्न-भिन्न साज-सज्जाओं में फिलमाया जाता है। इसमें नीचे लिखी बातों का ध्यान रखा जाता है :—

१. हीरो या होरोइन का लय ज्ञान और नृत्य ज्ञान कैसा है?

२. शूटिंग-स्थल और वस्त्रालंकारों की विविधता के लिए निर्माता द्वारा धन के व्यय की सीमा क्या है?

३. गीत के शब्द और भावों के अनुरूप नृत्य-विधा का चुनाव उचित है या नहीं?

इसके पश्चात् नृत्य निर्देशक गीत व संगीत को टुकड़ों में विभाजित करता है, जिसे शॉट-डिवीज़न (Shot Division) कहते हैं। जहाँ-जहाँ गीत के शब्द होते हैं, वहाँ लय के अनुसार मात्राएं गिनकर उन्हें गीत की पंक्ति के सामने लिख लिया जाता है। इसी प्रकार गीत के शब्द या बोलों के बाद जो वाद्य संगीत रहता है, उसकी मात्राओं को भी नोट कर लिया जाता है। वाद्ययंत्रों में भी प्रमुख वाद्यों के वादन की अवधि को मात्राओं (Beats) के अनुसार लिख लिया जाता है। इसी को शॉट-डिवीज़न या दृश्य-विभाजन कहते हैं।

शॉट-डिवीज़न के पश्चात् प्रत्येक शॉट की शूटिंग की जाती है और अन्त में फ़िल्म का एडिटिंग या सम्पादन करते समय दृश्यों को एक सूत्र में पिरोने का काम किया जाता है। समझने की दृष्टि से यहां एक कल्पित नमूना पेश किया जा रहा है।

नृत्य का शॉट डिवीज़न

गीत की पंक्ति : 'मोहे पनघट पै नंदलाल छेड़ गयो री'

मात्राओं की गणना : १२ (इच्छानुसार आधी या दुगुन लय में गिन सकते हैं)

जैसे—ऽमो	ऽहे	पन	घट	पैऽ	नंऽ	दला	ऽल	छेऽ	ड़म	योऽ	रीऽ
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

शहनाई वादन की मात्रा-गणना : ६

अन्य वाद्यों के वादन की मात्रा-गणना : १०

तबले के टुकड़े या तिहाई की मात्रा-गणना : ४

पात्रों की संख्या+लोकेशन+वस्त्राभूषण : आवश्यकतानुसार लिखेंगे।

यह शॉटडिवीज़न कहलाता है। अब शूटिंग के समय गीत के बोलों अर्थात् १२ मात्राओं के अन्दर हम किसी भी चीज़ की शूटिंग कर सकते हैं, जैसे—सिर पर घड़ा रखे हुए नर्तकी का नाचना, सीढ़ियों से नीचे उतरती नर्तकी या नायिका इत्यादि। कथा की जरूरत, दृश्य की माँग, अवधि की गुंजाइश, निर्माता की इच्छा, नृत्यनिर्देशक की काल्पनिक उड़ान सभी का ध्यान रखकर किसी भी गीत के बोलों को अनन्त प्रकार से शूट (दृश्यांकित) किया जा सकता है।

गीत के बोलों की समाप्ति पर जब वाद्यसंगीत बजता है, तो उसमें भी टुकड़ों की शूटिंग इसी प्रकार की जाती है अर्थात् शहनाई के समय नायक का चलना, सहायक नर्तकियों का झूमना, खेत खलियान, फूल, नदी, तालाब, भौंरा आदि कुछ भी दिखा सकते हैं, जो गीत को गति और शक्ति प्रदान करता हुआ नायिका के व्यक्तित्व को उजागर करे। दूसरे वाद्य पर अन्य दृश्य दिखा सकते हैं। इसी तरह गीत जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, उसकी शूटिंग नृत्य निर्देशक के शॉटडिवीज़न के आधार पर चलती रहती है। कहीं कोई बन्दिश नहीं होती, इसलिए सबका ध्यान सुन्दर कॉरियोग्राफ़ी, सुन्दर फोटोग्राफ़ी (फ़िल्मांकन), सुन्दर लोकेशन (स्थल) और सुन्दर प्रस्तुति पर केन्द्रित रहता है।

नृत्य निर्देशक के शॉटडिवीज़न पर जब कैमरामैन विचार करता है, तो वह अपना एक शॉटडिवीज़न अलग से तैयार करता है, जिसमें नृत्यकार के शॉट्स को अधिक सुन्दर बनाने के लिए पात्र तथा दृश्यों के 'क्लोज़अप', 'मीडियम शॉट' तथा 'लौंग शॉट' रहते हैं। इनमें भी 'ज़ूम लैंस' के द्वारा कैमरामैन विविध चमत्कार पैदा करता है। जैसे नायक या नायिका की आँख का तारा दिखाना, नायक की आँख में नायिका या नायिका की आँख में नायक को दिखाना, भँवरे का फूल पर बैठकर रस पीना, शीशों में नृत्य करती हुई छबियाँ एवं विविध अंग प्रत्यंगों तथा क्रियाओं का प्रस्तुतीकरण आदि।

इस प्रकार फ़िल्म के एक गीत की कॉरियोग्राफ़ी (नृत्य संरचना) का कार्य पूर्ण होता है, जिसको सामान्य शूटिंग में तीन से सात दिन तक लग सकते हैं। प्रायः सभी कलाकार निपुण होते हैं, अतः शूटिंग के समय ही उन्हें उनके 'मूवमेण्ट्स' (अंग-संचालन) बता दिए जाते हैं।

भारतीय नर्तक स्व० उदयशंकर ने सन् १९५५ में एक फिल्म सेमीनार में फिल्म में कॉरियोग्राफ़ी-कला के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए थे, वे इस प्रकार हैं:—

'फ़िल्म निर्माण की दृष्टि से भारत विश्व का दूसरा देश है, जहाँ नई प्रतिभाओं और तकनीशियनों की कमी नहीं है। फिल्मों पर अच्छा धन खर्च होता है। निर्माता, निर्देशक और नृत्य निर्देशक को आपस में अच्छा सामंजस्य रखना चाहिए, ताकि जनता के समक्ष स्तरीय चीज रखी जा सके।

सर्वप्रथम कहानी की जरूरत के मुताबिक नृत्य का चुनाव करना चाहिए, न कि उसे कहानी का हिस्सा समझा जाए। कथा के साथ पात्रों के तालमेल और वातावरण पर नजर रखनी चाहिए, तभी नृत्य-रचना (कॉरियोग्राफ़ी) का पूरा लाभ मिल सकेगा। इन कार्यों के लिए एक केन्द्रीय इन्स्टीट्यूशन होना चाहिए, जहाँ नृत्य, नाट्य और संगीत की सम्मिलित ट्रेनिंग और व्यवस्थित निर्माण कार्य के बारे में विचार-विमर्श किया जा सके।

केवल नृत्य सीख लेना ही पर्याप्त नहीं है। नृत्यकारों को चाहिए, कि वे जन-समाज के साथ जुड़कर उनकी भावनाओं को समझते हुए नृत्य प्रस्तुत करें, ताकि वे उस नृत्य को अपने जीवन का एक हिस्सा समझ सकें। देवी देवताओं से सम्बन्धित नृत्यों की मुद्राएँ, दृष्टि, अवतरण और भावभंगिमाएँ मानवीय नृत्यों से भिन्न दैवीय गुण सम्पन्न होनी चाहिए। राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम राजा की चाल क्या होगी, वे कैसे खड़े होंगे, कैसे संचालन करेंगे और धनुष धारण करके उनका व्यक्तित्व कैसा लगना चाहिए? यह सब अध्ययन और ट्रेनिंग का विषय है। इसी तरह बन्दरों की भूमिका भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं, और यह सब हमें नृत्य के द्वारा दिखाना होता है। जो कलाकार जटायु का अभिनय कर रहा हो, उसे कुछ दिनों तक आसमान में उड़ते पक्षियों को निहारना होगा।

मेरे कहने का तात्पर्य यही है, कि नृत्य के प्रशिक्षण में उन सभी क्रियाकलापों का गहन अध्ययन आवश्यक है, जो कि अभिनीत किया जाना है। तभी प्रतिभासम्पन्न कलाकारों का ठीक उपयोग हो पाएगा। नृत्य सम्पदा के रूप में भारत जितना धनी है, उतना कोई अन्य देश नहीं है।

फ़िल्मों में लोकनृत्य

लोकनृत्य और शास्त्रीय नृत्यों का प्रयोग करते समय इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए, कि वे फ़िल्मों के लिए या आज के दर्शकों के लिए नहीं रचे गए।

उनकी प्रकृति और उन्हें देखनेवाले अलग हैं। उनका सबसे अच्छा उपयोग वृत्तचित्रों (डाक्यूमेण्ट्री फिल्म्स) में किया जा सकता है। यदि उनमें भी प्रस्तुति ठीक न हो सकी, तो उनकी प्रामाणिकता सदैव संदिग्ध बनी रहेगी।

प्राचीन और आधुनिक परिस्थितियों एवं मानवीय संवेदनाओं को खाई बहुत चौड़ी है, जिसे केवल श्रद्धा और स्नेह से पाटा जा सकता है। जिसे हम प्राचीन या बुरा कहते हैं, वह वास्तव में हमारे लिए गर्व की वस्तु है। आधुनिक समाज में उसका अभाव है। उन्हें प्रस्तुत करते समय हमें कभी लज्जा का अनुभव नहीं करना चाहिए।

लोकनृत्यों की समृद्ध परम्परा होते हुए भी हम उनके कुछ ही प्रकारों को फ़िल्मों में दिखा पाते हैं, जो खेद का विषय है। इतने पर भी उनकी वेशभूषा और प्रस्तुति के साथ हम न्याय नहीं कर पाते। फिल्म का एक नृत्य दूसरे नृत्य के साथ कोई सामंजस्य भी स्थापित नहीं कर पाता। लोकनृत्य विशेष दिनों या विशेष अवसर पर विशेष भावना के साथ प्रस्तुत किए जाते हैं, तब कहीं उनके द्वारा हृदय का वास्तविक उल्लास प्रकट होता है। यह सब कैमरे के सामने, तेज रोशनियों के बीच किसी शूटिंग स्पॉट या फ्लोर पर कैसे संभव हो सकता है ? फिर भी मैं कहूँगा कि यह संभव है और हम इसे कर सकते हैं। यदि कलाकारों को अनुकूल वातावरण प्रदान करके लगन के साथ उन्हें सही प्रशिक्षण दिया जाए, तो वे निश्चय ही इसको कार्यरूप में परिणित कर सकेंगे।

फिल्मों में शास्त्रीय नृत्य

शास्त्रीय नृत्यों के बारे में जब मैं सोचता हूँ, तो मुझे बड़ा दुःख होता है, क्योंकि फिल्मों में उनका अस्तित्व क्षीण होता जा रहा है, जो हमारी विरासत को अल्प अवधि में ही ग्रसता जा रहा है। फिल्म में प्रयुक्त शास्त्रीय नृत्य को मैं उस नृत्य विशेष का प्रतिनिधि न कहकर फिल्मी शास्त्रीय नृत्य कहना अधिक पसन्द करूँगा। उदाहरण के लिए दक्षिण में नर्तक को भरतनाट्यम् की वेशभूषा पहनाने का बहुत प्रचलन है। परन्तु नृत्य वास्तविक भरतनाट्यम् से कहीं अलग होता है। यही बात मणिपुरी नृत्य के साथ है, जिसे रोकना चाहिए और भारत के शास्त्रीय नृत्यों की छवि को विकृत होने से बचाना चाहिए।

फ़िल्म के निर्देशकों को चाहिए, कि वे शास्त्रीय नृत्यों की प्रारम्भिक जानकारी से अवगत हों और केवल सुयोग्य नृत्य निर्देशकों का चयन करें। इसी प्रकार फिल्म के निर्माता को कम-से-कम अपने देश की संस्कृति के रक्षार्थ अपने स्वार्थ और लालच का बलिदान कर देना चाहिए। कामुक नृत्यों की सस्ती प्रस्तुति का मोह त्याग कर उन्हें स्वयं में अपनी सांस्कृतिक विरासत पर गर्व करने की भावना उत्पन्न करनी होगी।

शास्त्रीय फिल्मों में धार्मिक कथानक बहुत लोकप्रिय सिद्ध होते हैं, क्योंकि हम उस राष्ट्र के हैं, जो ईश्वर से डरता है। धर्म के नाम पर हम फिल्म के पर्दे पर देवी-देवताओं के कैसे भी क्रियाकलाप और नृत्य को बर्दाश्त कर लेते हैं, जबकि मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ, कि हम अपने समाज, देश और धर्म की व्याख्या नृत्य के माध्यम से बड़े सशक्त रूप में कर सकते हैं, जो साहित्य या अन्य किसी विधा द्वारा सम्भव नहीं। मेरी इच्छा रही है, कि नृत्य के द्वारा प्रत्येक काल का सजीव चित्रण करके उसकी प्रस्तुति करूँ। यह कहने में भी मुझे बिल्कुल हिचक नहीं, कि किसी भी नृत्य-विधा या गीत को विशुद्ध भारतीय वाद्ययंत्रों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इस कार्य में वॉयलिन, चेलो, हारमोनियम या प्यानो जैसे किसी भी विदेशी वाद्ययंत्र की आवश्यकता नहीं और न उनसे भारतीय धुनों के साथ न्याय हो सकेगा। हमें बदलती संस्कृति के साथ धीरे-धीरे कदम मिलाकर चलना होगा, नए दृष्टिकोणों को अपनाना होगा और एक नया नजरिया रखना पड़ेगा। तभी हमारा राष्ट्र और समाज लाभान्वित हो सकेगा।

आधुनिक भारतीय कॉरियोग्राफी

मैं कह चुका हूँ, कि कोई भी कथा नृत्य के माध्यम से कही जा सकती है। फिल्मों में नृत्य की खामियों का संकेत भी मैं कर चुका हूँ। इस सबका एकमात्र कारण उचित प्रशिक्षण का अभाव है। अन्त में क्षमा प्रार्थना के साथ मैं यही कहना चाहूँगा, कि जब तक हम न्यायपूर्ण रवैया नहीं अपनाते, तबतक ऐसे नृत्यों को फिल्मों से निकाल दिया जाए, तो अच्छी बात होगी; क्योंकि इससे हमारी नृत्य कला बदनाम होती है। कलासाधकों तथा बुद्धिजीवी दर्शकों से भी मैं निवेदन करूँगा, कि वे संगठित होकर इसके लिए प्रयासरत हों। हमें यह सिद्ध कर देना चाहिए, कि भारत फिल्म और नृत्यों के माध्यम से मानवता के सेवार्थ विशुद्ध और शिष्ट कला प्रदान कर सकता है।

स्व० उदयशङ्कर के उपर्युक्त विचार फिल्म के निर्माता, निर्देशक और नृत्य-निर्देशक के लिए विचारणीय हैं, जिन पर अमल करने से हम विदेशी नृत्यसंस्कृति से भारतीय नृत्यकला को दूषित होने से बचा सकते हैं।

□□□

शास्त्रीय तथा लोक नृत्यों का तुलनात्मक विवेचन

शास्त्रीय नृत्य	लोक नृत्य
१. शास्त्रीय नृत्य शास्त्रों पर आधारित होते हैं।	१. लोकनृत्य प्रकृति तथा परम्परा पर आधारित होते हैं।
२. शास्त्रीय नृत्यों में वीणा, वॉयलेन, मृदंग, वंशी घटम्, सितार एवं सारंगी का प्रयोग होता है।	२. लोक नृत्यों में ढोलक, मंजीरा, करताल, मोहचंग, नगाड़ा या तासा जैसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग होता है।
३. शास्त्रीय नृत्य में पैरों में घुंघरू बांधे जाते हैं।	३. लोकनृत्य में घुंघरू बांधना आवश्यक नहीं होता है।
४. शास्त्रीय नृत्य में परम्परागत वेशभूषा धारण की जाती है।	४. लोक नृत्य में भी परम्परागत प्रान्तीय वेशभूषा धारण की जाती है।
५. शास्त्रीय नृत्य प्रायः चारों ओर से बंद सभागृह के अन्दर किए जाते हैं।	५. लोकनृत्य खुले रंगमंच पर किए जाते हैं।
६. शास्त्रीय नृत्यों को प्राचीन ग्रन्थों का आधार प्राप्त होता है।	६. लोकनृत्य रीति-रिवाज तथा सामाजिक मान्यता और परम्परा पर आधारित होते हैं।
७. शास्त्रीय नृत्य में अंग-प्रत्यंगों का प्रयोग शास्त्र पर आधारित मुद्राओं के द्वारा होता है।	७. लोकनृत्य में स्वच्छन्द मुद्राओं का प्रयोग होता है।
८. शास्त्रीय नृत्य में घुंघरुओं के कार्य को भी कलात्मक महत्व दिया जाता हैं।	८. लोकनृत्य में घुंघरुओं के काम का कोई महत्व नहीं होता है।
९. शास्त्रीय नृत्य में एकल प्रस्तुति का अधिक महत्व है।	९. लोकनृत्य में सामूहिक प्रस्तुति को अधिक महत्व दिया जाता है।

१०. शास्त्रीय नृत्य में आदिताल त्रिताल और चौताल जैसे कठिन तालों का क्लिष्टतम प्रयोग किया जाता है।

११. शास्त्रीय नृत्य के द्वारा विभिन्न रसों की प्रस्तुति की जाती है।

१२. शास्त्रीय नृत्यों में प्रायः धार्मिक कथाओं की प्रधानता रहती है।

१०. लोक नृत्य में कहरवा और दादरा जैसी सरल तालों का प्रयोग किया जाता है।

११. लोकनृत्य में किसी एक रसविशेष की ही प्रधानता रहती है।

१२. लोकनृत्यों में सामाजिक व लौकिक कथाओं की प्रधानता रहती है।

□□□

पाश्चात्य नृत्य कला

जिस प्रकार पौर्वात्य देशों में परम्परागत कला और परम्परागत शिक्षण का महत्त्व है, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में परम्परा के विपरीत नई रीति अपनाने का शौक है। हम पुराने के भक्त हैं, लेकिन नए का आस्वादन करना चाहते हैं; जबकि पाश्चात्य जगत में प्रायः नए के भक्त होते हैं और पुराने का केवल आस्वादन मात्र करना चाहते हैं। दोनों संस्कृतियों में यह एक उल्लेखनीय अन्तर है।

पाश्चात्य नृत्य को दो धाराओं में बाँटा जा सकता है। एक सामूहिक नृत्य, बॉलरूम डान्स तथा एकल नृत्य, जो हॉल के अन्दर किया जाता है और दूसरा रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाने वाला बैले (नृत्य-नाट्य) और ऑपेरा (गीतिनाट्य)।

बॉलरूम डान्स

बॉलरूम डान्स प्राचीन दरबारी नृत्य (कोर्ट डान्स) से ही निकला है। यद्यपि बॉलरूम डान्स और लोकनृत्यों में बहुत बड़ा अन्तर रहा है, लेकिन युवा पीढ़ी ने लोकनृत्यों की कुछ गतियों का समावेश भी रंजकता की दृष्टि से इसमें कर लिया है। अमेरिका में लोक नृत्यों का विकास अधिक हुआ और यूरोप में शास्त्रीय नृत्य पनपे।

कुछ बँधी हुई गतियों में जब कोई युगल (स्त्री और पुरुष) संगीत की लय पर थिरकता हुआ घूमता रहता है, तो उसे बॉलरूम डान्स कहते हैं। इसमें स्त्री का बायाँ हाथ पुरुष के दाएँ कन्धे पर और पुरुष का दायाँ हाथ स्त्री की कमर पर टिका हुआ रहता है। स्त्री का दायाँ और पुरुष का बायाँ हाथ आगे की ओर मिलकर झुका हुआ रहता है। व्यक्तिगत समारोहों या सार्वजनिक उत्सवों पर बॉलरूम डान्स के बिना कोई उत्सव पूर्ण नहीं होता। बीच-बीच में भोजन भी चलता रहता है और नृत्य में कोई थकावट नहीं होती, बल्कि मानसिक शान्ति का अनुभव होता है। बॉलरूम नृत्यों में सन् १८२० से १९१० ई० तक जो अधिक लोकप्रिय हुए उनके नाम हैं—वाल्ट्ज *(Waltz)*, क्वाड्रीले *(Quadrille)* और पोल्का *(Polka)*।

प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले कुछ अफ्रीकी (निग्रो) नृत्य और दक्षिण अमेरिका के नृत्य यूरोप में प्रचलित हुए। इसमें टैंगो (Tango) तथा रम्बा (Rumba)

नृत्य विशेष रूप से लोकप्रिय हुए, जो लैटिन अमेरिकन नृत्यों में सर्वप्रथम थे और जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। यूरोप की युवा पीढ़ी ने इन उत्तेजक नृत्यों को तेजी से अपना लिया। उन्होंने उन्नीसवीं सदी के जिन 'वॉकिंग डांसिज' के लिए रास्ता खोला, उनके प्रमुख नाम हैं—टू स्टेप, वन स्टेप, टर्की ट्रॉट, फॉक्स ट्रॉट और पिक स्टेप। इसके बाद रॉक एण्ड रॉल लोकप्रिय हुआ, जिसके अन्तर्गत युवा पीढ़ी द्वारा 'ट्वस्ट', 'चा-चा-चा', कैब्रे, 'डिस्को' और 'शेक' प्रचलित हुए, जिनमें संगीत की ताल पर इच्छानुसार पैर मारे जा सकते हैं। इसके बाद ब्रेक डान्स का दौर चला, जो केवल लयात्मक व्यायाम मात्र सिद्ध हुआ। ब्रेक डान्स ने त्वरित गति के कारण शरीर के जोड़ों को हानि पहुँचाई। अतः अमेरिका जैसे देशों ने उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। भारत में अँग्रेजी पढ़ने वाले छात्रों में 'एक्रोबैटिक्स' नामक नृत्य पद्धति का प्रवेश हुआ, जिसमें व्यायाम-पूर्ण नृत्य-गतियों को स्थान दिया गया।

ये सभी नृत्य थोड़े-थोड़े काल तक जीवित रहकर चले गए और युवा पीढ़ी के समक्ष नई खोज का संकेत कर गए। कामुक और अश्लील हरकतों से युक्त कुछ अन्य नृत्य विधाओं ने भी जन्म लिया, लेकिन विज्ञान की दौड़ ने उन्हें भी स्थायी न रखा। भावना रहित कोरी कलाबाजी अधिक समय तक जीवित नहीं रहती। इसीलिए ऐसे नृत्यों में लगभग प्रतिवर्ष नए परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं।

बैले (नृत्य नाटिका)

जब किसी कथा को आंशिक या सम्पूर्ण रूप में नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है, तो उसे नृत्य-नाटिका, नृत्य-नाट्य, नाट्य-नृत्य या अँग्रेजी में बैले (Ballet) कहते हैं।

बैले शब्द बॉल से ही निकला है, जिसका सीधा-सादा अर्थ है नृत्य करना। नृत्य गीत को 'बैलैड' कहते हैं। बैले का अर्थ है—विविध नृत्यों को जोड़कर शृंखला-बद्ध रूप से समूह द्वारा प्रस्तुत किया जाने वाला नृत्य। इसमें उतना ही समय लगता है, जितना कि किसी नाट्य की प्रस्तुति में। सन् १५०० ई० के लगभग बैले प्रचार में आया, जिसे यूरोपियन क्लासिकल बैले कहा गया। कलात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से बैले एक समृद्धशाली परम्परा लेकर विकसित हुआ। बैले से अलग करने के लिए अनेक पाश्चात्य नृत्यों को तरह-तरह के विशेषण लगाकर प्रचलित किया गया जैसे:- 'एब्सोल्यूट डान्स', 'प्योर डान्स', 'फ्री डान्स', 'ग्रीसियन डान्स', 'क्लासिक डान्स', 'ओरिएण्टल डान्स', 'नेचुरल डान्स', 'न्यू डान्स' और 'मॉडर्न डान्स'। बैले से अतिरिक्त जो नृत्य विकसित हुए उन पर अमेरिका का प्रभाव रहा, अतः ऐसी सभी शैलियों को अमेरिकन नृत्य कहा जा सकता है।

बैले और भारतीय नृत्य-नाट्य में एक मूलभूत अन्तर यह है, कि बैले में रस निष्पत्ति का आधार वाद्य-संगीत और नृत्य की लयात्मक गति होती है, जबकि

भारतीय नृत्य-नाट्य का आधार कलाकार की भाव-भंगिमायें रहती हैं। पाश्चात्य बैले में कलाकार का चेहरा सपाट अर्थात् भाव शून्य रहता है। भारतीय दृष्टिकोण से बैले एक चमत्कारपूर्ण आंगिक अभिव्यक्ति मात्र है, जो किसी कथानक को सीधा-सीधा प्रस्तुत करता है। उसके अन्तर्निहित भाव को प्रकट नहीं करता। पाश्चात्य जगत में इसे एक संभ्रांत वर्ग की नृत्य-कला के रूप में अतिशय सम्मान प्राप्त है। इसी लिए रूस और यूरोप के कई देशों ने बैले को संसार में प्रतिष्ठित किया है। रूस के 'स्वान लेक' और 'स्लीपिंग ब्यूटी' जैसे नृत्य ने संसार में ख्याति अर्जित की। यह सबसे समृद्ध, आकर्षक और अनुशासित रंगमंचीय नृत्यकला है, जिसमें परम्परागत साधना के साथ नए प्रयोगों की संभावनायें भी काफी हैं।

ऑपेरा (गीतिनाट्य)

ऑपेरा एक ऐसी सांगीतिक कृति है, जिसमें किसी काव्य को गाते हुए, अभिनय के साथ प्रकट किया जाता है। ऑपेरा की तैयारी में अनेक व्यक्तियों का हाथ होता है, जिनमें कवि, संगीत रचयिता, गायक अभिनेता, वास्तुकार, सज्जाकार, वाद्य-वादक, अलंकारनिर्माता, चित्रकार, वेशभूषा कार, ध्वनि एवं प्रकाश विशेषज्ञ, सैट डिजायनर तथा निर्देशक, निर्माता, संचालक आदि का समान महत्त्व है। इन सभी के योग से ऑपेरा अपना ठीक-ठीक प्रभाव छोड़ता है।

ऑपेरा या सांगीतिका की परम्परा पाश्चात्य देशों में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। ठीक वैसे ही जैसे कि भारत में रामलीला, रासलीला, नौटंकी, नाच और तमाशा जैसी गीति नाट्य विधाएँ स्थापित हैं। गीति नाट्य के आधुनिक रूपों का जन्म बीसवीं शताब्दी में ही हुआ है। इसके पहले पूर्व यूरोपीय देशों के सामन्ती समाज में इसकी धूम रही है। ऑपेरा के पाँच अंग होते हैं—१. प्रस्तावना, २. कथा, ३. संवाद अभिनय, ४. गीत, ५. नर्तन। सम्पूर्ण कथा गीतों के माध्यम से प्रस्तुत की जाती है, जिसकी दो शैलियाँ हैं। पहली मूक अभिनयात्मक और दूसरी संवादात्मक। पहली में एक दल विशेष वाद्य यन्त्रों की सहायता से भावपूर्ण एवं संवादात्मक गीत गाता है और दूसरा दल उन गीतों के अनुरूप भूमिका में गीत के भावानुसार अभिनय करता है।

ऑपेरा की दूसरी शैली में केवल पद्य-संवाद मात्र रहते हैं और संवाद के अतिरिक्त कथा भाग को गीत, अभिनय या नृत्यात्मक गति द्वारा प्रस्तुत करना पड़ता है। कला में परिवर्तन के साथ-साथ ऑपेरा में भी अनेक परिवर्तन आये। ऑपेरा की मूल विशेषता यही है, कि धार्मिक, सामाजिक कथाओं के कारण इसे समाज के प्रत्येक वर्ग का सम्मान मिला है और उधर ऑपेरा ने भी संसार का भरपूर मनोरंजन किया है।

□ □ □

कर्नाटिक (दक्षिण भारतीय) ताल पद्धति

प्राचीन काल में दक्षिण भारत में भी शास्त्र-सम्मत शताधिक तालें प्रचार में थीं, किन्तु 'अन्धकार युग' में उन सबका लोप हो जाने के उपरान्त पुनरुज्जीवित सम्प्रदाय में 'सालमसूड' नामक प्रबन्ध में प्रयुक्त सात तालें ही प्रचार में आने लगीं। अतः इन्हें 'सप्त सूलादि ताल' कहा जाता है। इनके नाम व स्वरूप क्रमशः निम्नानुसार हैं:—

१. ध्रुव—।०।।, २. मठ्य—।०।, ३. रूपक—०।, ४. झम्पा—।◡०,

५. त्रिपुट—।००, ६. अड्ड —।।००, ७. एकताल–।

इन सप्त तालों के स्वरूप को ध्यान से देखने पर निम्न विशेषताएं प्रकट होती हैं:—

१. इन तालों में अणुद्रुत, द्रुत व लघु इन तीन अंगों का ही केवल प्रयोग किया गया है।

२. प्रत्येक ताल में लघु का प्रयोग अवश्य किया गया है।

३. ध्रुव, मठ्य व अड्ड (अठ) तालों में एक से अधिक लघु का प्रयोग हुआ है।

४. ध्रुव तथा अड्ड ताल में चार-चार अंग हैं। मठ्य, झम्प और त्रिपुट में तीन-तीन, रूपक में दो तथा एक ताल में केवल एक अंग है।

जब ये सात तालें ही नवीन संगीत रचनाओं के लिए पर्याप्त नहीं पाई गई, तब इनमें से प्रत्येक ताल के ५ जातियों के आधार पर ५ रूप बनाए गए। इस प्रकार ७ × ५ = ३५ तालें ही वर्तमान कर्नाटिक संगीत में प्रचार में हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान दिए जाने योग्य है, कि प्राचीन पद्धति के आधार पर लघु का मान १ मात्रा होने से अणुद्रुत $\frac{1}{4}$ व द्रुत $\frac{1}{2}$ का हो जाता है तथा इन्हें जातियों के आधार पर पाँच गुना, सात गुना करने पर भी सार्ध संख्या ही आती है। इससे बचने के लिए पहला नियम तो यह बनाया गया, कि प्रत्येक अंग को चतुर्गुणित (चौगुना) कर दिया गया।

इस प्रकार लघु का मान ४ मात्रा, द्रुत २ मात्रा व अणुद्रुत १ मात्रा का हो गया। दूसरे स्तर पर यह नियम बनाया गया, कि जातियों के आधार पर केवल लघु का रूप परिवर्तित होगा तथा शेष अंश यथावत् बने रहेंगे। इसका कारण भी सार्ध संख्या से बचना ही था; क्योंकि खण्ड जाति में लघु ५ मात्रा का होने पर द्रुत २½ तथा अणु १¼ मात्रा का हो जाता। किन्तु इस नियम को स्वीकार कर लेने से जातियों के आधार पर प्रत्येक ताल में लघु तो क्रमशः ४, ५, ६, ७ व ९ मात्रा का होता चला गया, किन्तु प्रत्येक अवस्था में द्रुत वही २ मात्रा का तथा अणुद्रुत १ मात्रा का बना रहा। इस प्रकार कर्णाटिक पद्धति की सात तालों का उनके पाँच-पाँच जाति-गत भेदों के साथ वर्तमान स्वरूप निम्नानुसार है:—

जाति भेद	मात्रा विभाग	कुल मात्रा
१. ध्रुव ताल—	**स्वरूप—।०।।**	
(क) त्र्यस्र—	३+२+३+३	= ११
(ख) चतुरस्र—	४+२+४+४	= १४
(ग) खण्ड—	५+२+५+५	= १७
(घ) मिश्र—	७+२+७+७	= २३
(ङ) संकीर्ण—	९+२+९+९	= २९
२. मठ्य ताल—	**स्वरूप—।०।**	
(क) त्र्यस्र—	३+२+३	= ८
(ख) चतुरस्र—	४+२+४	= १०
(ग) खण्ड—	५+२+५	= १२
(घ) मिश्र—	७+२+७	= १६
(ङ) संकीर्ण—	९+२+९	= २०
३. रूपक ताल—	**स्वरूप—०।**	
(क) त्र्यस्र—	२+३	= ५
(ख) चतुरस्र—	२+४	= ६
(ग) खण्ड—	२+५	= ७
(घ) मिश्र—	२+७	= ९
(ङ) संकीर्ण—	२+९	= ११
४. झंपा ताल—	**स्वरूप—।◡०**	
(क) त्र्यस्र—	३+१+२	= ६
(ख) चतुरस्र—	४+१+२	= ७
(ग) खण्ड—	५+१+२	= ८
(घ) मिश्र—	७+१+२	= १०

(ङ) संकीर्ण—	९+१+२	= १२

५. त्रिपुट ताल— स्वरूप—।० ०

(क) त्र्यस्र—	३+२+२	= ७
(ख) चतुरस्र—	४+२+२	= ८
(ग) खण्ड—	५+२+२	= ९
(घ) मिश्र—	७+२+२	= ११
(ङ) संकीर्ण—	९+२+२	= १३

६. अड्ड ताल— स्वरूप ।।० ०

(क) त्र्यस्र—	३+३+२+२	= १०
(ख) चतुरस्र—	४+४+२+२	= १२
(ग) खण्ड—	५+५+२+२	= १४
(घ) मिश्र—	७+७+२+२	= १८
(ङ) संकीर्ण—	९+९+२+२	= २२

७. एकताल— स्वरूप—।

(क) त्र्यस्र—	३
(ख) चतुरस्र—	४
(ग) खण्ड—	५
(घ) मिश्र—	७
(ङ) संकीर्ण—	९

इन उपर्युक्त ३५ तालों में से भी ध्रुव, मठ्य, एक व रूपक तालों के चतुरस्र जाति रूप ही व्यवहार में अधिक प्रचलित हैं। झंपा मिश्र जाति में तथा त्रिपुट ताल चतुरस्र व त्र्यस्र दोनों रूपों में प्रचार में है। किन्तु केवल त्रिपुट कहने पर उसका अर्थ त्र्यस्र रूप से ही है। चतुरस्र त्रिपुट ताल को ही 'आदि ताल' कहते हैं। हर एक जाति में अंग सशब्द व निःशब्द क्रिया से गिने जाते हैं। लघु को एक शम्पा (दोनों हाथ मिला कर ताली बजाना) के बाद बाकी अक्षरों (मात्राओं) का अंगुलियों के पातन से गणना करते हैं। द्रुत को एक शम्पा के बाद एक विक्षेप करके गिनते हैं। अणुद्रुत को एक शम्पा से गिनते हैं। कभी-कभी त्र्यस्र जाति के लघु को दो शम्पा और एक विक्षेप से गिना जाता है। इस क्रिया को 'चापु' कहते हैं। वर्तमान में इस तरह के प्रयोग में त्र्यस्र जाति रूपक ताल (२+३=५) विशेष प्रसिद्ध है, अतः उसे 'चापु ताल' कहा जाता है। ये चापु तालें दक्षिण भारतीय लोक-संगीत में विशेष प्रचार में हैं।

इन उपर्युक्त ३५ तालों के अतिरिक्त दक्षिण भारत के मन्दिरों में सेवा-पूजा के नौ संधि-कालों में कीर्तन आदि के समय जिन नौ तालों का प्रयोग किया जाता है,

वे 'नव संधि-ताल' कही जाती हैं। इन नव संधि तालों का नाम व स्वरूप निम्नानुसार है:—

	संधि का नाम	ताल का नाम	अंग
१.	ब्रह्म संधि	ब्रह्म	I S I S
२.	इन्द्र "	इन्द्र	I I S I o ●
३.	अग्नि "	मत्तायन	I o I o I
४.	यम "	भृंगी	I S I I
५.	निऋंति "	नैऋति	I I I o ●
६.	वरुण "	नव	I o ● ● I
७.	वायु "	बली	● o o I
८.	कुबेर "	कोट्टारी	I S S S
९.	ईशान "	टक्किरी	S I S

इस प्रकार दक्षिणी ताल पद्धति संक्षिप्त व सुस्पष्ट होने से अधिक सम्मानजनक दृष्टि से देखी जाती है।

□□□

कर्नाटिक संगीत की आदिताल का हाथों द्वारा प्रदर्शन

जिस प्रकार उत्तर भारतीय संगीत में तीनताल की प्रधानता रहती है, उसी प्रकार कर्नाटिक संगीत में आदिताल प्रमुख है। आदिताल के दो भाग होते हैं— पूर्वाङ्ग तथा उत्तराङ्ग। प्रत्येक भाग में चार-चार अक्षरकला होती है। पूर्वाङ्ग की गणना लघु के अन्तर्गत रहती है।

सम पर प्रथम लघु रहता है।

कनिष्ठिका अंगुली पर दूसरा लघु रहता है।

अनामिका अंगुली द्वारा तीसरा लघु बताया जाता है।

मध्यमा अंगुली द्वारा चौथा लघु बताया जाता है।

नीचे के चित्रों में आद्ये ताल के उत्तराङ्ग भाग को प्रकट किया गया है—

सामान्य ताली द्वारा पहला द्रुत बताया जाता है।

हथेली पर सीधी हथेली रखकर दूसरा द्रुत बताया जाता है।

पुनः सामान्य ताली द्वारा तीसरा द्रुत बताया जाता है।

पुनः हथेली पर सीधी हथेली रख कर चौथा द्रुत बताया जाता है।

चित्र : सौजन्य—तेलुगु यूनिवर्सिटी, हैदराबाद

□□□

हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटकी ताल-पद्धतियों का तुलनात्मक विवेचन

प्रचलित हिन्दुस्तानी एवं कर्नाटकी ताल-पद्धतियों का विवरण देने के पूर्व वैदिक एवं प्राचीन काल में ताल-पद्धति की क्या भूमिका थी, इसका संक्षेप में अवलोकन करना अनुचित न होगा। वैदिक काल में सामवेद की ऋचाओं का गायन छन्दोबद्ध था अर्थात् ऋचायें निश्चित अक्षर संख्याओं में निबद्ध होती थीं, जिन्हें छन्द कहा जाता था। वैदिक ऋचाओं को गाने के निम्न सात छन्द पाए जाते हैं, जिनकी अक्षरसंख्या निश्चित थी :—

१. गायत्री छंद	२४ अक्षरयुक्त
२. उष्णिक छंद	२८ "
३. अनुष्टुप छंद	३२ "
४. वृहती छंद	३६ "
५. पंक्ति छंद	४० "
६. त्रिष्टुप छंद	४४ "
७. जगती छंद	४८ "

आगे चलकर ये छंद ८० अक्षरों तक बढ़ाये गए पाए जाते हैं। उपर्युक्त निश्चित अक्षर-संख्या से यही ज्ञात होता है, कि विभिन्न प्रकार की ऋचाएँ विभिन्न प्रकार के छंद-वृत्त में गाई जाती थीं अर्थात् ऋचाओं का निश्चित छंद एक निश्चित समयावधि में आवृत्त होता था। इससे यह स्पष्ट होता है, कि ऋचाओं की स्वर-बंदिश निश्चित थी, उनके अक्षर निश्चित थे व उनके गायन करने की समयावधि निश्चित थी। वैदिक काल में इस प्रकार ऋचागायन छंदोबद्ध था, जिसमें ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का निश्चित उच्चारण निश्चित समयावधि में किया जाता था। अर्थात् वैदिक ऋचाएं जिस प्रकार से स्वर छंदोबद्ध थीं, उसी प्रकार से आज के गीत की बंदिश भी स्वर-तालबद्ध व निश्चित रहती है। वैदिक ऋचाओं की छंदोबद्धता को साधारण रूप में उनकी तालबद्धता स्वीकारना अनुचित न होगा।

वैदिक काल के पश्चात् भरत-काल में 'ताल' शब्द प्रचार में आया व भरत ने ताल, काल, कला, लय (गति) आदि विषयों का विवेचन किया। ताल के 'मात्रा, लय एवं क्रिया तीन प्रमुख लक्षण बताए गए हैं।

हाथ द्वारा ताल-क्रिया किस प्रकार दी जाती थी, इसका वर्णन भरत ने किया है, जिसमें ताली अर्थात् सशब्दपात-क्रिया व खाली अर्थात् निःशब्द पातक्रिया कब व कैसे दी जानी चाहिए, यह स्पष्ट किया गया है।

१. ध्रुवा, २. शम्या, ३. ताल एवं ४. सन्निपात, ये ताल क्रियाएँ चर्चित हुई हैं।

१. ध्रुवा ताल-क्रिया यानी सीधे हाथ से चुटकी बजाने की क्रिया।

२. शम्या ताल-क्रिया में सीधे हाथ के पंजे द्वारा उलटे हाथ के पंजे पर ताली।

३. ताल-क्रिया यानी उलटे हाथ के पंजे से सीधे हाथ के पंजे पर ताली।

४. सन्निपात यानी दोनों हाथ के पंजे सामने रखकर दोनों को सशब्द जोड़ देने की क्रिया।

आज कर्नाटक एवं हिन्दुस्तानी संगीत की ताल-पद्धतियों में भी सात क्रियाएँ कुछ-कुछ उक्त क्रियाओं पर आधारित लगती हैं।

आज प्रचलित कर्नाटकी ताल-पद्धति ताल चिह्नों की दृष्टि से भरत कालीन ताल-चिह्नों के समान प्रतीत होती है। कर्नाटकी ताल-पद्धति में आज लघु, गुरु, प्लुत, द्रुत एवं अणुद्रुत चिह्न दिखाई दे रहे हैं, किन्तु हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में इन चिह्नों के नामों का प्रयोग दिखाई नहीं देता है। उनके स्थान पर दो मात्राएँ, चार मात्राएँ ऐसा प्रयोग है तथा सन्निपात, आवाप जैसी कर्नाटकी ताल-क्रियाओं के शब्दों के स्थान पर ताली, खाली आदि शब्द प्रयोग-प्रचार में हैं।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में प्रचलित पारिभाषिक शब्दों की परिभाषाएँ :—

ताल

'वाद्यं तुर्यानिनं प्रोक्तं कला पातलयान्वितम्' इस भरतोक्ति का स्पष्ट भावार्थ जो आज प्रचार में है, वह यह है, कि कला (मात्रा) एवं लय (यति) युक्त गीत अथवा गत-रचना के गायन अथवा वादन की कालावधि के निर्धारण को ताल कहते हैं। अर्थात् संगीत में गीत अथवा गत के प्रत्येक चरण की अथवा आवृत्ति की निश्चित सीमाबद्धता को ताल कहते हैं। भरत ने ताल के मात्रा, लय एवं क्रिया ऐसे तीन प्रमुख लक्षण बताए हैं व उसी के आधार स्वरूप ताल के दश लक्षण अर्थात् दश प्राण अधिक विस्तृत रूप में आज विकसित हैं :—

'ताल के दश प्राण' को यों पारिभाषित किया गया है :—

काल मार्ग क्रियांगानि ग्रह् जाति कलालयः यति प्रस्तारको उक्तः ताल प्राणो दशस्मृताः।

अर्थात् १. काल, २. मार्ग, ३. क्रिया, ४. अंग, ५. ग्रह, ६. जाति, ७. कला, ८. लय, ९. यति एवं १०. प्रस्तार—ये ताल के दश लक्षण अथवा प्राण कहे जाते हैं। इनका संक्षेप में विवरण निम्नांकित है :—

१. काल

काल का अर्थ अवधि, समय अथवा अवकाश होता है। गायन, वादन एवं नर्तन में उसके विभिन्न भागों के प्रस्तुतीकरण में निश्चित परिमाण में जो अवधि, समय या काल व्यतीत होता है, उसे काल कहते हैं। संगीत में ताल से ही काल की सीमा निश्चित होती है। ताल व काल परस्परावलंबित हैं। काल को आज निःशब्द पात क्रिया अथवा खाली कहते हैं, जिसे प्रचलित पद्धति में मात्रा के नीचे शून्य द्वारा बताया जाता है।

२. मार्ग

ताल का मार्ग अर्थात् रास्ता। इसमें मात्राओं की निश्चित इकाई मानकर उसके सम परिमाण में ताली किस मात्रा पर तथा खाली किस मात्रा पर यह बताया जाता है। हिन्दुस्तानी प्रचलित त्रिताल की मात्राएँ सोलह इकाई की मानी जाती हैं। ऐसी अवस्था में एक मात्रा से सोलह मात्रा तक की सीमा को मार्ग कहते हैं।

३. क्रिया

कार्य अर्थात् काम से क्रिया शब्द उत्पन्न हुआ है, इसलिए कोई भी काम करने को क्रिया कहा जाता है। ताल की क्रिया में ताल एवं काल अर्थात् ताली देना व खाली देना दो क्रियाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं, जिन्हें सशब्द पातक्रिया तथा निःशब्द पातक्रिया कहा जाता है। सशब्द पातक्रिया में ध्रुवा, शम्या, ताल एवं सन्निपात—ये ताली बजाने की संकेत स्वरूप क्रियाएँ अंकित की जाती हैं, जिनका वर्णन पूर्व में किया गया है। निःशब्द पातक्रिया में भी आवाप, निष्काम, विक्षेप एवं प्रवेश—ये चार क्रियाएँ खाली बताने के संकेत स्वरूप बताई गई हैं। इन क्रियाओं में कोई भी ध्वनि सुनाई नहीं देती है। इसी कारण इसे खाली अर्थात् निःशब्द या शब्दहीन पात यानी पतनक्रिया कहते हैं।

आवाप पतन-क्रिया में सीधे हाथ के पंजे के मध्य भाग में एक-एक अँगुली को समेट कर गिनती करते हैं, जिससे मुट्ठी भर जाने का आभास हो।

निष्काम क्रिया में उसी आवाप स्थिति के हाथ को उलट देते हैं।

विक्षेप क्रिया में निष्क्राम क्रिया की स्थिति वाले हाथ को अपनी दायीं ओर फेंकते हैं। प्रवेश क्रिया में विक्षेप स्थिति वाले हाथ को पूर्व स्थान पर लाकर अँगुलियों को क्रमवार खोलते हैं। आज भी खाली देते समय सीधे हाथ के पंजे को बाएँ हाथ के कुछ नीचे करके अँगुलियों से गिनती द्वारा खाली की क्रिया बताई जाती है।

४. अंग

ताल सम परिमाण में निश्चित मात्राओं की एक इकाई माना जाता है, जिसकी मात्राएँ निश्चित संख्या में मर्यादित होती हैं। इन निश्चित मात्राओं का किसी ताल में सम विभाजन होता है और पुनः किसी ताल में मात्राओं का विभाजन विषम-प्रमाण में होता है। ऐसे विभाजन को ताल-अंग अथवा विभाग कहते हैं, जैसे त्रिताल के चार भाग हैं। इन अंगों के नाम, मात्रा व चिह्न प्रचलित तालों के संस्कृत श्लोक में पाए जाते हैं। इनके अंगों के नाम, मात्रा व चिह्न-संकेत निम्नांकित हैं :—

मात्रा संख्या	चिह्न नाम	चिह्न संकेत
१	विराम	◡
२	द्रुत	०
४	लघु	।
८	गुरु	ऽ
१२	प्लुत	३
१६	काकपद	+

हिन्दुस्तानी ताल-वर्णन के संस्कृत श्लोकों में मात्रा-संख्याओं के संकेत स्वरूप उक्त नामों का ही प्रयोग किया गया है। उक्त चिह्न-नामों में ३, ५, ६, ७, ९, १०, ११ आदि संख्याओं के संकेत नाम चिह्नों का स्पष्टीकरण नहीं है। अतएव उक्त संख्याओं के संकेत हेतु इन्हीं चिह्नों में से व नामों में से उपयोग करके संख्यापूर्ति की जाती है। जैसे तीन संख्या को द्रुत विराम कहकर बताया जाता है। ताल मात्राओं की विभाजित स्थिति के स्पष्टीकरण को ताल का अंग कहते हैं।

५. ग्रह

जहाँ से ताल प्रारम्भ होता है, उस स्थान को 'ग्रह' कहते हैं। गीत अथवा गत का आरम्भ एक साथ होना ताल का प्रथम आरम्भ होना या गीत के पश्चात होना ऐसी विविधताएँ 'ग्रह' में पाई जाती हैं। इन विविधताओं के भरत मुनि ने ताल-विधान में निम्नांकित विविध प्रकार बताए हैं :—

१. समपाणि

गीत अथवा गत एवं ताल का एक साथ प्रारम्भ करना।

२. उपरिपाणि

गीत की अथवा गत की कुछ मात्राओं के पश्चात् ताल प्रारम्भ करना।

३. अवपाणि

ताल प्रारम्भ होने के पश्चात् गीत का प्रारम्भ करना।

४. अर्धपाणि

गीत का आधा भाग होने के पश्चात् ताल का आरम्भ होना।

भरतकालीन उपर्युक्त 'ग्रह' योजना प्रचलित ताल-पद्धति में दिखाई नहीं देती है। प्रचलित संगीत में गीत या गत किसी विवक्षित मात्रा से प्रारम्भ होकर जब सम पर अर्थात् ताल की प्रथम मात्रा पर गाई बजाई जाती हैं, उसी क्षण तबले में ताल प्रारम्भ की जाती है। किन्तु 'ग्रह' योजना परिवर्तित रूप में आज भी प्रचलित है, जैसे :—

१. सम : गायन-वादन की सम अर्थात् प्रथम मात्रा व तबला अथवा मृदंग की प्रथम मात्रा एक ही साथ आती है, उसे 'सम' ग्रह कहा जाता है।

२. विषम : गायन व वादन में यह कौशल्य दिखाया जाए, कि तबले की सम पर गीत अथवा वाद्य के सम का स्पष्टीकरण न हो सके अर्थात् सम को अपने गायन अथवा वादन में गीत अथवा गत के सम वाले अक्षर या स्वर को छुपाया जाए, ऐसी स्थिति को 'विषम' ग्रह कहा जा सकता है।

३. अतीत : तबला अथवा मृदंग की सम व्यतीत होने पर ताल की दूसरी मात्रा पर गीत अथवा गत के सम के अक्षर अथवा स्वर को बताना। इस स्थिति को 'अतीत' ग्रह कहा जा सकता है।

४. अनाघात : अन्+आघात ग्रह-योजना, न आई हुई सम अर्थात् पश्चात् आने वाली सम की मात्रा। जैसे तबले पर जो ताल बज रही है, उसकी एक आवृत्ति पूर्ण न होकर उसकी अन्तिम मात्रा पर गीत या गत की प्रथम अर्थात् सम वाले अक्षर या स्वर की कौशल पूर्वक योजना में तबले की सम गीत अथवा गत की सम के एक मात्रा पश्चात् आती है। इसे 'अनाघात' ग्रह स्थिति कहा जा सकता है।

इस प्रकार की ग्रह योजनाएँ ध्रुवपद एवं धमार गायकों द्वारा आज भी प्रदर्शित की जाती हैं। कतिपय कुशल खयाल-गायक भी सम बताने हेतु उक्त चारों ढंग कौशल पूर्वक प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं। अतएव भरतकालीन चार ग्रहों का आज प्रचलित शास्त्रीय पद्धति में भी विशिष्ट एवं परिवर्तित रूप में प्रदर्शन हो रहा है, यह स्पष्ट है।

६. जाति

किसी ताल के भागों में मात्रा संख्याएँ समान होती हैं व किसी अन्य ताल के भागों में मात्रा-संख्याएँ विषम होती हैं। इन्हीं मात्रा-संख्याओं के वजन पर ताल की लय निर्भर करती है। इसी को जाति कहते हैं। ये जातियाँ चतुस्र, तिस्र, मिश्र, खण्ड एवम् संकीर्ण पाँच प्रकार की बताई गई हैं। इन जातियों का कर्नाटक ताल-पद्धति में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है, किन्तु हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में इनका महत्त्व कर्नाटक पद्धति की अपेक्षा गौण माना गया है। ताल की सम प्रमाणता या विषम प्रमाणता निश्चित रहने से हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में जाति का महत्त्व गौण हो जाता है।

रंगमंच पर विभिन्न प्रकार के नाट्य-पात्र गायन करते थे व उनके गायन के बीच के अवकाश में तंत्र वाद्य-वादन में जिस प्रकार के स्वर बोल बजाए जाते थे, उनके साथ समरस, समलय एवं सुसम्वाद करने वाले बोल मृदंग पर बजते थे, ऐसी व्यवस्था भरत ने नाट्यशास्त्र में की है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत भरत ने ताल-वाद्य की १८ जातियाँ बताई हैं। उनका विस्तृत वर्णन देने की अपेक्षा एक उदाहरण प्रस्तुत करने से जाति के गायन एवं तंत्रवादन की सुसंवादित संगत की कल्पना का आधार प्राप्त होता है। भरत की अठारह जातियों में शुद्धा जाति में एकाक्षरी बोलों की सम परिमाण लय रखी जाएगी, किन्तु सम-विषम जाति में द्रुत एवं मध्य लय के मिश्रित बोल मृदंग पर बजाए जाने चाहिए। उक्त आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि ताल के 'जाति' लक्षण का भी एक स्वतन्त्र महत्त्व है और उसमें सम-विषम मात्रा-संख्याओं के विभाजन में ताल के बोलों का भी अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व होता है।

७. कला

साधारण रूप में कला शब्द का ताल-विधान की दृष्टि से पारिभाषिक अर्थ मात्रा लिया जाता है। दो मात्राओं के बीच आठ कलाओं का अवकाश बताया गया है व पाँच निमिष की एक कला बताई है। इस सम्बन्ध में परिमाण यह है :—

१०० कमल-पत्रों में सुई डालने में लगने वाला समय	१ क्षण
आठ क्षण	१ काष्टा
आठ काष्ठा	१ निमिष
पाँच निमिष	१ कला

उपर्युक्त परिमाण से कला एवं मात्रा के बीच के समयावकाश की साधारण कल्पना की जाती है। मृदंग व तबला-वादन में कला का विशिष्ट अर्थ भी लगाया जाता है। वादन करते समय हाथ की विविध क्रियाएँ होती रहती हैं; किसी क्षण दायाँ हाथ सम्पूर्ण रूप में झुका हुआ लगता है, दूसरे क्षण वही हाथ मृदंग अथवा

तबले से चिपका हुआ लगता है, अन्य क्षण बायाँ हाथ भी अनेक विभिन्न प्रकार की क्रियाएँ करता रहता है। इन दोनों हाथों की इस विविध प्रकार की विविध क्रियाएँ कला के अन्तर्गत मानी जाती हैं। वस्तुतः मृदंग व तबला-वादन में कला का अर्थ मात्रा संकेत ही समझना अधिक उचित होगा।

८. लय

'कला काल कृतोलयः', भरत मुनि ने लय की यह परिभाषा दी है। घड़ी के लंबक (Pendulum) द्वारा समान परिमाण में समय के अखण्ड गतिमापन को लय कहते हैं। लय साधारण रूप में तीन प्रकार की बताई जाती है—१. विलंबित, २. मध्य एवं ३. द्रुत। विलम्बित लय का अर्थ धीमी गति, मध्य लय का अर्थ साधारण गति किन्तु विलम्बित गति से द्विगुण एवं द्रुत का अर्थ तेज गति और मध्य से द्विगुण, ऐसा साधारण प्रमाण है। भरत काल में गति के संकेत स्वरूप द्विकल, चतुष्कल, अष्टकल एवं द्वादशकल जैसी संज्ञाएँ पाई जाती हैं, जिनको लय-प्रकार बताया गया है। आज हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में विलंबित, मध्य एवं द्रुत इन प्रमुख तीन लयों के आधार पर बने अन्य अनेक लय-प्रकार दिखाई देते हैं, जिनका आधार मध्य लय अर्थात् बराबर की लय का स्वीकृत प्रमाण मानना चाहिए। भरत ने भी 'यस्तत्र तु लयो मध्यः तत्प्रमाण कला मतः' इस सूत्र द्वारा इसकी पुष्टि की है। विभिन्न लयों के प्रकारों को सोदाहरण स्पष्ट करने हेतु हिन्दुस्तानी संगीत-पद्धति का ६ मात्राओं वाला ताल दादरा लिया जाए, तो उसमें विभिन्न लय-प्रकार निम्नांकित रूप में स्पष्ट हो सकते हैं:—

दादरा ताल की ६ मात्राएँ

१. मध्य अर्थात् बराबर की लय—१ २ ३ | ४ ५ ६
× | ०

इसमें एक मात्रा में एक ही मात्रा बोली जाएगी।

२. द्विगुण अर्थात् दुगुन जिसमें एक मात्रा-काल में दो मात्राओं को बोलना, जैसे:—१२ ३४ ५६ | १२ ३४ ५६
× | ०

३. चौगुन जिसमें एक मात्रा में चार मात्राओं को सम्मिलित करके सम तक बोलते जाएं, जैसे:—

१२३४ ५६१२ ३४५६ | १२३४ ५६१२ ३४५६
× | ०

४. तिगुन अर्थात् एक मात्रा में तीन मात्राएँ बोलनी चाहिए जैसे :—

१२३	४५६	१२३	४५६	१२३	४५६
×			०		

इन लयों के अतिरिक्त आड़, कुआड़ तथा बियाड़ लयकारियाँ भी आज प्रचार में हैं।

५. आड़ लय : इस लय में एक मात्रा काल में १ १/२ मात्रा अर्थात् २ मात्रा काल में तीन मात्राओं को बोलना चाहिए। जैसे :—

१ऽ२	ऽ३ऽ	४ऽ५	ऽ६ऽ	१ऽ२	ऽ३ऽ	४ऽ५	ऽ६ऽ	१ऽ२	ऽ३ऽ	४ऽ५	ऽ६ऽ
×			०			×			०		

६. कुआड़ लय : इस प्रकार में चार मात्राओं के काल में पाँच मात्राओं को सम्मिलित करके बोला जाएगा। चार मात्राओं में पाँच मात्राएँ अर्थात् १ मात्रा में १ १/४ मात्रा बोली जाएगी। जैसे :—

१ऽऽऽ२	ऽऽऽ३ऽ	ऽऽ४ऽऽ	ऽ५ऽऽऽ	६ऽऽऽ१	ऽऽऽ२ऽ	ऽऽ३ऽऽ	ऽ४ऽऽऽ	५ऽऽऽ६
×			०			×		
ऽऽऽ१	ऽऽ२ऽऽ	ऽ३ऽऽऽ	४ऽऽऽ५	ऽऽऽ६ऽ	ऽऽ१ऽऽ	ऽ२ऽऽऽ	३ऽऽऽ४	ऽऽऽ५ऽ
०			×			०		
ऽऽ६ऽऽ	ऽ१ऽऽऽ	२ऽऽऽ३	ऽऽऽ४ऽ	ऽऽ५ऽऽ	ऽ६ऽऽऽ			
×			०					

७. बिआड़ लय : इस लय में चार मात्राओं के समय में सात मात्राएँ बोली जाएँगी अर्थात् एक मात्रा में १ ३/४ (पौने दो मात्राएँ बोली जाएँगी।) जैसे :—

१ऽऽऽ२ऽऽ	ऽ३ऽऽऽ४ऽ	ऽऽ५ऽऽऽ६ऽ	ऽऽऽ१ऽऽऽ	२ऽऽऽ३ऽऽ	ऽ४ऽऽऽ५ऽ
×			०		

इसी प्रकार दादरा विभागों के अनुसार क्रमशः लिखने के लिए प्रत्येक १ ३/४ मात्रा-समाप्ति का समय सम्पूर्ण छह मात्रा समाप्ति तक लिखा जाए।

उपर्युक्त बराबर (ठाह) दुगुन, चौगुन, छगुन, आड़, कुआड़ तथा बियाड़ लय के प्रकार आज मृदंग व तबला-वादन में स्वतन्त्र रूप से बजाए जाते हैं तथा

ध्रुवपद-धमार गायक उपर्युक्त लयकारियाँ अतीव कौशल से अपनी गायकी में प्रयुक्त करते पाए जाते हैं। हिन्दुस्तानी ताल-वादन में ये लयकारियाँ एक विशेष महत्त्व रखती हैं।

यति

यति-लक्षण को लय से सम्बन्धित बताया जाता है। विलम्बित, मध्य एवं द्रुत—ये तीन उच्चारण विधियाँ यति के अन्तर्गत आती हैं। किसी कविता या छन्द, गीत या स्वर-विन्यास तथा ताल के बोल आदि के उच्चारण के समय किसी विवक्षित स्थान पर सूक्ष्म विश्राम के विधान पर जहाँ पृथक्-पृथक् खण्डों की कल्पना की जाती है, उस विश्राम के अन्तिम अक्षर, स्वर या बोल पर यति स्थित है, ऐसा कहा जाता है। पूर्व में कहा गया है कि यति को लय से सम्बद्ध किया गया है। विलम्बित अर्थात् दीर्घ उच्चारण, मध्य अर्थात् साधारण गति से उच्चारण एवं द्रुत अर्थात् शीघ्र गति युक्त उच्चारण—ये तीनों ही उच्चारण-प्रकार यति के अन्तर्गत आते हैं।

ये यति के प्रकार लय सम्बद्ध हैं। इनका आधार भरतकालीन तीन प्रमुख यतियाँ हैं।

१. स्रोतोगतायति : इस यति-रचना में द्रुत, मध्य तथा विलम्बित का लय-क्रम रखा जाकर गति या स्वरबद्धता पाई जाती है।

२. गोपुच्छायति : इस यति-रचना में विलंबित, मध्य एवं द्रुत के क्रम से गति या स्वर या बोल-रचना पाई जाती है।

३. समा यति : गायन-वादन में किसी भी एक लय में ही प्रारम्भ से अन्त तक जो गीत-रचना या स्वर-रचना होती है, उसे 'समा यति' कहते हैं।

आज अनेक गीतों में उक्त तीनों ही 'यतियाँ' पाई जाती हैं। यहाँ गीत को स्पष्टतः प्रस्तुत करने के स्थान पर किन्हीं विवक्षित स्वर-समूहों द्वारा यति का स्पष्टीकरण निम्नांकित ढग से किया जा सकता है :—

१. स्रोतोगतायति	गरे गमे	पमे	ग— रे—
	द्रुत	मध्य	विलंबित
२. गोपुच्छा यति	ग— रे—	ग मे प मे	ग रे ग रे
	बिलंबित	मध्य	द्रुत
३. समा यति	ग रे ग	मे प मे	ग रे म
	मध्य	मध्य	मध्य

उपर्युक्त प्रकार की लयबद्धता आज अनेक गीतों में पाई जाती है जिनमें उपर्युक्त तीनों ही गति-प्रकार तीनों लय-प्रकारों से स्पष्ट रूप से सम्बद्ध होते हैं।

१०. प्रस्तार

इसका शाब्दिक अर्थ प्रसरण, प्रसारण अथवा विस्तारण किया जाए,तो अधिक उचित होगा। जिस प्रकार गीत-गायन में राग का विस्तार आलाप, तान आदि माध्यमों द्वारा किया जाकर राग को एवं गीत को रंजक बनाया जाता है, उसी प्रकार ताल में कायदा, बोल, पलटे, मुखड़े, टुकड़े, परण व उसके विभिन्न प्रकार तथा विभिन्न लयकारियों आदि का प्रदर्शन किया जाकर ताल-वादन मनोरंजक बनाया जाता है। इस प्रकार ताल को विभिन्न रूपों में सजाया जाता है व उसे विभिन्न अलंकारों से विभूषित करके चित्ताकर्षक बनाया जाता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत, चाहे कर्नाटक पद्धति का हो अथवा हिन्दुस्तानी पद्धति का, में ताल की इकाई (unit) प्रमुख महत्त्व की समझी जाती है। लय, प्रस्तार, ताल के मुखड़े, परण आदि दोनों पद्धतियों में समान रूप से पाए जाते हैं, किन्तु पृथक्-पृथक् दो पद्धतियाँ होने से उनकी नाम-संज्ञाएँ आज भिन्न दिखाई देती हैं। वादन-कौशल के उपकरण भिन्न-भिन्न होने से वादन-शैलियाँ भी विभिन्न दिखाई देती हैं।

हिन्दुस्तानी तालों के बोलाक्षरों के सम्बन्ध में यह पाया जाता है, कि उनमें अधिकतर जो बोलाक्षर दिखाई देते हैं, उनका आधार प्राचीन मृदंग-वादन के बोल हैं। प्राचीन मुख्य अक्षर क, ख, ग, घ, ट, ठ, ड, ण, त, थ, द, ध, द, र, ल, ह, सोलह बताए गए हैं। उपर्युक्त सोलह अक्षरों में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ एवं अः—ये स्वर मिलाए जाकर स्वरयुक्त बोल बजाए जाते थे। इसके पश्चात् स्वरवर्णयुक्त कतिपय संयुक्ताक्षरों का प्रयोग भी किया जाता था। जैसे—क्रं ध्रं त्रं, त्रे, ण्णं, क्ड़ आदि।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में अधिकतर खयाल-गायन के साथ तबले की संगत होती है। आज तबला-वादन में उक्त बोलों के आधार पर धा, ता, तू, ना, धिं, तिं, क्ड़, ता, धे, तिरकिट आदि अक्षरों एवं संयुक्ताक्षरों द्वारा बोलों का निर्माण किया गया है और उन्हीं के आधार पर विभिन्न ठेके, कायदे, मुखड़े, टुकड़े, प्रकार, बोल, परन, रेले आदि की रचनाएँ बनाकर वादन को मनोरंजक किया जाता है।

हिन्दुस्तानी तालों में तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा, त्रिताल, रूपक, आड़ाचौताला एवं झपताल आदि ताल खयाल-गायन के साथ तबला एवं डग्गा द्वारा बजाए जाते हैं। अन्य ताल चौताल, सूलताल, ब्रह्म, मत्त, तीव्रा जैसे ताल ध्रुवपद-गायन के साथ मृदंग अथवा पखावज पर बजाए जाते हैं। बोलों की विभिन्नता के

कारण स्पष्ट उच्चारण हेतु यह माध्यम भिन्न-भिन्न करना पड़ा। कतिपय बोल तबले व डग्गे पर स्पष्ट उच्चारित हो सकते हैं व अन्य शेष व विशिष्ट बोल मृदग अथवा पखावज पर स्पष्ट रूप में उच्चारित हो सकते हैं।

हिन्दुस्तानी ताल-लिपि में निम्नांकित संज्ञाएँ एवं चिह्न हैं, जिनके द्वारा ताल लिपिबद्ध किए जाते हैं :—

१. विभाग : मात्राओं का सम अथवा विषम विभाजन खड़ी रेखाओं द्वारा बताया जाता है, जैसे १२३४। ५६७८। इसमें चार-चार मात्राओं के विभाग हैं।

२. सम : यह प्रत्येक ताल की प्रथम मात्रा पर होती है व हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में प्रत्येक ताल प्रथम मात्रा से ही आरम्भ किया जाता है। इसका चिन्ह गुणाकार × है। सम पर हमेशा ताली ही बजाई जाती है।

३. ताली : सम के पश्चात् ताल के कतिपय अन्य भागों में ताली बजाने के संकेत चिह्न हैं व सम के प्रथम ताल के अतिरिक्त अन्य तालियों को क्रमशः दूसरी, तीसरी एवं चौथी २, ३ ४ इन अंकों द्वारा बताया जाता है, जैसे:—

१२३४	५६७८	९१०१११२	१३१४१५१६
×	२	०	३

उक्त ताल में सम १ मात्रा पर, दूसरी ताली ५वीं मात्रा पर व तीसरी ताली तेरहवीं मात्रा पर स्थित है।

४. खाली अथवा काल : इसमें ताली के स्थान पर जो क्रिया की जाती है, उसे निःशब्द पातक्रिया कहते हैं अर्थात् ताली न बजाई जाकर दाहिना हाथ बाएँ हाथ की अपेक्षा थोड़ा नीचा करके अँगुली द्वारा मात्राओं को प्रकट किया जाता है। इसे काल या खाली कहते हैं, जिसका चिह्न शून्य होता है। उपयुक्त १६ मात्राओं की ताल-लिपि में तीसरे विभाग की प्रथम मात्रा ९-वीं के नीचे खाली का चिह्न बताया गया है।

५. विराम : यह अर्धचंद्राकार जैसा चिह्न एक से अधिक मात्राओं को सम्मिलित करके एक मात्रा काल में बोलने का संकेत चिह्न है, जैसे—

१२ ३४ ५६ आदि।

हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति के सम्बन्ध में ताल-नियम, ताल के दश लक्षण, स्वर युक्त बोल, परण आदि जो आधारभूत तथ्य उपर्युक्त वर्णन में प्रस्तुत किए गए हैं, वे ही साधारणतया कर्नाटकी ताल-पद्धति में आधार स्वरूप माने जाते हैं। हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति में तालों की संख्या असीमित-सी बताई जाती है, किन्तु कर्नाटकी ताल-पद्धति में तालों की संख्या सीमित है व ताल-लिपि एवं चिह्न संज्ञाएँ भिन्न हैं।

कर्नाटकी ताल-संख्या देने के पूर्व उक्त पद्धति के ताल संकेत, स्वरूप, संज्ञाएँ एवं चिह्नों के सम्बन्ध में आगे तथ्य दिए जा रहे हैं।

संज्ञा	चिन्ह	मात्रा संख्या
१. विराम	‿	१ मात्रा
२. द्रुत	०	२ मात्राएँ
३. लघु	।	४ "
४. गुरु	ऽ	८ "
५. प्लुत	३	१२ "
६. काकपद	+	१६ "

सम्पूर्ण कर्नाटकी ताल-पद्धति में उपर्युक्त चिह्नों का प्रचार हैं, व ताल इन्हीं चिह्नों द्वारा लिपिबद्ध किए जाते हैं।

कर्नाटकी अथवा दक्षिणी ताल-पद्धति में निम्नांकित मुख्य सात ताल हैं :—

१. ध्रुव, २. मठ, ३. रूपक, ४. झंप, ५. त्रिपुट, ६. अठ एवं ७. एकताल।

उपर्युक्त मुख्य तालों की निम्नांकित विभिन्न जातियों के आधार स्वरूप ताल-संख्या विस्तृत की गई है :—

१. चतुरस्र जाति, २. त्र्यस्र जाति, ३. मिश्र जाति, ४. खण्ड जाति एवं ५. संकीर्ण जाति।

उपर्युक्त पाँच जातियों के आधार पर प्रत्येक ताल की सात जातियाँ मानी जाकर ५×७=३५ ताल-प्रकार बने हैं, जिनमें जाति बदलने पर ताल की मात्रा-संख्या कम या अधिक होती है व उसी के अनुसार ताल-विभागों में मात्रा संख्याएँ घटती बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। इसकी स्पष्टता निम्नांकित मानचित्र द्वारा की जा रही है :—

क्र०	ताल नाम	चतस्र जाति	तिस्र जाति	मिश्र जाति	खंड जाति	संकीर्ण जाति
१.	ध्रुव	४,२,४,४	३,२,३,३	७,२,७,७	५,२,५,५	६,२,६,६
२.	मठ	४,२,४	३,२,३	७,२,७	५,२,५	६,२,६
३.	रूपक	४,२	३,२	७,२	५,२	६,२
४.	झंप	४,१,२	३,१,२	७,१,२	५,१,२	६,१,२
५.	त्रिपुट	४,२,२	३,२,२	७,२,२	५,२,२	६,२,२
६.	अठ	४,४,२,२	३,३,२,२	७,७,२,२	५,५,२,२	६,६,२,२
७.	एक ताल	४	३	७	५,	६

इस ताल-पद्धति में उपर्युक्त चिह्नों द्वारा प्रत्येक ताल को इस प्रकार लिखा जाएगा।

क्र०	ताल नाम	ताल चिह्न	चिह्न स्पष्टीकरण	मात्रा संख्या
१.	ध्रुव ताल	।०।।	लघु, द्रुत लघु एवं पुनः लघु	१४ मात्राएँ
२.	मठ ताल	।०।	लघु, द्रुत एवं लघु	१० "
३.	रूपक	।०	लघु एवं द्रुत	६ "
४.	झप ताल	।◡०	लघु, विराम एवं द्रुत	७ "
५.	त्रिपुट	।००	लघु, द्रुत एवं द्रुत	८ "
६.	अठ ताल	।।००	लघु, लघु द्रुत एवं द्रुत	१२ "
७.	एकताल	।	लघु	४ "

उपर्युक्त मानचित्र द्वारा यह स्पष्ट होता है कि दक्षिणी अथवा कर्नाटकी सात ताल मानचित्रों में निर्दिष्ट ताल-चिह्नों द्वारा लिखे जाएँगे अर्थात् ध्रुवताल का चिह्न संकेत [।०।।] यह होगा जिसकी परिभाषा लघु [।] द्रुत [०] लघु [।] एवं पुनः लघु [।] लघु, द्रुत, लघु, लघु, [।०।।] यह होगी। इसी प्रकार अन्य शेष तालों की उपर्युक्त मानचित्र में वर्णित चिह्नों द्वारा निश्चित परिभाषा समझनी चाहिए।

इस ताल-पद्धति के प्रथम मानचित्र में प्रथम ताल ध्रुवताल की मात्रा-संख्या ४, २, ४, ४ कुल १४ बताई है, किन्तु उसी ताल में तिस्र जाति के अन्तर्गत ये संख्याएँ ३, २, ३, ३ कुल ११ मानी गई हैं। अर्थात् एक ही ध्रुवताल की चतस्र जाति में ४, २, ४, ४=१४ मात्राएँ व तिस्र जाति में ३, २, ३, ३=११ मात्राएँ होती हैं। शेष तीन जातियों में भी ताल की मात्रा-संख्या ताल के एक होते हुए भी घटती-बढ़ती क्यों हुई, यह प्रश्न स्वाभाविक है। दक्षिणी ताल-पद्धति में यह विशेषता है, कि उनके लघु चिह्न-संकेत निश्चित किए हुए हैं, किन्तु उसी ताल की जाति बदलने पर लघु की मात्रा संख्या घट-बढ़ होती है, जिसका कारण यही है कि इस ताल-पद्धति में जाति

बदलने पर लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या में भेद किया जाता है। अर्थात् ध्रुवताल चतस्र जाति का रहेगा, तब उसकी मात्रा संख्या ४, २, ४, ४=१४ होगी व चिह्न संकेत लघु, द्रुत, लघु, लघु रहेगा। यहाँ लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार मानी जाएगी, किन्तु जब ध्रुवताल तिस्र जाति का होगा, तब चिह्न संकेत वही चतस्र जाति वाले अर्थात् लघु, द्रुत, लघु, लघु निश्चित रूप में रहेंगे, किन्तु लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार के स्थान पर तीन समझी जाएगी व तिस्र जाति का वही ध्रुवताल उन्हीं चिह्नों द्वारा (।०।। लघु, द्रुत, लघु, लघु) लिखा जाकर मात्राएँ ३, २, ३, ३=११ होंगी। इसी प्रकार शेष अन्य जातियों में ध्रुवताल का निश्चित चिह्न ।०।। [लघु, द्रुत, लघु, लघु] वही रहेगा, किन्तु उसकी जाति के अनुसार लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या मिश्र जाति में सात, खण्ड जाति में पाँच एवं संकीर्ण जाति में नौ होंगी। इसका स्पष्टीकरण पृष्ठ ४६४ पर दिए गए मानचित्र द्वारा किया जाता है :—

इस मानचित्र से यह स्पष्ट होगा, कि दक्षिणी अर्थात् कर्नाटकी ताल पद्धति में प्रमुख ताल सात हैं, किन्तु प्रत्येक ताल की पाँच-पाँच जातियाँ होने से दक्षिणी ताल पद्धति की ७×५=३५ तालें हो जाती हैं। दूसरी विशेषता यह है, कि ताल-चिह्न लघु, गुरु, द्रुत आदि नाम-संज्ञाएँ और चिह्न-संकेत जाति बदलने पर भी उसी निश्चित अवस्था में रहते हैं, किन्तु जाति के अनुसार लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या क्रमशः चार, तीन, सात, पाँच एवं नौ हो जाती हैं।

उपर्युक्त तालों में विभागों के बारे में यह निश्चित किया हुआ है, कि जितने चिह्न होंगे उतने ही विभाग होंगे। जैसे ध्रुवताल लघु, द्रुत, लघु, लघु अर्थात् ।०।। इन चार चिह्नों के संकेत स्वरूप हैं, तब इस ताल के विभाग चार ही समझे जाएंगे। चतस्र जाति में ध्रुवताल इस प्रकार लिखा जाएगा :—

।०।। (लघु, द्रुत, लघु, लघु) ४, २, ४, ४

१	२	३	४,	५	६,	७	८	९	१०,	११	१२	१३	१४
×				२		३				४			

मानचित्र

क्र०	ताल नाम	निश्चित चिह्न	चिह्न स्पष्टीकरण	चतुरस्र जाति	मात्रा संख्या	तिस्र जाति	मात्रा संख्या	मिश्र जाति	मात्रा संख्या	खंड जाति	मात्रा संख्या	संकीर्ण जाति	मात्रा संख्या
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
१	ध्रुव ताल	I0II	लघु, द्रुत, लघु, लघु	४,२,४,४	१४	३,२,३,३	११	७,२,७,७	२३	५,२,५,५	१७	९,२,९,९	२९
२	मठ ताल	I0I	लघु, द्रुत, लघु	४,२,४	१०	३,२,३	८	७,२,७	१६	५,२,५	१२	९,२,९	२०
३	रूपक ताल	I0	लघु, द्रुत	४,२	६	३, २	५	७, २	९	५, २	७	९,२	११
४	झप ताल	I‿0	लघु, विराम, द्रुत	४,१,२	७	३,१,२	६	७,१,२	१०	५,१,२	८	९,१,२	१२
५	त्रिपुट	I0 0	लघु, द्रुत, द्रुत	४,२,२	८	३,२,२	७	७,२,२	११	५,२,२	९	९,२,२	१३
६	अठ ताल	II00	लघु, लघु, द्रुत, द्रुत	४,४,२,२	१२	३,३,२,२	१०	७,७,२,२	१८	५,५,२,२	१४	९,९,२,२	२२
७	एक ताल	I	लघु	४	४	३	३	७	७	५	५	९	९

ध्रुवताल त्र्यस्र जाति (३, २, ३, ३)

| ० | |

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११
× २ ३ ४

इसी प्रकार शेष अन्य जातियों के अन्य ताल लिखे जाएँगे । दक्षिण अथवा कर्नाटकी ताल पद्धति में निःशब्द पातक्रिया अर्थात् खाली का चिह्न निर्दिष्ट नहीं है, किन्तु निःशब्द पातक्रिया आवाप, निष्क्राम, विक्षेप एवं प्रवेश-क्रियाओं द्वारा निश्चित हस्त-संकेतों से बताई जाती है। खाली बताने हेतु निश्चित चिह्न नहीं होता।

दक्षिणी अथवा कर्नाटकी एवं उत्तरी अथवा हिन्दुस्तानी तालों में कौन-सी तालें समान होती हैं, इसका विवेचन करने के पूर्व यह उल्लेख आवश्यक है, कि हिन्दुस्तानी ताल की दक्षिणी ताल-लिपि में लिखते समय हिन्दुस्तानी तालों का काल अर्थात् खाली के सम्पूर्ण विभाग को उस विभाग के पूर्व विभाग में सम्मिलित करके लुप्त करना पड़ेगा, क्योंकि दक्षिणी ताल-लिपि में खाली का चिह्न संकेत नहीं है। इसके अतिरिक्त ताल-चिह्न भी उसी प्रकार रखने होंगे, जिससे विभागों का स्पष्टीकरण हो। इसका स्पष्टीकरण यों है। हिन्दुस्तानी पद्धति का १६ मात्राओं का ताल, त्रिताल, दक्षिणी ताल-पद्धति में लिखना होगा, तो उसकी नौवीं मात्रा पर खाली होने वाला ९, १०, ११, १२ यह विभाग उसके पूर्व के ताली वाले विभाग अर्थात् ५, ६, ७, ८ मात्राओं के विभाग में सम्मिलित करके उस विभाग को चार मात्रा के स्थान पर आठ मात्रा का बनाना पड़ेगा, जैसे हिन्दुस्तानी त्रिताल सोलह मात्रा का इस प्रकार लिखा जाएगा :—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
× २ ० ३

खाली का विभाग दूसरी ताली के विभाग में सम्मिलित किया जाकर उसे तीन विभाग का किया गया :—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६
× २ ३

दक्षिणी ताल-लिपि के अनुसार इस परिवर्तित ताल में हिन्दुस्तानी त्रिताल के चार-चार मात्राओं के चार विभागों के स्थान पर चार-आठ एवं चार मात्राओं के तीन विभाग खाली के विभाग को लुप्त करके किए गए हैं। इस परिवर्तित ताल को दक्षिणी ताल-पद्धति के संकेत चिह्नों द्वारा स्पष्ट करना हो, तो ४, ८, ४ अर्थात् लघु, गुरु, लघु ।ऽ। इस प्रकार लिखना होगा, जिससे यह स्पष्ट होता है, कि चिह्न-संकेत तीन अर्थात् । ऽ । हैं, तो इसके विभाग भी तीन होंगे।

दक्षिणी अथवा कर्नाटकी ताल-पद्धति के नियमानुसार हिन्दुस्तानी ताल का परिवर्तन करते समय खाली विभाग को उसके पूर्व के ताली-विभाग में सम्मिलित करते समय यदि एक से अधिक दक्षिणी चिह्नों का प्रयोग करना पड़े, तब ऐसे दक्षिणी चिह्नों को उनके माथे पर रखना चाहिए जिससे उस परिवर्तित ताल के विभाग अधिक न हों। जैसे हिन्दुस्तानी ताल, झपताल का दक्षिणी परिर्वातित रूप मात्राओं के अनुसार यह होगा :—

हिन्दुस्तानी ताल झपताल मात्रा १०

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
×		२			०		३		

परिवर्तित दक्षिणी अथवा कर्नाटकी रूप :—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
×		२					३		

हिन्दुस्तानी ताल, झपताल के खाली विभाग की छठी एवं सातवीं मात्रा को दूसरी ताली के विभाग में मिला देने से उपर्युक्त रूप प्राप्त होता है। इसे कर्नाटकी ताल चिन्हों मे लिखते समय यह ध्यान रखना चाहिए, कि यह ताल सम, विषम मात्राओं में विभाजित होने से दक्षिणी चिन्हों द्वारा स्पष्टत: संकेतित हों। अब दक्षिणी ताल चिन्हों में उक्त परिर्वातित रूप इस प्रकार दर्शाया जाएगा :—

उक्त चिन्हों से या परिर्वातित रूप से यह स्पष्ट होता है, कि इसके तीन विभाग होंगे अर्थात् १ २ । ३ ४ ५ ६ ७ । ८ ९ १० यहाँ इस परिर्वातित ताल में दूसरे विभाग की पाँच मात्राओं को लघु विराम अर्थात् | बताया जा सकता है किन्तु लघु विराम (|) के स्थान पर हिन्दुस्तानी ताल, झप ताल की उस विषम-सम मात्राओं के सम्मेलन को द्रुत-विराम-द्रुत इस प्रकार बताना अधिक उचित होगा। हिन्दुस्तानी ताल के पाँच मात्रा वाले एक ही विभाग की मात्राओं का दक्षिणी ताल-पद्धति में परिवर्तन करना हो, तब लघु विराम | बताना चाहिए अर्थात् विषस-सम मात्राओं वाले या सम-विषम मात्राओं वाले ही दो विभागों का ताली खाली का सम्मिश्रण या बताना चाहिए व जहाँ सम-विषम या विषम-सम मात्राओं वाले विभाग का सम्मिश्रण न हो व केवल ५ मात्राओं वाला एक ही विभाग हो, वहाँ लघु विराम | का रूप बताना चाहिए; जैसे हिन्दुस्तानी ताल, धमार देखिए :—

१ २ ३ ४ ५   ६ ७ ८ ९ १०   ११ १२ १३ १४
×   २   ३

दक्षिणी ताल में परिवर्तित धमार का रूप :—

१ २ ३ ४ ५ | ६ ७ ८ ९ १० | ११ १२ १३ १४

उपर्युक्त धमार लघु-विराम, द्रुत-द्रुत-विराम एवं लघु द्वारा बताया गया है। इसमें पाँच मात्राओं वाला केवल एक ही विभाग [प्रथम विभाग] लघु-विराम द्वारा व सम-विषम मात्राओं वाले दोनों विभागों का सम्मिश्रण द्रुत-द्रुत विराम द्वारा बताया गया है।

अब ऐसे कौन-से हिन्दुस्तानी ताल हैं, जो दक्षिणी रूप ग्रहण करने के पश्चात् किसी दक्षिणी ताल के सदृश हों, यह प्रश्न आता है। हिन्दुस्तानी पद्धति के ऐसे दो ताल १. एक ताल एवं २. चौताल हैं। दोनों ही तालों के मात्रा-विभाजन, ताली-खाली आदि समान होने के कारण केवल एक ताल का ही उदाहरण पर्याप्त है :—

हिन्दुस्तानी एक ताल :—१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
× ० २ ० ३ ४

दक्षिणी परिवर्तित रूप :—१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२
× २ ३ ४

उपर्युक्त परिवर्तित रूप को ताल-लिपि के संकेतानुसार ।।०० लघु, लघु, द्रुत, द्रुत लिखा जाएगा, जो प्रमुख सात दक्षिणी तालों में से चतस्र जाति का अठताल बनता है, जहाँ लघु की मात्रा-प्रमाण-संख्या चार मानी जाती है। अर्थात् एक ताल एवं चौताल ऐसे केवल दो ही ताल दक्षिणी रूप ग्रहण करने के पश्चात् दक्षिणी ताल के अठ ताल के समान हो जाते हैं। इसी प्रकार त्रिपुट तिस्र जाति हिन्दुस्तानी तीव्रा के समान है।

दोनों ही ताल-पद्धतियों के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है, कि ताल, काल, मात्रा, लय, ताल के दश लक्षण, विभिन्न प्रकार के कायदे, परण, टुकड़े, मुखड़े में प्रयुक्त स्वर वर्णयुक्त बोल आदि की परिभाषाएँ दोनों ही ताल-पद्धतियों में समान रूप में स्वीकृत पाई जाती हैं। प्रस्तुतीकरण का माध्यम, उपकरण, सशब्द पात, [ताली] निःशब्द पातक्रिया [खाली] निदर्शक प्रक्रिया, गीत-प्रकार व उसके प्रस्तुतीकरण के अनुसार संगत एवं राग रंजकत्व-निदर्शक शैली आदि बातों में दक्षिणी पद्धति की अपनी एक विशिष्ट एवं स्वतंत्र शैली है। दोनों पद्धतियों के गायन एवं वादन में आज भिन्नता पाई जाती है। वस्तुतः दोनों ही पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में अपनी निजी विशेषताएँ लिए हुए हैं।

प्रस्तुतीकरण के माध्यम एवं उपकरण के सम्बन्ध में जब विभिन्नता का विचार करते हैं, तब यह प्रतीत होता है, कि हिन्दुस्तानी ताल-वादन-पद्धति का माध्यम अधिकतर तबला-डग्गा है, जिसके बनाने के उपकरण, विशिष्ट प्रकार की मिट्टी, विशिष्ट प्रकार की लकड़ी के खोल, चमड़ा, स्याही आदि हैं। किन्तु कर्नाटकी ताल-वादन का माध्यम अधिकतर 'घटम्' अर्थात् मिट्टी का घड़ा होता है। कभी-कभी तांबे के घड़े के साथ भी यह गायन-वादन किया जाता है। प्रमुख ताल-वाद्य 'मृदंग' इस पद्धति में दिखाई देता है। वास्तव में मृदंग का अर्थ मृत् अर्थात् मिट्टी व अंग यानी शरीर है। मिट्टी का जिसका शरीर है, उसे मृदंग कहा जाए। प्राचीन काल में मिट्टी के घड़े के माध्यम से ताल-वादन किया जाता था। इस कारण से इसे मृदंग कहा गया है। आज मृदंग का जो रूप है, उसके उपकरण मिट्टी के स्थान पर लकड़ी के खोल, चमड़ा, स्याही, आटा आदि होने से उसके आकार, प्रकार व रूप में भिन्नता आ गई है, फिर भी उसे मृदंग ही कहा जाता है। सारांश यह है, कि ताल-वादन का माध्यम भिन्न होने से ताल-वादन-प्रक्रिया में दोनों ही पद्धतियों में विभिन्नता पाई जाती है।

ताल-क्रिया में ताली-खाली-प्रक्रिया की दोनों ही पद्धतियों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र शैली दोनों ताल-पद्धतियों की भिन्नता बताती है। खयाल-ध्रुवपद आदि गायन-प्रकारों के अनुकूल ताल-वादन-शैली हिन्दुस्तानी ताल-पद्धति की विशेषता है व वर्णम्, कृति, तिल्लाना आदि गायन-प्रकारों के अनुकूल ताल-वाद्य एवं ताल-वादन-शैली दक्षिणी पद्धति की अपनी विशेषता है।

सारांश यह है कि ताल संगीत की एक विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण इकाई (unit) है। कर्नाटक पद्धति और हिन्दुतानी पद्धति दोनों में ताल की इकाई (unit) का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव दोनों ही संगीत पद्धतियों के गायन-वादन के प्रस्तुतीकरण की शैलियों के अनुकूल ताल के विभिन्न रूप निर्धारित किए गए हैं।

□□□

हिन्दुस्तानी पद्धति के प्रचलित तालों का विवरण

हिन्दुस्तानी पद्धति में तालों के अंगों पर ज्यादा ध्यान न देकर तालों की मात्राओं और तालों में 'पात' एवं 'खाली' की जगह और ठेके एवं बोल पर अधिक ध्यान दिया जाता है। प्रचलित मुख्य ताल ये हैं—

१. त्रिताल[1], १६ मात्राएँ (तीन पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
ना	धीं	धीं	ना	ना	धीं	धीं	ना	ना	तीं	तीं	ना
पा				पा				खा			

१३	१४	१५	१६
ना	धीं	धीं	ना
पा			

२. एक ताल[2], १२ मात्राएँ (चार पात और दो खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धीं	धीं	धागे	त्रक	तू	ना	क	त्ता	धागे	त्रक	धीं	ना
पा		खा			पा	खा		पा		पा	

१. प्राचीन सूडादि सप्ततालों में त्रिपुटा एक है। 'त्रिपुटा', 'तिवटा' होकर 'त्रिताल' हो गया है। त्रिपुट के अंग '००।' हैं। चतुरस्रजाति त्रिपुट ताल ८ अक्षर काल से युक्त है। उसे दक्षिण के संप्रदाय में आदि ताल कहते हैं। इसमें हरएक अक्षर को दुगुना करके हिन्दुस्तानी संप्रदाय में १६ मात्राएँ बनाई गई हैं। पर पात का स्थान प्राचीन अंगों का अनुसरण करता है। दोनों द्रुतों के लिए दो पात और एक लघु के लिए तीसरा पात और एक खाली।

२. एक ताल का प्राचीन अंग एक लघु है। उसकी त्र्यस्रजाति में ३ मात्राएँ हैं। हरएक मात्रा को चौगुनी करके पहली दो मात्राओं के लिए दो पात और तीसरी मात्रा को दो पात दिए गए हैं। इसी रीति से एक ताल का निर्माण हुआ है।

१. चौताल[1], १२ मात्राएँ (चार पात और दो खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२
धा	धा	धीं	ता	किट	धा	धीं	ता	किट	कत	गदी	गन
पा		खा		पा		खा		पा		पा	

२. आड़ा चौताल[2], १४ मात्राएँ (चार पात और तीन खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धी	तृक	धी	ना	तू	ना	क	त्ता	धि	धि	धि	ना	धि	ना
पा		पा		खा		पा		खा		पा		खा	

३. झपताल १० मात्राएँ[3], (तीन पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
धी	ना	धी	धी	ना	ती	ना	धी	धी	ना
पा		पा			खा		पा		

४. रूपक ताल[4], ७ मात्राएँ, (तीन पात)

१	२	३	४	५	६	७
ती	ती	ना	धी	ना	धी	ना
पा			पा		पा	

---

१. चौताल प्राचीन अड्डताल से उत्पन्न हुआ है। अड्डताल के अंग ।। ०० हैं। इसकी चतुरस्रजाति में ४+४+२+२=१२ मात्राएँ हैं। पर अंगों का अनुसरण करके पात दिए गए हैं। हरएक लघु का एक पात और एक खाली और हरएक द्रुत का एक पात दिया गया है।

२. कर्नाटक संप्रदाय में अड्डताल की खण्डजाति और ध्रुवताल की चतुरस्रजाति प्रायः प्रयोग में है। दोनों की मात्राएँ १४ हैं। हिन्दुस्तानी पद्धति के आड़ाचौताल नामक ताल में अड्डताल के अनुसार ५+५+२+२ इस प्रकार विभाग न करके २+४+४+४= ऐसा विभाग किया गया है।

३. झपताल के प्राचीन अंग । ००० हैं। कर्नाटक संप्रदाय के अनुसार मिश्रजाति झम्पताल की ७+२+१=१० मात्राएँ हैं। अंगों के अनुसार करें तो तीन पात होते हैं। पर इन तीनों पातों के विनियोग में हिन्दुस्तानी पद्धति में कुछ अन्तर हैं।

४. रूपकताल के प्राचीन अंग ० । हैं। खण्डजाति में इसके २+५=७ अक्षर हैं। अंगों का अनुसरण करें तो दो पात ही होते हैं। पर यहाँ लघु के दो पात और द्रुत का एक पात दिया गया है।

७. दादरा[1], ६. मात्राएँ (दो पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	
धा	गे	ना	धा	ती	ना	
पा		पा	खा			संप्रदाय १

१	२	३	४	५	६	
धीं	ग	ना	ना	तु	न्ना	
पा		पा		खा		संप्रदाय २

१	२	३	४	५	६	
धा	धी	ना	धा	ती	ना	संप्रदाय ३

८. धमार, १४ मात्राएँ (तीन पात)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ता	धे	ऽ	धे	ऽ	धा	ऽ	त	कि	ट	कि	ट	त	क
पा					पा			पा				संप्रदाय—१	

तीन पात और एक खाली

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ता	धे	ऽ	धे	ऽ	धा	ऽ	त	धि	न	दि	न्न	धा	ऽ
पा					पा			पा			खा	संप्रदाय—२	

इसके ठेकें के दूसरे प्रकार के बोल

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धा	ऽ	ऽ	धि	ट्ट	धा	ऽ	ग	द्दि	न्न	ति	ट्ट	ता	ऽ
पा					पा					पा		खा. संप्रदाय—२	

---

१. इनमें पहले दोनों संप्रदायों में मात्रा और पात व खाली के स्थान समान हैं। पर ताल की मात्राओं का 'पाद भाग' करने में अन्तर है। प्राचीन काल से ताल की मात्राओं का कई पादों जैसा विभाग करने की परम्परा थी, उसका नाम 'पाद भाग' है। दादरे में पहले संप्रदाय में तीन-तीन मात्राओं के दो पाद हैं। दूसरे संप्रदाय में दो-दो मात्राओं के तीन पाद हैं। तीसरे संप्रदाय में पाद भाग पहले संप्रदाय के समान है। परन्तु पात व खाली में अन्तर है। पहले संप्रदाय में २ पात और एक खाली है। तीसरे संप्रदाय में एक पात और एक खाली है।

तीसरे प्रकार के बोल

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
क	धी	न	धी	न	धा	ऽ	क	द्धी	न	ती	न	ता	ऽ
पा					पा					पा	खा. संप्रदाय—२		

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
क	धी	न	धी	न	धा	ऽ	क	द्धो	न	ती	न	धा	ऽ
पा					पा		खा			पा		संप्रदाय—३	

९. कहरवा, ४ मात्राएँ (एक पात और खाली)

१	२	३	४
धागे	नति	नक	धिन
पा		खा	

१०. झूमरा, १४ मात्राएँ (तीन पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
क	धी	न	धी	न	धा	ऽ	क	धी	न	ती	न	ता	ऽ
पा			पा				खा			पा		संप्रदाय—१	

इस ठेके के दूसरे प्रकार के बोल

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धिं	धातृ	कट	धिं	धिं	धागे	तृकट	तिं	तातृ	कट	धिं	धिं	धागे	तृकट
पा			पा				खा			पा			

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धा	तृक	धिं	धिं	धा	गि	तृक	धिं	तातृक	धिं	तागि		तृक	तिं
पा			पा			खा				पा		संप्रदाय—२	

११. दीपचन्दी, १४ मात्राएँ (तीन पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धिं	ऽ	धिं	ऽ	धा	गे	ति	तिं	ऽ	तिं	ऽ	धा	गे	तिं
पा				पा			खा				पा	संप्रदाय—१	

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
धिं	धिं	ऽ	धातृ	कट	तूना		कत्ति		ऽ	धा	तृकट	तू	ना
पा			पा				खा			पा		संप्रदाय—२	

१२. धीमा त्रिताल, १६ मात्राएँ (तीन पात और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धा	तृक	धा	धी	ना	धी	नि	ति	ता	तृक	धा	धी	ना	धीं	धि	धिं
पा				पा				खा				पा			

पंजाबी ठेका

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
धी	न धी	न	धा	धी न	धी	न	धा	ती	न	ती न	ता	धी	न	धीन	धा
पा				पा				खा				पा			

१ २ ३ ४	५ ६ ७ ८	९१०११ १२	१३१४१५ १६
तक्कधि—धा	तक्कधि—धा	तक्कति—ता	तक्कधि—धा
पा	पा	खा	पा

१३. फरोवस्त, १३ मात्राएँ (पाँच पात और एक खाली)

१	२	३ ४	५ ६	७ ८ ९	१० ११	१२ १३
धा	ऽ	धिन्ना	धिन्ना	धिधिन्ना	तिटिकित	गदि गन
पा		पा	पा	पा	पा	खा

१४. सूरफ़ाख्ता[1], (उसूले फाख्ता), १० मात्राएँ
(तीन पात और दो खाली)

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	
धा गी	तिट	धा गी	धागी	तीट	
पा	खा	पा	पा	खा	संप्रदाय—१

१ २	३ ४	५ ६	७ ८	९ १०	
धि धि	ना तू	ना क	त्ता धा	ती ना	
पा	पा	खा	पा	खा	संप्रदाय—२

१५. प्रभातकिरण, ११ मात्राएँ (पाँच पात)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
धा	धी	ना	धी	ना	त्रक	ती	ना	धी	धी	ना
पा	पा		पा					पा	पा	

---

१. प्राचीन सालगसूड के मंठ या मठ्यताल के अंग '।०।' हैं। चतुरस्र जाति में ४+२+४=१० अक्षर हैं। अंगों का अनुसरण करके यहाँ हरएक लघु के लिए एक पात और खाली तथा द्रुत के लिए एक पात दिया गया है।

१६. मत्त, ६ मात्राएं (छह पात)

१	२	३	४	५	६	७	८	९
धा	तिट	नागे	तिट	कत	किट	तिट	कत	गेन
पा		पा	पा		पा	पा	पा	

१७. गजल का ठेका, ६ मात्राएँ (दो पात)

१	२	३	४	५	६	७	८	९
तिं	ऽ	त	क	धिं	ऽ	ना	ना	ऽ
पा				पा				

१८. होरी का ठेका, १४ मात्राएँ

(तीन पात अर्थात् ताली और एक खाली)

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
ना	धि	ऽ	ना	क	धि	ऽ	ना	तिं	ऽ	ना	क	धिं	ऽ
पा			पा				खा			पा			

□□□

कर्नाटिक तथा उत्तर भारतीय प्रसिद्ध राग

राग विवरण

अल्हैयाबिलावल

यह राग बिलावल ठाठ से उत्पन्न होता है। यह षाडव-सपूर्ण राग है। वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर गांधार है। इसके अवरोह में किंचित् कोमल निषाद का प्रयोग होता है, बाकी स्वर शुद्ध लगते हैं। आरोह में मध्यम छोड़ देते हैं। गाने का समय प्रातःकाल का प्रथम प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे, ग रे, ग प, ध, नि ध, नि सां। सां नि ध, प ध नि़ ध प, म ग, म रे, सा।

पकड़

ग रे, ग प, ध, नि सां।

आसावरी

यह राग आसावरी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें गांधार, धैवत और निषाद कोमल प्रयुक्त होते हैं तथा बाकी सब स्वर शुद्ध लगते हैं। यह राग बहुत प्रिय है। वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर गांधार है। आरोह में गांधार तथा निषाद वर्जित रहते हैं और अवरोह संपूर्ण है, इसलिए इसकी जाति औडव-संपूर्ण है। इस राग के गाने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इससे बहुत मिलते-जुलते राग जौनपुरी और गांधारी हैं; आसावरी गाते समय इन दोनों रागों से बचना आवश्यक होता है। इस राग की विशेषता गांधार, पंचम और धैवत पर है। यह राग अवरोह में अच्छा खिलता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे, म, प, ध॒ सां। सां नि॒ ध॒, प, म, ग॒ रे सा।

पकड़

रे, म, प, नि॒ ध॒ प।

कालिंगड़ा

यह राग भैरव ठाठ से उत्पन्न होता है। इसका स्वरूप बिलकुल सरल है। इसमें सब स्वर लगते हैं, इसलिए इसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। इस राग में ऋषभ तथा धैवत कोमल लगते हैं। वादी स्वर पंचम तथा संवादी स्वर षड्ज मानते हैं। गाने का समय रात्रि का अंतिम प्रहर है। कालिंगड़ा में यदि ऋषभ और धैवत स्वरों पर अधिक आंदोलन होता है,तो भैरव का स्वरूप दिखाई देने की संभावना रहती है। इस राग की प्रकृति क्षुद्र मानी जाती है। सुनने में यह राम बहुत मधुर मालूम पड़ता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे॒ ग म, प, ध॒ नि सां। सां, नि ध॒ प, म ग रे॒ सा।

पकड़

ध॒ प, ग म ग, नि, सा रे॒ म, स।

केदार

केदार राग कल्याण ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है। इसमें एक विशेषता और है, कि कभी-कभी इसके अवरोह में दोनों मध्यम एक के बाद एक लगाए जाते हैं; उस समय ये दोनों मध्यम सुनने में बड़े मधुर मालूम होते हैं। इस राग में आरोह के समय षड्ज से एकदम मध्यम पर जाना पड़ता है। अवरोह में कोमल निषाद का अल्प प्रयोग धैवत के साथ कभी-कभी करते हैं। वह कोमल निषाद विवादी समझकर उपयोग में लाया जाता है। केदार में आरोह के समय ऋषभ और गांधार को वर्जित करते हैं; अवरोह में गांधार वक्र और दुर्बल रहता है; इसलिए इस राग की जाति औडव-षाडव मानी जाती है। इसका वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। केदार राग में गांधार स्वर का प्रयोग करके राग का अंग सम्हालना बहुत कुशलता का काम है। वहाँ 'ग म प ग म रे सा' ऐसा स्पष्ट होने से कामोदादि राग दिखाई देने लगते हैं और यदि 'म ग रे सा' ऐसा प्रयोग हुआ, तो बिलावलादि रागों की छाया दिखाई देने का डर रहता है, इसलिए गायक कहते हैं, कि केदार में गांधार गुप्त है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा म, म प, ध प, नि ध, सां। सां, नि ध, प, मं प ध प, म, ग म रे सा।

पकड़

सा, म, म प, ध प म, रे सा।

कामोद

यह कल्याण ठाठ का राग है। इसमें दोनों मध्यम प्रयोग किए जाते हैं। तीव्र मध्यम का प्रयोग केवल आरोह में होता है। वादी स्वर पंचम और संवादी ऋषभ है। जाति संपूर्ण-संपूर्ण है, परन्तु गान्धार और निषाद को आरोह में दुर्बल रखते हैं। अवरोह में, कभी-कभी कोमल निषाद का प्रयोग विवादी स्वर के नाते कर लिया जाता है। इस राग में ऋषभ से पंचम पर जाते हैं। गायन समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है—सारे, प, मंप, धप, निधसां। सां, निध, प, मंपधप, गमप, गमरेसा। अवरोह में गान्धार को वक्र रखते हैं।

स्वरूप

रे, प, मंपधप, गमप, गमरेसा।

जब किसी राग में रेप या गमप, गमरेसा ले लेते हैं तब इस स्वर-समुदाय को कामोद का अंग कह देते हैं।

खमाज

यह राग खमाज ठाठ से उत्पन्न होता है। आरोह में ऋषभ स्वर वर्जित रखते हैं, बाकी सभी स्वर लगते हैं; इसलिए इसकी जाति षाडव-संपूर्ण है। आरोह में शुद्ध निषाद लगता है तथा अवरोह में कोमल निषाद। इस राग का वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। यह राग भी बहुत मधुर है। इसमें ठुमरियाँ तथा होलियाँ अधिक सुनने में आती हैं।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, ग म, प, ध नि सां। सां नि ध प, म ग, रे सा।

पकड़

नि, ध, म प, ध, म ग।

काफी

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें गांधार और निषाद कोमल तथा बाकी स्वर शुद्ध लगते हैं। वादी स्वर पंचम और संवादी स्वर षड्ज हैं। जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। इस राग के गाने का समय मध्य-रात्रि मानते हैं, कोई इसे सार्वकालिक राग भी मानते हैं। यह राग सर्वसाधारण में लोकप्रिय है। इस राग में ठुमरियाँ तथा होलियाँ अधिक सुनने में आती हैं। इस राग की होलियाँ तो बहुत ही मशहूर हैं।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे ग॒, म प, ध, नि॒ सां। सां नि॒ ध प, म ग॒, रे, सा।

पकड़

सा सा रे रे, ग॒ ग॒, म म, प।

गौड़ सारंग

यह कल्याण ठाठ का राग है। इसमें दोनों मध्यम लगते हैं, तीव्र मध्यम केवल आरोह में लेते हैं। जाति वक्र संपूर्ण है। वादी स्वर गांधार व संवादी धैवत है। गायन समय दोपहर है। ग रे म ग स्वर समूह को बारम्बार लेने से राग स्पष्ट हो जाता है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है—

स, ग रे म ग, प मं ध प, नि ध सां। सां नि ध प, धमं पग, मरे, प, रेसा।

आलाप—तान के अन्त में परे, सा लेते हैं।

स्वरूप—सा, गरे मग, परे, सा। अवरोह में कभी-कभी कोमल निषाद का प्रयोग कुछ लोग कर लेते हैं।

छायानट

यह कल्याण ठाठ का राग हैं। इसमें दोनों मध्यम तथा शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। तीव्र मध्यम केवल आरोह में और शुद्ध मध्यम आरोह व अवरोह दोनों में प्रयुक्त होता है। जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। गान्धार व निषाद को हमीर और केदार के प्रकार हो आरोह व अवरोह दोनों में वक्र रखते हैं। विवादी के नाते कोमल निषाद का प्रयोग भी किया जाता है। वादी स्वर पंचम और संवादी ऋषभ है। गायन समय रात्रि का प्रथम प्रहर हैं। इस राग में 'परे' की संगति मधुर लगती है। जब गौड़

सारंग में 'परे' लेते हैं, तो षड्ज पर आते हैं। जैसे 'गरेमग, परे, सा'। परन्तु जब इस राग में 'परे' लेते हैं तो षड्ज पर आते हैं। जैसे 'परे, गमप, गमरेसा'। सारेगम, गम, स्वर समुदाय छाया राग का है। इन दोनों रागों को मिलाकर छायानट गाया जाता है। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है—सारे, गमप, निध, सां। सां निधप, मंपधप, गमरेसा।

स्वरूप—परे, गमप, मगमरे, सा।

जौनपुरी

यह राग आसावरी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसके आरोह में गांधार स्वर वर्जित है, अवरोह संपूर्ण है; इसलिए इसकी जाति षाडव-संपूर्ण है। इस राग का वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर गांधार है। इसके गाने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इस राग का साधारण स्वरूप आसावरी राग के समान है। जौनपुरी गाते समय आसावरी से बहुत बचने की आवश्यकता होती है। इसमें गांधार, निषाद और धैवत स्वर कोमल लगते हैं।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे म, प, ध़, ऩि सां। सां ऩि ध़, प, म ग़, रे़ सा।

पकड़

म प, ऩि ध़, प, ध़, म प ग़, रे म प।

जयजयवंती

यह राग खमाज ठाठ से उत्पन्न होता है। यह सम्पूर्ण जाति का राग है। इसमें दोनों गांधारों (शुद्ध और कोमल) तथा दोनों निषादों (शुद्ध और कोमल) का प्रयोग करते हैं। यह बहुत मधुर राग है। वादी स्वर ऋषभ संवादी स्वर पंचम मानते हैं। इसके गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। आरोह में शुद्ध गांधार और निषाद लेते हैं तथा अवरोह में कोमल गांधार और निषाद लेते हैं। यह मिश्र राग है। इसमें गौड़, बिलावल और सोरठ, ये तीनों राग मिलते हैं। इसमें मन्द्र-पंचम और मध्य-ऋषभ का मिलाप सुन्दर दिखाई देता हैं। इसे सोरठ से भिन्न रखनें में सावधानी बरतनी चाहिए।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे रे, रे ग़ रे सा, ऩि ध़ प़, रे, ग म प, नि सां। सां ऩि ध प, ध म, रे ग़ रे सा।

पकड़

रे ग़ रे सा नि़ ध़ प़ रे।

तिलंग

यह राग खमाज ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ और धैवत वर्जित हैं, इसलिए इसकी जाति औडव-औडव है। इसमें दोनों निषाद प्रयोग में लाए जाते हैं। इसका वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। यह राग भी बहुत मधुर है, इसलिए लोकप्रिय भी है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा ग म प नि, सां। सां, नि़, प म, ग सा।

चलन

नि़ सा ग म प, नि़ प, सां नि़ प, ग म ग, प ग, म ग सा, नि सां, नि़ प, सां नि़ प, गं मं गं, गं मं गं सां, सां नि़ प, ग म ग, प ग म ग, सा, सां नि़ प, ग म ग, सा।

तिलककामोद

यह राग खमाज ठाठ से उत्पन्न होता है। इसके आरोह में धैवत वर्जित है, अवरोह सम्पूर्ण है; इसलिए इसकी जाति षाडव संपूर्ण है। वादी स्वर ऋषभ और संवादी स्वर पंचम है। गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। इसका स्वरूप कई स्थानों में देस और सोरठ के समान है। हमारे यहाँ इस राग में कोमल निषाद बिलकुल वर्जित करने का रिवाज है। इससे देस और सोरठ बिलकुल अलग हो जाते है। इस राग का स्वरूप क्षुद्र माना जाता है। इसकी चाल वक्र है और इसी कारण वैचित्र्य अधिक बढ़ गया है। कोई-कोई ऐसा मानते हैं, कि इस राग में कोमल निषाद का प्रयोग करने से 'बिहारी' नामक राग होता है, परन्तु बहुत-सी जगह दोनों निषादों का प्रयोग होता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे ग सा, रे म प ध म प, सां। सां प ध म ग, सा रे ग, सा नि़।

पकड़

प़ नि़ सा रे ग, सा, रे प म ग सा नि़।

तोड़ी

यह राग तोड़ी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ, गांधार और धैवत कोमल तथा मध्यम तीव्र लगता है; शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। इस राग का वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर गांधार है। इस राग में सातों स्वर लगते हैं, इसलिए जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। इसके गाने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इसमें पंचम कम प्रयोग में लाया जाता है। इससे बहुत मिलता-जुलता राग मुलतानी होता है; उससे इस राग को बहुत बचाना पड़ता है। इस राग की सारी विशेषता ऋषभ, गांधार, धैवत और षड्ज स्वरों में है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे॒ ग॒, म॑ प, ध॒, नि सां। सां नि ध॒, प, म॑ ग॒ रे॒, सा

पकड़

ध़॒ ऩि सा, रे॒ ग॒, रे॒, सा म॑, ग॒, रे॒ ग॒, रे॒ सा।

दुर्गा

यह राग बिलावल ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें गांधार तथा निषाद वर्जित हैं, इसलिए इसकी जाति औडव-औडव है। बाकी सब स्वर शुद्ध लगते हैं। इस राग में कोई भी स्वर कोमल तथा तीव्र नहीं है, फिर भी यह राग सुनने में बहुत मधुर मालूम होता है। इसका वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। इसमें मध्यम का स्थान बहुत मधुर मालूम होता है। इसका अवरोह वक्र है। इस राग में शुद्ध मल्हार, सोरठ तथा छाया—इन रागों की कुछ छटा झलकती है।

स्वरूप

प, म, प, ध, म रे, रे, रे रे सा, सां ध, सां, रें ध, सां, प, ध, म रे, प, सां ध, म रे, सा।

उठान

प, म, प, ध म रे, प, सां ध सां रें, प ध, म रे सा।

देस

यह राग खमाज ठाठ से उत्पन्न होता है। इसको सम्पूर्ण मानते हैं। इसमें दोनों निषादों का प्रयोग होता है। वादी स्वर ऋषभ और सम्वादी स्वर पंचम है, परन्तु कुछ लोग उलटा मानते हैं, यानी वादी पंचम और संवादी ऋषभ। इसके गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। इस राग का रूप सोरठ नामक राग से बहुत मिलता-जुलता है। इन दोनों रागों की प्रकृति भी एक ही है, इसलिए दोनों बिलकुल एक-से ही मालूम पड़ते हैं। इसके आरोह में बहुधा गांधार और धैवत नहीं लेते। यह राग बहुत लोकप्रिय है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे, म, प, नि, सां। सां नि॒ ध प, म ग, रे ग, सा।

पकड़

रे म प, नि॒ ध प, प ध प म, ग रे ग सा।

देशकार

यह बिलावल ठाठ का राग है। इसमें मध्यम-निषाद वर्जित स्वर हैं। 'जाति औडव-औडव है। इसमें धैवत वादी तथा गान्धार संवादी है। इस राग में एक दम मध्य 'सा' से धैवत पर जाते हैं और उत्तरांग को प्रबल रखते हैं। जैसे 'सा, ध, धप, गपधसां धप' गायन समय दिन का दूसरा प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे ग प ध सां। सां ध प ग पधप, गरेसा।

पकड़

सा, ध, प, गपधप, गरेसा।

पीलू

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। बड़े गायक इसे क्षुद्र राग मानते हैं, क्योंकि इसकी प्रकृति क्षुद्र होती है। परन्तु यह राग सुनने में सबको मधुर तथा प्रिय मालूम होता है। पीलू एक मिश्र राग माना जाता है। इसमें भैरवी, भीमपलासी, गौरी इत्यादि रागों के स्वर मिश्रित किए जाते हैं। सप्तक के सभी स्वर कुशल गायक इस राग में लगा सकता है। इसका वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। गाने का समय दिन का तीसरा प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ सा, ग रे ग॒, म प, ध॒ प, नि॒ ध प, सां। नि॒ ध प म प, ग॒, नि़ सा।

पकड़

नि़ सा ग॒, नि़ सा, प़ ध॒ नि़ सा।

पूर्वी

यह राग पूर्वी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ और धैवत कोमल लगते हैं तथा मध्यम तीव्र लगता है, बाकी स्वर शुद्ध लगते हैं। इसमें सातों स्वर लगते हैं, इसलिए इसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। वादी स्वर गांधार तथा सम्वादी स्वर निषाद है। इसके गाने का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इस राग की विशेषता 'सा, ग, प', और 'नि', इन स्वरों में दिखाई देती है। इसकी प्रकृति गम्भीर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे॒, ग, मं प ध॒, नि सां। सां नि ध॒ प, मं, ग, रे॒ सा।

पकड़

नि़, सा रे॒ ग, मं ग, रे॒ ग, रे॒ सा।

पटदीप

यह काफी ठाठ का राग है। इसमें गान्धार कोमल तथा शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। आरोह में ऋषभ, धैवत वर्जित स्वर है। अवरोह संपूर्ण है। अतः जाति औडव-संपूर्ण है। वादी पंचम व संवादी षड्ज है। गायन समय दिन का तीसरा प्रहर है। भीमपलासी राग को शुद्ध निषाद से गाने से यह राग बन जाता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा ग॒ म प नि, सां। सां नि ध प म ग॒ रे सा।

स्वरूप

निसा ग॒ म ग॒ रे सा नि़, सा।

बिहाग

राग बिहाग बिलावल ठाठ से उत्पन्न होता है। इसके आरोह में ऋषभ और धैवत वर्जित हैं तथा अवरोह सम्पूर्ण है, इसलिए इसकी जाति औडव-सम्पूर्ण मानी जाती है। इसमें दोनों मध्यमों का प्रयोग होता है। तीव्र मध्यम का प्रयोग विवादी के रूप में कुशलता से किया जाता है। वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। गाने का समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। अवरोह में ऋषभ और धैवत दुर्बल रखते हैं। यदि ये स्वर अधिक प्रबल हो जाएं, तो इस राग का रूप कुछ-कुछ बिलावल-जैसा दिखाई देने लगेगा।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा ग, म प, नि सां। सां, नि ध प, म ग, रे सा।

पकड़

नि़ सा, ग म प, ग म ग, रे सा।

बागेश्री

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें गांधार तथा निषाद कोमल लगते हैं और बाकी सब स्वर शुद्ध लगते हैं। वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय मध्य रात्रि है। धैवत, मध्यम और निषाद—इन स्वरों की संगति इस राग का वैचित्र्य बढ़ाती हैं। इस राग के आरोह में ऋषभ स्वर प्रायः नहीं लगता; पंचम स्वर के प्रयोग के बारे में मतभेद है। कोई पंचम स्वर बिलकुल वर्जित मानते हैं, कोई उस स्वर को अवरोह में लेने को कहते हैं और कोई उस स्वर को आरोह और अवरोह, दोनों में लेते हुए दिखाई देते हैं; इसलिए इस राग की जाति षाडव-सम्पूर्ण मान ली गई है। यह राग बहुत मधुर मालूम पड़ता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, नि़ ध़ नि़ सा, म ग, म ध नि सां। सां, नि ध, म ग, म ग, रे सा।

पकड़

सा, नि़ ध़ सा, म ध नि ध, म, ग रे, सा।

बहार

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। आरोह में ऋषभ और अवरोह में धैवत वर्जित है। इसकी जाति षाडव-षाडव है। वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। इसके गाने का समय मध्य-रात्रि है। लोगों का कहना है, कि वसंत-ऋतु में इसे चाहे जब गा सकते हैं, क्योंकि इसके सब गानों में वसंत-ऋतु का वर्णन रहता है। इसमें मध्यम और धैवत की संगति बहुत अच्छी दिखाई देती है। इस राग में अनेक रागों से संयोग होता है। ऐसे समय इसे मिश्र रागों के अनुसार बसंत-बहार, हिंडोल-बहार, मालकंसबहार, भैरवबहार, आड़ानाबहार, इत्यादि नाम दिए जाते हैं।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ सा, ग म, प ग म, ध नि सां। सां, नि प म प, ग म, रे सा।

पकड़

म प ग़ु म, ध, नि सां।

भीमपलासी

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। आरोह में ऋषभ और धैवत स्वर वर्जित हैं तथा अवरोह संपूर्ण है। इसलिए इसकी जाति औडव-संपूर्ण है। इसमें गांधार तथा निषाद कोमल प्रयुक्त होते हैं। वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय दिन का तीसरा प्रहर है। इसी प्रकृति का दूसरा एक राग धनाश्री नाम का काफी-मेल से उत्पन्न होता है। उसमें वादी पंचम है। ये दोनों राग आपस में बहुत मिलते हैं, इसलिए डर रहता है कि कहीं दोनों राग मिल न जाएँ। एक राग गाते समय उसको दूसरे राग से भली प्रकार बचाना चाहिए।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ु सा, ग़ु, म, प, नि़ु, सां। सां नि़ु, ध, प, म, ग़ु, रे, सा।

पकड़

नि़ु सा म, म ग़ु, प म, ग़ु, म ग़ु रे सा।

भैरव

यह राग भैरव ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें सभी स्वर लगते हैं, इसलिए इसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। इसमें ऋषभ और धैवत कोमल प्रयुक्त होते हैं। इस राग का वादी स्वर धैवत तथा संवादी स्वर ऋषभ है। गाने का समय प्रातःकाल है। इसकी प्रकृति गंभीर है। इसकी विशेषता ऋषभ और धैवत स्वरों पर निर्भर है। यह राग कालिंगड़ा से बहुत मिलता-जुलता है, अतः भैरव गाते समय कालिंगड़ा से अवश्य ही बचना चाहिए।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे़ म म, प ध़ु, नि सां। सां नि ध़ु, प, म ग, रे़ सा।

पकड़

सा, ग, म प, ध़ु प।

भैरवी

यह राग भैरवी ठाठ से उत्पन्म होता है। इसमें षड्ज और पंचम स्वर शुद्ध लगते हैं; बाकी सब स्वर कोमल लगते हैं। इसमें सातों स्वर लगते हैं, इसलिए

इसकी जाति संपूर्ण-संपूर्ण है। इसका वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय प्रातःकाल है। कोई-कोई इसे सार्वकालिक मानते हैं। यह राग अति लोकप्रिय है और अधिकतर सब गायक इसे जानते हैं। इस राग में ग़ज़ल, टप्पा, ठुमरी इत्यादि गीत अधिक सुनाई देते हैं। गायक लोग गायन की समाप्ति प्रायः भैरवी ही गाकर करते हैं, ऐसा देखने में आता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे॒, ग॒ म, प ध॒ नि॒ सां। सां नि॒ ध॒ प, म ग॒, रे॒ सा।

पकड़

म, ग॒, सा, रे॒ सा, ध॒ नि॒ सा।

भूपाली

भूपाली राग कल्याण ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें सब स्वर शुद्ध लगते हैं। मध्यम और निषाद स्वर वर्जित हैं, इसलिए इसकी जाति औडव-औडव मानते हैं। वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर धैवत है। इस राग के गाने का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। यह एक बहुत सरल एवं मधुर राग है। शुद्धकल्याण, जैतकल्याण तथा देशकार रागों से यह मिलता-जुलता है, अतः इनसे बचाना पड़ता है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा, रे, ग प, ध, सां। सां, ध, प, ग, रे, सा।

पकड़

ग, रे, सा, ध, सा रे म, प ग, ध प ग, रे सा।

मालकौंस

यह राग भैरवी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ तथा पंचम आरोह-अवरोह दोनों में वर्जित हैं, इसलिए इस राग की जाति औडव-औडव मानी जाती है। इसमें गांधार, धैवत और निषाद, इन तीन कोमल स्वरों का प्रयोग होता है। वादी स्वर मध्यम तथा संवादी स्वर षड्ज है। इसके गाने का समय रात्रि का तीसरा प्रहर है। इसकी प्रकृति गंभीर है और यह बहुत लोकप्रिय राग है।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि॒ सा, ग॒, म, ध॒, नि॒ सां। सां, नि॒ ध॒, म, ग॒ म ग॒, सा।

पकड़

म ग॒, म ध॒ नि॒। ध॒, म, ग॒, सा।

मारवा

यह राग मारवा ठाठ से उत्पन्न होता है। इसमें ऋषभ कोमल तथा मध्यम तीव्र लगता है; शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। पंचम वर्जित है, इसलिए इसकी जाति षाडव-षाडव है। आरोह में निषाद बहुत बार वक्र किया हुआ दिखाई देता है। इस राग का वादी स्वर ऋषभ और संवादी स्वर धैवत है। इस राग की सारी विशेषता ऋषभ, गांधार और धैवत स्वरों में है। अवरोह में ऋषभ वक्र होने पर यह अधिक स्पष्ट होता है। गाने का समय दिन का अन्तिम प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे॒, ग, म॑ ध, नि ध, सां। सां नि ध, म॑ ग रे॒ सा।

पकड़

ध म॑ ग रे॒, ग म॑ ग, रे॒ सा।

मुलतानी

यह राग तोड़ी ठाठ से उत्पन्न होता है। इस राग में ऋषभ, गान्धार तथा धैवत कोमल और मध्यम तीव्र लगता है, शेष स्वर शुद्ध लगते हैं। इसके आरोह में ऋषभ तथा धैवत स्वर वर्जित है और अवरोह सम्पूर्ण है, इसलिए इसकी जाति औडव-सम्पूर्ण है। इस राग का वादी स्वर पंचम और संवादी स्वर षड्ज है। गाने का समय दिन का चौथा प्रहर है। इस राग में ऋषभ, धैवत और गांधार का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ करना पड़ता है। इसमें मध्यम और गांधार, इन दो स्वरों की संगति और पुनरावृत्ति होती है एवं सा, प और नि विश्रांति-स्थान माने जाते हैं तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की तानें उनपर समाप्त की जाती हैं।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ सा, ग॒ म॑ प, नि सां। सां नि ध॒ प, म॑, ग॒ रे॒ सा।

पकड़

नि़ सा, म॑ ग॒, प ग॒, रे॒ सा।

मल्हार

बिलावल ठाठ से उत्पन्न यह राग औडव जाति का है। इसमें सभी शुद्ध स्वर लगते हैं, गान्धार वादी और धैवत संवादी है। समय रात्रि का दूसरा प्रहर है।

उत्तर-प्रदेश में वर्षा ऋतु में एक लोकधुन मल्हार के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः उसी से मल्हार राग की उत्पत्ति हुई है। यह वर्षाकाल का एक प्रिय राग है। गान्धार व निषाद वर्जित हैं। अतः कोई इसे खमाज ठाठ में लेने का आग्रह करते हैं। 'रेप' की संगति प्रमुख है एवं मध्यम का प्राबल्य है। सारे म, रेप, प, मप, धसां, धप, म यह शुद्ध मल्लार का महत्त्वपूर्ण भाग है। मल्हार के अनेक भेद प्रचार में हैं। जैसे—गौड़ मल्हार, मियाँ मल्हार, सूर मल्हार, मेघ मल्हार, रामदासी मल्हार, नट मल्हार, धूलिया मल्हार, चरजू की मल्हार, चंचलसस मल्हार, रूप मञ्जरी मल्हार, मीराबाई की मल्हार इत्यादि। मल्लारी राग इससे भिन्न है। संगीत-रत्नाकर में इस राग की चर्चा है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सारेमप धसां। सांधप मपध प म रेसा।

स्वरूप

म

सा, रे म, मप, मपधप, म, सारेम, मरे, सा, रेसा, धपमप धपम, रेसा, धप म प ध सा, रेम, मप, धसां सांरेंसां, मरें, सां, रेंसां, पंमंरें, सां, रेंसां, सां, धप, मपधसां, रेंमरेंसां, धप, मपधप म, रेसा।

यमन

यह राग कल्याण ठाठ से उत्पन्न होता है। जाति संपूर्ण है। इसमें और तो सब स्वर शुद्ध लगते हैं, केवल मध्यम तीव्र लगता है। इस राग का वादी स्वर गांधार तथा संवादी स्वर निषाद है। गाने का समय रात्रि का प्रथम प्रहर है। इसमें कभी-कभी गुणीजन शुद्ध मध्यम का भी प्रयोग करके 'ईमन-कल्याण' की संज्ञा देते हैं। गायक लोग आम तौर पर गायन इसी राग से प्रारम्भ करते हैं। यह बहुत ही सरल और मनोहर राग है।

आरोहावरोह-स्वरूप

सा रे ग, मं प, ध, नि, सां। सां नि ध, प, मं, ग, रे, सा।

पकड़

नि रे ग रे, सा, प मं, ग, रे सा।

ललित

यह मारवा ठाठ का राग है। पंचम वर्जित हैं। जाति षाडव-षाडव है। इस राग में दोनों मध्यम साथ-साथ लगाए जाते हैं; जैसे—म मं म। ऋषभ कोमल तथा शेष स्वर शुद्ध हैं। वादी मध्यम (शुद्ध) और संवादी षड्ज है। इसमें विद्वान् दोनों धैवत लगाते हैं। सन् १९७० ई० तक के आस-पास आकाशवाणी से शुद्ध धैवत का ही ललित सुनाई देता था। जब किसी को कोमल धैवत का ललित गाना होता, तो उसे 'कोमल धैवत का ललित' कहा जाता था। केवल 'ललित' का अर्थ शुद्ध धैवत के ललित से था। किन्तु कोमल धैवत का ललित अधिक लोकप्रिय होने के कारण अब उलटा हो गया। अर्थात् अब कोमल धैवत के ललित को 'ललित' और दूसरे को 'शुद्ध धैवत का ललित' कहा जाने लगा। किन्तु शास्त्रों में ललित में शुद्ध धैवत ही है। गायन समय रात्रि का अंतिम प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ रे॒ ग मं ध नि सां। सां निध मं, म, मं ग रे॒ सा।

स्वरूप

नि़रे॒ ग म, मंम ग, मं ग रे॒ सा।

वृन्दावनीसारंग

यह राग काफी ठाठ से उत्पन्न होता है। इसके आरोह-अवरोह में गांधार और धैवत स्वर वर्जित हैं, इसलिए इसकी जाति औडव-औडव मानी जाती है। इस राग में दोनों निषादों का प्रयोग होता है। वादी स्वर ऋषभ और संवादी स्वर पंचम है। यह राग साधारण, परन्तु मधुर है। इसके आरोह में शुद्ध निषाद का और अवरोह में कोमल निषाद का प्रयोग करते हैं। गाने का समय दिन का तीसरा प्रहर है।

आरोहावरोह-स्वरूप

नि़ सा, रे, म प, नि, सां। सां, नि॒, प, म, रे, सा।

पकड़

नि़ सा रे, म रे, प म रे सा।

वसंत

यह पूर्वी ठाठ का राग है। इसमें दोनों मध्यम, ऋषभ, धैवत कोमल और शेष स्वर शुद्ध हैं। आरोह में ऋषभ-पंचम को वर्जित करके और अवरोह को संपूर्ण

रखने से यह राग चमक जाता है। अतः जाति औडव-संपूर्ण है। वादी षड्ज (तार षड्ज) और संवादी मध्यम है। इसमें मध्यम को ललित अंग से अर्थात् दोनों मध्यमों को साथ-साथ लेते हैं। गायन समय रात्रि का अन्तिम प्रहर है, किन्तु वसंत ऋतु में हर समय गाया जाता है। इसके समीप का राग परज है। परज में भी ये ही स्वर हैं और दोनों मध्यम भी लगते हैं। वसंत राग का प्रारम्भ तीव्र मध्यम से होता हैं। जैसे—मंध सां या मंधरें सां। जबकि परज में इन्हें मंध नि, सांरें सांरें निसां निध नि की भाँति लेते हैं। इसी प्रकार वसंत के आरोह में मंग, मं, ग की भाँति केवल तीव्र मध्यम लेकर ऋषभ को लेते हुए षड्ज पर आते हैं। परज में मंपधप गमग की भाँति दो गांधार के बीच में शुद्ध मध्यम को लेते हैं। इसके अतिरिक्त परज में शुद्ध मध्यम और किसी प्रकार नहीं ली जाती। किन्तु वसंत में सा म, ममंग, की भाँति ललित अंग से शुद्ध मध्यम को लेते हैं। इसका आरोह-अवरोह इस प्रकार है—

सा ग मंध रें सां। रें नि ध प, मं गमं, ग रे सा।

स्वरूप

रें नि ध प, मंग, मं, ग, रेसा।

कर्नाटिक संगीत के राग

१. देशाख्या : धैवती तथा मध्यमा जातियों से उत्पन्न राग है। ग्रह, अंश और न्यास धैवत हैं। गांधार अल्पस्वर है। पंचम वर्ज्य है। मंद्र मध्यम का प्रयोग है।

२. नट्टनारायण : मध्यमा एवं पंचमी जातियों से उत्पन्न है। ग्रह, अंश और न्यास षड्ज हैं। काकली अंतरस्वर का प्रयोग है। तारस्थान में गांधार का प्रयोग है। करुण रस का पोषक है। शरत्काल में गेय हैं। कालप्रिय राग है।

देशी राग

१. रागाङ्गराग

१. शंकराभरण : मध्यमादि राग को मंद्रस्वर के साथ और दूसरी छाया के साथ गायें, तो वही शंकराभरण राग है।

२. **घण्टारव :** भिन्नषड्ज राग का यह अङ्ग है। ग्रह एवं अंश धैवत और न्यास मध्यम है। तारस्थान में निषाद तथा मन्द्रस्थान में गांधार का प्रयोग है।

३. **हंसक :** भिन्नषड्ज का यह अङ्ग है। ग्रह एवं अंश धैवत हैं और षड्ज वर्ज्य है।

४. **दीपक :** भिन्नकैशिक का अंग है। ग्रह एवं अंशस्वर षड्ज और न्यास मध्यम हैं। दीप्तमध्यम का प्रयोग है। गांधार एवं पंचम अल्पस्वर हैं। मतान्तर के अनुसार धन्याशी का उच्चतर प्रयोग दीपक है।

५. **रीति :** ग्रह, अंश और न्यास षड्ज हैं। भिन्नषड्ज का अंग है।

६. **पूर्णाटिका :** ग्रह और न्यास षड्ज हैं और अंश धैवत है। तारस्थान में षड्ज और मन्द्रस्थान में मध्य का प्रयोग है।

७. **लाटी :** लाट देश में उत्पन्न राग है। ग्रह, अंश और न्यास षड्ज हैं।

८. **पल्लवी :** ग्रह, अंश और न्यास धैवत हैं। तारगांधार और मन्द्रमध्यम का प्रयोग है। षड्ज, ऋषभ और गांधार बहुलस्वर हैं।

२. भाषाङ्गराग

१. **गांभीरी :** ग्रह एवं अंश षड्ज हैं और न्यास पंचम। तारस्थान में षड्ज का प्रयोग है।

२. **वेहारी :** ग्रह, अंश और न्यास मध्यम है। निषाद वर्ज्य है। तारषड्ज तथा मंद्रमध्यम का प्रयोग है।

३. **स्वसिता :** ग्रह एवं न्यास गांधार हैं और अंश षड्ज है। ऋषभ एवं पंचम वर्ज्य हैं। तारस्थान में संचार नहीं है। मन्द्रस्थान में षड्ज का प्रयोग है।

४. **उत्पली :** ग्रह, अंश और न्यास मध्यम हैं। तारस्थान में षड्ज, पंचम और धैवत का प्रयोग हैं। मन्द्रस्थान में निषाद का प्रयोग है।

५. **गोल्ली :** ग्रह, अंश और न्यास धैवत हैं। गांधार एवं निषाद वर्ज्य हैं। षड्ज, ऋषभ और धैवत बहुलस्वर हैं। तारस्थान में ऋषभ का प्रयोग है।

६. **नादान्तरी :** ग्रह एवं अंश मध्यम हैं और न्यास पंचम है। षड्ज, धैवत और निषाद बहुलस्वर हैं। गांधार अल्पस्वर हैं। तारमन्द्रस्थानों में ऋषभ का प्रयोग है।

७. नीलोत्पली : ग्रह एवं अंश धैवत है और न्यास तारषड्ज हैं। मंद्रस्थान में पंचम का प्रयोग है। निषाद व गांधार वर्ज्य हैं।

८. छाया : अंश, ग्रह और न्यास मध्यम हैं। पंचम बहुलस्वर है। मंद्रऋषभ और तारगांधार का प्रयोग है। धनि अल्पस्वर हैं। षड्ज वर्ज्य है।

९. तरङ्गिणी : ग्रह एवं न्यास ऋषभ हैं। अंश धैवत है। मन्द्रस्थानीय षड्जमध्यम का अधिक प्रयोग है। तारस्थान में ऋषभ एवं धैवत का प्रयोग है। संकीर्ण राग है।

१०. गांधारगति : अंश गांधार, न्यास षड्ज और पंचम ग्रह है। तारस्थान में ऋषभ, धैवत और निषाद का प्रयोग है।

□□□

राग जाति

भारतीय शास्त्रीय संगीत, जो आज हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के नाम से प्रचलित है, रागदारी संगीत पर ही आधारित है। राग शब्द के प्रचार में आने के पूर्व प्राचीन काल में जाति शब्द ही प्रचलित था। भरतकालीन प्राचीनकाल में जाति गायन ही प्रचार में था। मूर्च्छना इस जाति के निर्माण का आधार थी। भरत के षड्ज ग्राम की सात एवं मध्यम ग्राम की सात कुल चौदह मूर्च्छनाओं को जाति-निर्माण का मूल माना जाता है। इन्हीं के आधार पर भरत मुनि नें जाति के वर्गीकरण के तीन प्रकार बताये हैं। प्रथम प्रकार में षड्ज ग्राम की सात एवं मध्यम ग्राम की ग्यारह, कुल १८ जातियाँ बताई हैं। इसके पश्चात् जाति के जो दश लक्षण बताए हैं, उनके अनुसार जातियों का सम्पूर्णत्व षाडवत्व एवं औड़ुवत्व प्रदान करके मूर्च्छनाओं से अन्य अनेक जातियों का निर्माण हुआ है। संपूर्णत्व, षाडवत्व एवं औडुवत्व के वर्गीकरण का अर्थ यह है :—

१. संपूर्णत्व : जिस जाति में सात स्वरों के द्वारा गायन हो।

२. षाडवत्व : जिस जाति में छः स्वरों के द्वारा गायन हो।

३. औडवत्व : जिस जाति में पाँच स्वरों द्वारा गायन हो।

उक्त नियम के अनुसार षड्ज ग्राम में नित्य पूर्ण अर्थात् संपूर्ण जाति ४ व मध्यम गायन में ३, कुल सात संपूर्ण जातियाँ भरत ने मानी हैं, जिन्हें शुद्ध जाति संज्ञा दी गई है। उदाहरण-स्वरूप भरत की षड्जग्रामिक मूर्च्छना उत्तरमंद्रा मूर्च्छना में से निर्मित षड्ज ग्राम की नित्य संपूर्ण जाति षड्ज कैशिकी है, जो सात स्वरों की होने के कारण संपूर्ण जाति मानी जाती है। इसी प्रकार मध्यम ग्राम की सौवीरी, हरिणाश्वा एवं शुद्ध मध्या, तीनों ही मूर्च्छनाओं में से नित्य संपूर्ण जातियाँ मध्यमोदीच्यवा, गांधारपंचमी एवं कार्मारवि क्रमशः मानी जाती हैं।

भरतकालीन मूर्च्छना पर आधारित संपूर्ण, षाडव एवं औडुव जातियों के सम्बन्ध में उक्त जानकारी देने का प्रयोजन यह है कि प्रचलित राग-गायन के संपूर्ण, षाडव एवं औडुव जाति-प्रकारों का मूल आधार क्या था एवं आज उसका परिवर्तित

किन्तु विकसित रूप क्या है, यह विदित हो जाए। भरतकालीन षड्ज ग्रामिक मूर्च्छनाओं से कौन-सी जातियां संपूर्ण जाति की थीं, कौन-सी षाडव की तथा कौन-सी औडुव की थीं व आज के रागों से उनका साधारणतः क्या संपर्क स्थापित हो सकता है, इसकी संक्षिप्त जानकारी निम्न मानचित्र से स्पष्ट हो सकती है :—

ध्रुवताल में		चतुरस्र जाति	(४+२+४+४=१४ अक्षर)	व्यवहार में हैं।
मठ्य	"	"	(४+२+४ =१० ")	"
रूपक	"	"	(२+४ =६ ")	"
झंपा	मिश्र	"	(७+१+२ =१० ")	"

त्रिपुट " चतुरस्र (४+२+२=८) और त्र्यस्र (३+२+२=७) जाति व्यवहार में है।

इस ताल में चतुरस्र जाति को 'आदिताल' कहते हैं।

"	त्र्यस्र "	त्रिपुट "	" "
अड्ड "	खण्ड "	(५+५+२+२=१४ अक्षर अमल में हैं।)	
एक "	चतुरस्र "	४ अक्षर	" "

कभी-कभी त्र्यस्रजाति के लघु को दो शंपा और एक विक्षेप से गिनते हैं, उसको 'चापु' कहते हैं। इस तरह प्रयोग में त्र्यस्रजाति रूपकताल (२+३=५ अक्षर) प्रसिद्ध है। इसलिए त्र्यस्रजाति रूपकताल को 'चापुताल' कहते हैं।

तालों का अभ्यास मार्ग

व्यवहार में रहनेवाली ताल जातियों का अभ्यास करने के लिए सप्तालंकार नामक 'स्वरवर्णालंकार' बनाए गए हैं।

□□□

उत्तर भारतीय संगीत-पक्ष की जानकारी

स्वर

संगीत में सुरीली ध्वनि को 'स्वर' कहा जाता है। स्वर सात माने गए हैं यथा—सा, रे, ग, म, प, ध, नि। इनके पूरे नाम हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। सात स्वरों के कोमल और तीव्र रूप मिलाकर उनकी संख्या बारह हो जाती है। लेकिन मूल स्वर सात ही माने जाते हैं।

कोमल

जब शुद्ध स्वर अपने नियत स्थान से हटकर नीचे उतर आता है तो उसे कोमल स्वर कहते हैं; जैसे—रे॒, ग॒, ध॒, नि॒। पहचान के लिए इनके नीचे आड़ी रेखाएँ लगा दी जाती हैं।

तीव्र

जब शुद्ध स्वर अपने नियत स्थान से हटकर ऊँचा चढ़ जाता है, तो उसे तीव्र स्वर कहते हैं; जैसे—मं। पहचान के लिए इसके ऊपर खड़ी रेखा लगा देते हैं।

श्रुति

सप्तक के बारह स्वरों के नीचे-ऊपर (बीच-बीच में) और भी बहुत-सी सुरीली ध्वनियाँ हैं, जिन्हें 'श्रुति' कहते हैं। श्रुतियों का दर्शन केवल सारंगी, सितार, वीणा इत्यादि तार-वाद्यों में ही व्यवस्थित रूप से हो सकता है। एक सप्तक में ऐसी २२ श्रुतियाँ मानी जाती हैं। कुशल गायक गले से भी इन श्रुतियों का प्रदर्शन कर सकते हैं।

राग

यह ध्वनि की एक खास रचना होती है, जिसे स्वर और वर्ण से सुन्दरता प्राप्त होती है और जो चित्त को आनन्द देती है। 'राग' ठाठ से उत्पन्न होता है और एक ही ठाठ या थाट से सैकड़ों-हजारों राग उत्पन्न हो सकते हैं।

ठाठ

'ठाठ' या 'थाठ' स्वरों की एक विशेष रचना होती है, जिसमें सात स्वर क्रमवार होते हैं। ठाठ जैसे ढाँचों को दक्षिण भारत में 'मेल' या अँग्रेजी संगीत में 'स्केल' कहते हैं। दक्षिण के लोग ७२ मेल इस्तेमाल करते हैं और उत्तर भारतीय संगीत में दस ठाठ यथा—बिलावल, कल्याण, भैरव, खमाज, पूर्वी, मारवा, काफी, आसावरी, तोड़ी और भैरवी प्रचलित हैं, जिनके आधार पर रागों का जन्म होता है।

सप्तक

संगीत के मूल शुद्ध स्वर सात माने गए हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। इन्हीं को संक्षेप में 'सा, रे, ग, म, प, ध, नि' कहते हैं। उपर्युक्त सात स्वरों के रहने के स्थान को 'सप्तक' कहते हैं। सप्तक तीन प्रकार के होते हैं:—नीचे के स्वरों वाला 'मन्द्र सप्तक', बीच के स्वरों वाला 'मध्य सप्तक' और ऊँचे स्वरों वाला 'तार सप्तक' कहलाता है।

वर्ण

गाने की प्रत्यक्ष क्रिया को 'वर्ण' कहते हैं। ये चार प्रकार के होते हैं—१. स्थायी, २. आरोही, ३. अवरोही और ४. संचारी।

स्थायी

गीत के प्रथम पद को 'स्थायी' कहते हैं। इसमें राग का स्पष्ट रूप प्रकट हो जाता है। इसमें तार-सप्तक के स्वरों का उपयोग कम होता है।

अन्तरा

गीत के दूसरे पद को 'अन्तरा' कहते हैं। यह पद मध्य-सप्तक से प्रारम्भ होकर तार-सप्तक के मध्य तक जाता हैं।

संचारी

गीत के तीसरे पद को 'संचारी' कहते हैं। इस पद से स्थायी के ऊपरवाले भाग का विशेष बोध होता है।

आभोग

गीत के चौथे और अन्तिम पद को 'आभोग' कहते हैं। इसका रूप अन्तरे से कुछ भिन्न होता है।

अलंकार

वर्ण की नियमित रचना अथवा विशिष्ट स्वर-समुदाय को 'अलंकार' कहते हैं। प्रचार में इसको 'पल्टा' कहते हैं। स्वरों का शीघ्र ज्ञान होना व राग का विस्तार

समझ में आना ही अलंकार का मुख्य उद्देश्य है। अलंकार की स्वर-संख्या के लिए कोई भी नियम नहीं है।

आरोह-अवरोह

गाना गाते समय कभी शब्द एक स्वर से चढ़ते-चढ़ते कई स्वरों तक चढ़ जाते हैं, फिर कभी उतरते हैं तथा फिर चढ़ते हैं; यानी एक बार ऊपर चढ़ना, फिर नीचे वापस लौटना—यही दो क्रियाएँ होती हैं, जिनमें से षड्ज स्वर से निषाद की ओर जाने को आरोह कहते हैं तथा निषाद से षड्ज की ओर वापस लौटने को अवरोह कहते हैं; जैसे :—

आरोह : सा, रे, ग, म, प, ध, नि।

अवरोह : नि, ध, प, म, ग, रे, सा॥

आलाप

आलाप में गीत के शब्दों की सहायता के बिना केवल अकार, इकार, उकार और एकार इत्यादि से भी राग का प्रदर्शन करते हैं। रागों के आलापों में राग के मेल या ठाठ तथा वादी और संवादी स्वरों को पूरा दर्शन होना चाहिए। गीत प्रारम्भ करने के पहले आलाप किया जाता है।

लय

समय के किसी भी भाग की समान चाल को लय कहते हैं। एक मात्रा से दूसरी मात्रा तक कहने में जो बराबर-बराबर समय लगता है, उसी को लय कहते हैं; यानी समय की एक-सी चाल को लय कहते हैं; जिस प्रकार घड़ी का पेण्डुलम (Pendulum) समान चाल से हिलता रहता है। मुख्य लय तीन प्रकार की होती हैं :—

विलम्बित लय

विलंबित का अर्थ है देर से या धीरे-धीरे चलनेवाला; यानी जो लय धीमी हो, उसी को 'विलम्बित लय' कहेंगे। इसी को 'ठाह' भी कहते हैं।

मध्य लय

मध्य का अर्थ है बीच, यानी विलम्बित से तेज और द्रुत से धीमा। अर्थात् जो लय न बहुत तेज हो और न बहुत धीमी, उसी को 'मध्य लय' कहते हैं।

द्रुत लय

द्रुत का अर्थ है तेज, यानी जो लय मध्य लय से तेज हो, उसे 'द्रुत लय' कहते हैं। अथवा उसे मध्य लय की दुगुनी कहा जा सकता है।

कुआड़ी लय

मध्य लय से सवाई (१¼) लय को 'कुआड़ी लय' कहते हैं।

आड़ी लय

मध्य लय से ड्योढ़ी (१½) लय को 'आड़ी लय' कहते हैं।

बिआड़ी लय

मध्य लय से पौने दो गुनी (१¾) लय को 'बिआड़ी लय' कहते हैं।

मात्रा

एक-सी गति में घड़ी की टक-टक के समान गिनती गिनने को 'मात्रा' कहते हैं। उदाहरणार्थ—एक सैकिंड या 'टक' को एक मात्रा मानने पर, यदि घड़ी ने ४ बार टक-टक-टक-टक किया, तो चार मात्राएँ हो गईं। यदि ८ बार टक-टक किया, तो इसका नाम आठ मात्राओं का कहरवा हो गया और यदि १६ बार टक-टक किया, तो १६ मात्राओं की तीनताल हो गई। इसी प्रकार बहुत-सी ताल मात्राओं से बना ली गई हैं। जितनी मात्रावाला गाना होता है, उतनी ही मात्रावाली ताल उस गाने के साथ बजाई जाती है।

सम

ताल की पहली मात्रा को जहाँ लय का झुकाव पड़ता हो, उसे 'सम' कहते हैं। यहाँ आम तौर पर संगीत समझनेवाले व्यक्ति का सिर हिल जाता है। हर गाने में एक जगह जोर तथा झटका-सा मालूम होता है, यही जगह सम की होती है। गायन, वादन और नृत्य तीनों में जहाँ सम आती है, वही स्थान सबसे अधिक प्रिय लगता है।

ताली या भरी

तबले के ठेकों में जिस स्थान पर हाथों से ताली लगाई जाती है, उसे भरी अथवा ताली कहते हैं।

खाली

तालों में एक जगह ऐसी नियत होती है, जिसे विषम मात्रा या 'खाली' कहते हैं। लगभग सब तालों में एक या इससे अधिक खाली होती हैं।

□□□

उत्तर भारतीय संगीत में ताल देने की पद्धति

गायन वादन या नृत्य के विद्यार्थियों को हाथों द्वारा ताल देनें का अभ्यास होना चाहिए। यहां उत्तर भारतीय पद्धति में ताल देनें की स्थिति रेखाचित्रों द्वारा स्पष्ट की जा रही है।

उँगलियों के नाम तथा उनके प्रथम अक्षर

सम भरी पर ताली दिखाने की स्थिति

कनिष्ठा द्वारा ताल दिखाने की स्थिति

अनामिका द्वारा ताल दिखाने की स्थिति

मध्यमा द्वारा ताल दिखाने की स्थिति

तर्जनी द्वारा ताल दिखाने की स्थिति

खाली द्वारा ताल दिखाने की स्थिति

□ □ □

ध्वनि-विज्ञान

नाद

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः ।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्त न नादोऽभिधीयते ।।

—संगीत रत्नाकर (१।३।६)

अर्थात्—'नकार' प्राण-वाचक (वायु-वाचक) तथा 'दकार' अग्निवाचक है, अतः जो वायु और अग्नि के योग (सम्बन्ध) से उत्पन्न होता है, उसी को 'नाद' कहते हैं।

आहतोऽनाहतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।
सोऽयं प्रकाशते पिंडे तस्मात्पिंडोऽभिधीयते ।।

—संगीत रत्नाकर (१।२।३)

अर्थात्—"नाद के दो प्रकार जाने जाते हैं—'आहत' तथा 'अनाहत' । ये दोनों पिंड (देह) में प्रकट होते हैं, इसलिए पिंड का वर्णन किया जाता है ।"

अनाहत नाद

जो नाद केवल अनुभव से जाना जाता है और जिसके उत्पन्न होने का कोई खास कारण न हो, यानी जो बिना संघर्ष के स्वयंभू रूप से उत्पन्न होता है, उसे 'अनाहत नाद' कहते हैं; जैसे दोनों कान जोर से बन्द करने पर अनुभव करके देखा जाए, तो 'घन्न-घन्न' या 'साँय-साँय' की आवाज़ सुनाई देती है। इसके बाद नादोपासना की विधि से गहरे ध्यान की अवस्था में पहुँचने पर सूक्ष्म नाद सुनाई पड़ने लगता है, जो मेघ गर्जन या वंशी स्वर आदि के सदृश होता है। इसी अनाहत नाद की उपासना हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि करते थे। यह नाद मुक्ति-दायक तो है, किन्तु रक्ति-दायक नहीं। इसलिए यह संगीतोपयोगी भी नहीं है, अर्थात् संगीत से अनाहत नाद का कोई सम्बन्ध नहीं है।

आहत नाद

जो कानों से सुनाई देता है और जो दो वस्तुओं के संघर्ष या रगड़ से पैदा होता है, उसे 'आहत नाद' कहते हैं। इस नाद का संगीत से विशेष सम्बन्ध है। यद्यपि अनाहत नाद को मुक्तिदाता माना गया है, किन्तु आहत नाद को भी भव-सागर से पार करनेवाला बताकर 'संगीत-दर्पण' में दामोदर पंडित ने लिखा है :—

स नादस्त्वाहतो लोके रंजको भवभंजकः ।
श्रुत्यादि द्वारतस्तस्मात्तदुत्पत्तिनिरूप्यते ॥

अर्थात्—"आहत नाद व्यवहार में श्रुति इत्यादि (स्वर, ग्राम, मूर्च्छना) से रंजक बनकर भव-भंजक भी बन जाता है, इस कारण इसकी उत्पत्ति का वर्णन करता हूँ।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह सिद्ध होता है, कि आहत नाद ही संगीत के लिए उपयोगी है। इसी नाद के द्वारा सूर, मीरा इत्यादि ने प्रभु-सान्निध्य प्राप्त किया था और फिर अनाहत की उपासना से मुक्ति प्राप्त की थी।

सांगीतिक और असांगीतिक ध्वनि

(Musical Nonmusical Sound)

सामान्य ध्वनि को दो भागों में बाँटा जा सकता है—१. सांगीतिक और २. असांगीतिक। इन्हें सुरीली और बेसुरी ध्वनियाँ भी कह सकते हैं। जब ध्वनि में अर्थात् उसके कंपनों में नियमितता तथा व्यवस्था आ जाती है, तो ध्वनि मृदुल होकर कानों को प्रिय लगने लगती है। इसी ध्वनि को 'स्वर' कहा जाता है, जिसका उपयोग संगीत के क्षेत्र में किया जाता है। इसी को सांगीतिक ध्वनि (Musical Sound) कहा जाता है।

जब ध्वनि के कंपन व्यवस्थित नहीं होते,तो ऐसी ध्वनि 'शोर' कहलाती है, जो कानों को प्रिय तो नहीं लगती, लेकिन मनुष्य के अनेक भावों और विभिन्न पदार्थों का बोध कराती है। यह ध्वनि संगीत के लिए उपयोगी नहीं होती, इसलिए 'भाषा' के निर्माण में काम आती है। इसी को असांगीतिक ध्वनि (Nonmusical Sound) कहा जाता है।

एक समस्या यह है, कि कुछ ध्वनियाँ या शोर न तो संगीत के स्वर क्षेत्र में आते हैं और न मात्र शोर ही कहे जा सकते हैं, जैसे बाल्टी को डंडे से पीटना या रुई का धुनना आदि। लेकिन संगीत की जानकारी रखने वाला इनसे जलतरंग या वीणा के स्वरों का निर्माण कर सकता है और इनकी ध्वनियों को विविध उपकरणों के माध्यम से संगीतोपयोगी बना सकता है। सड़क पर खिलौना-सारंगी बेचने वाला उस पर मधुर ध्वनि निकालता है। लेकिन जब कोई नौसिखिया उसे खरीद कर

बजाता है, तो वैसी ध्वनि नहीं निकलती और एक कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ती है, जो कानों को अप्रिय लगती है।

वास्तव में ध्वनि का वर्गीकरण वैज्ञानिक ढंग से तीन गुणों के आधार पर किया जा सकता है–१. तारता या तारत्व अर्थात् नाद का ऊँचा-नीचापन (Pitch), २. तीव्रता या प्रबलता अथवा नाद का छोटा-बड़ापन (Loudness), ३. गुण या प्रकार (Timbre)।

तारता (Pitch) स्त्री और बच्चे चाहे धीमे बोलें या चिल्लाकर, परन्तु उनकी आवाज़ का महीनपन (बारीकी) नहीं जाता। इसी प्रकार पुरुष धीमे बोले या चिल्लाए, तो उसकी आवाज़ का मोटापन भी बना रहता है। जिस आवाज़ को लोग महीन कहते हैं, संगीत की भाषा में उसे 'ऊँचा स्वर' कहा जाता है और मोटी आवाज़ को 'नीचा स्वर' कहते हैं। नाद की यह ऊँची-नीची स्थिति ही 'तारता' कहलाती है। तारता के आधार पर ही हम आवाज या स्वर को पहचान पाते हैं। घोड़े की हिनहिनाहट, चिड़ियों की चहचहाहट, रेल की सीटी या बम का धमाका इत्यादि को ध्वनि के इसी तारत्व-गुण से पहचाना जाता है। तारत्व का बोध न होने पर किसी व्यक्ति से सरगम बुलवाई जाए, तो वह एक ही स्वर पर सातों स्वरों को बोल देता है। उसे नीचे स्वर और ऊँचे स्वर में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। लेकिन जैसे-जैसे तारता का ज्ञान बढ़ता जाता है, तो उसके गले से अलग-अलग सप्तकों के नीचे और ऊँचे स्वर निकलने लगते हैं। तारता केवल कानों के अनुभव की ही चीज़ नहीं, वल्कि जिस वस्तु के कंपन से स्वर निकलता है, उसका मौलिक धर्म है, जो स्वरोत्पादक वस्तु की आवृत्ति पर निर्भर करती है। आवृत्ति के अधिक होने पर ऊँचा स्वर और आवृत्ति कम होने पर नीचा स्वर निकलता है। बिजली के पंखे को धीमी या एकदम ज्यादा स्पीड पर चलाने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

नाद की ऊँचाई-नीचाई से ही यह स्पष्ट होता है, कि जो आवाज़ आ रही है, वह ऊँची है या नीची। मान लीजिए, हमने 'सा' स्वर सुना, इसके बाद 'रे' स्वर सुनाई दिया और फिर 'ग' सुनाई दिया; इस प्रकार नियमित ऊँचे स्वर सुनने पर हम उसे 'उच्च नाद' कहेंगे।

हम चाहते हैं, कि आप इसका वैज्ञानिक कारण भी जान लें। इसके लिए आपको यह जानना होगा, कि ध्वनि की उत्पत्ति किस प्रकार होती है। ध्वनि की उत्पत्ति का कारण जानने के लिए 'आन्दोलन' शब्द को समझना होगा। जब किसी वस्तु से ध्वनि उत्पन्न होती है, तो वह वस्तु झूले की भाँति इधर-उधर बड़ी तीव्र गति से हिलने लगती है। झूले के स्थान पर आप एक दीवार-घड़ी के लटकन का उदाहरण भी ले सकते हैं। जब घड़ी का लटकन हिलता है, तो वह अपने लटकते के स्थान से पहले एक ओर जाता है, कुछ दूर जाकर पुनः अपने मूल स्थान पर लौटकर

आता है और फिर दूसरी ओर किसी निश्चित दूरी तक जाकर पुनः पहली ओर जाने के लिए अपने मूल स्थान पर लौटता है। इस सम्पूर्ण क्रिया को एक 'आन्दोलन' कहते हैं। इन आन्दोलनों की गति से वायु में लहरें उत्पन्न होती हैं। अब यदि इन लहरों की आन्दोलन-संख्या (जिसे 'कंपन-संख्या' या 'कंपनांक' भी कहते हैं) एक सैकिंड में सोलह है अर्थात् एक सैकिंड में सोलह कंपन हैं, तो हम इस ध्वनि को सुन सकते हैं, अन्यथा नहीं।

जब इन ध्वनि उत्पन्न करने वाले आन्दोलनों की गति में नियमितता होती है अर्थात् घटा-बढ़ी नहीं होती, तब 'संगीतोपयोगी नाद' या 'स्वर' का जन्म होता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं, कि षड्ज की आन्दोलन-संख्या २४० कंपन प्रति सैकिंड है, तो हमारा तात्पर्य यह होता है, कि वस्तु आन्दोलित हो रही है, उससे प्रति सैकिंड २४० आन्दोलन उत्पन्न हो रहे हैं। यहाँ यह बात और ध्यान में रखनी चाहिए, कि जो लहरें (तरंगें) इस कंपन के फलस्वरूप बायु में उत्पन्न होती हैं, उनका साधारण रूप इस प्रकार का होता है :—

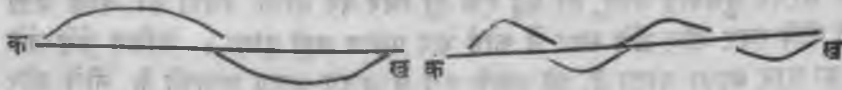

'अ' 'ब'

ऊपर 'अ' और 'ब' दो चित्र दिए हैं। दोनों में 'क—ख' रेखा बराबर है, किंतु 'अ' चित्र में केवल एक सम्पूर्ण तरंग हैं, जबकि 'ब' चित्र में उतनी ही दूरी में दो तरंगें हैं।

इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जितनी देर में 'अ' चित्र की एक तरंग उत्पन्न होती है, उतनी ही देर में 'ब' चित्र की दो तरंगें उत्पन्न होती हैं। अथवा यों कहिए कि 'ब' चित्र की कंपन-संख्या 'अ' चित्र की कंपन-संख्या से दुगुनी है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है, कि 'ब' चित्र में अंकित नाद 'अ' चित्र में अंकित नाद से दुगुना ऊँचा है। अब यदि 'अ' चित्र में दर्शाई हुई ध्वनि को हम मध्य-सप्तक का षड्ज मान लें, तो 'ब' चित्र में दर्शाई हुई ध्वनि तार-सप्तक का षड्ज अर्थात् 'सा' होगी।

इस आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है, कि ज्यों-ज्यों आन्दोलन-संख्या बढ़ती है, नाद ऊँचा होता जाता है। अतः जब हम यह कहते हैं, कि 'सा' स्वर से 'रे' स्वर का नाद ऊँचा है, तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है, कि 'रे' की कंपन-संख्या 'सा' की कंपन-संख्या से अधिक है।

इसी बात को विज्ञान की भाषा में हम यों भी कह सकते हैं, कि किसी ध्वनि-तरंग की लम्बाई (Wavelength) बढ़ते जाने पर नाद नीचा और कम होते जाने पर नाद ऊँचा होता जाता है।

यहाँ दूसरी बात यह ध्यान में रखने की है, कि ज्यों-ज्यों ध्वनि उत्पन्न करने वाले तार की लम्बाई को हम कम करते जाएँगे, त्यों-त्यों नाद ऊँचा होता जाएगा और ज्यों-ज्यों लम्बाई को बढ़ाते जाएँगे, नाद क्रमशः नीचा होता जाएगा।

स्मरण रहे कि यहाँ जो कंपन-संख्या होगी, नियमित ही होगी। अनियमित कंपन से तो शोर-गुल ही उत्पन्न होता है। किसी बाजार की भीड़ में या मेले में यदि कोई जोर से चिल्ला रहा हो, कोई धीरे-से बोल रहा हो, किसी ओर बच्चे रो रहे हों या कोई हँस रहा हो, तो इन क्रियाओं के द्वारा वायु में जो कंपन होंगे, वे अनियमित ही तो होंगे और ये अनियमित कंपन 'शोरगुल' ही कहलाएँगे। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति कुछ गा रहा है या वाद्य बजा रहा है, तो उसकी आवाज के कंपन हवा में नियमित रूप से होंगे और वे अच्छे भी मालूम होंगे। बस, उसे ही हम 'संगीतोपयोगी नाद' या 'स्वर' कहेंगे।

तीव्रता, प्रबलता या नाद का छोटा-बड़ापन (Loudness या Magnitude)

जो आवाज धीरे-धीरे सुनाई पड़े, उसे 'छोटा नाद' कहेंगे और जो आवाज जोर-से सुनाई पड़े, उसे 'बड़ा नाद' कहेंगे। उदाहरण के लिए यदि किसी घंटे पर आपने नाखून से प्रहार किया, तो ध्वनि बहुत हल्की उत्पन्न होगी और वह थोड़ी दूर तक ही सुनाई देगी। इसके विपरीत यदि हथौड़े से प्रहार किया, तो ध्वनि जोर की उत्पन्न होगी और वह अधिक दूर तक सुनाई देगी। यहाँ धीरे से उत्पन्न होने वाली ध्वनि को 'छोटा नाद' और जोर से उत्पन्न होनेवाली ध्वनि को 'बड़ा नाद' कहेंगे।

इसका वैज्ञानिक कारण जानने के लिए निम्नलिखित चित्रों को देखिए :—

(१)

(२)

इन दोनों चित्रों की 'अ-ब' रेखाएँ बराबर हैं। परन्तु जो तरंग चित्र सं० १ में है, उसमें जो 'स–द' तरंग की चौड़ाई है, वह चित्र सं० २ को 'क–ख' तरंग की चौड़ाई से कम है।

इसका अर्थ यह समझना चाहिए, कि दोनों चित्रों में दर्शाई हुई ध्वनियाँ नाद के ऊँचे-नीचेपन में समान होंगी, क्योंकि तरंग की लम्बाई अर्थात् 'अ-ब' समान हैं; परन्तु चित्र सं० १ की ध्वनि पास तक ही सुनाई देगी और चित्र सं० २ की ध्वनि दूर तक। विज्ञान की भाषा में इसे यों कह सकते हैं, कि जब ध्वनि-तरंग की चौड़ाई कम होती है, तो नाद छोटा होता है, किंतु जब ध्वनि-तरंग की चौड़ाई अधिक होती है, तो वह नाद बड़ा हो जाता है। जैसे तारता नादोत्पादक वस्तु की आवृत्ति पर निर्भर है, वैसे ही तीव्रता उसके कंपन-विस्तार पर निर्भर होती है।

नाद की जाति या गुण (Timbre)

नाद की जाति से यह मालूम होता है, कि जो आवाज़ आ रही है, वह किसी मनुष्य की है या किसी वाद्य से निकल रही है; उदाहरणार्थ—एक नाद हारमोनियम, सारंगी, सितार या वेला से प्रकट हो रहा है और दूसरा नाद-किसी गायक के गले से, तो हम नाद प्रकट होने की क्रिया को देखे बिना ही यह बता देंगे, कि उनमें से कौनसा नाद वाद्य का है और कौनसा गले का।

नाद-जाति के भिन्न होने का वैज्ञानिक कारण किसी वस्तु से उत्पन्न 'उप-स्वरों' की तीव्रता का तारतम्य है। प्रत्येक नाद में अन्य अनेक नादों का मिश्रण होता है, जिनकी आवृत्तियाँ मौलिक या मूल आवृत्ति से क्रमशः दुगुनी, तिगुनी, चौगुनी, पंचगुनी, छहगुनी इत्यादि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। मौलिक ध्वनि को छोड़कर, जिससे तारता निश्चित होती है, शेष नाद 'उप-स्वर' (Overtones) कहे जाते हैं। इन्हीं उप-स्वरों की तीव्रता के तारतम्य से नाद में जाति या गुण-भेद की उत्पत्ति होती है। अर्थात् किस नाद में किन उप-स्वरों की तीव्रता कितनी है, उसी आधार पर एक नाद दूसरे से भिन्न हो जाता है। किसी एक वाद्य या कंठ से उत्पन्न होने वाले उप-स्वर दूसरे वाद्य या कंठ से उत्पन्न उप-स्वरों से भिन्न होते हैं। इसी कारण, हम एक वाद्य की ध्वनि को दूसरे वाद्य की ध्वनि से पृथक् पहचान लेते हैं। यदि उप-स्वरों की आवृत्तियों का मौलिक आवृत्ति से सरल गुणक का सम्बन्ध नहीं होगा, तो ध्वनि से शोर का आभास होने लगेगा; जैसे—किसी धातु की चादर पर प्रहार करने की ध्वनि।

परन्तु जब हम किसी सितार के तार को छेड़ते हैं, तो वह कंपित होता है। उस कंपन का जवारी पर प्रभाव होता है। जवारी की टाँगें तबली पर रखी होती हैं, अतः जवारी की टाँगों द्वारा तबली में भी कंपनों का प्रभाव होता है। तबली के कंपित होने से, जो वायु तूंबे में है, उस पर प्रभाव होता है। उसके कुपित होने पर डांडवाली वायु में भी कंपन उत्पन्न होते हैं। इस सब प्रक्रिया में अनेक उप-स्वर तीव्र हो जाते हैं। यही क्रिया सरोद या वीणा-जैसे वाद्यों में भी होती है। परन्तु उनकी बनावट और आकार की भिन्नता के कारण किसी वाद्य में किन्हीं उप-स्वरों की

तीव्रता हो जाती है। यही उनकी 'नाद-जाति' या 'गुण-भेद' का वैज्ञानिक कारण है। इसी प्रकार जब हम कुछ बोलते या गाते हैं, तो जो वायु कंठपिटक से मुख में आती है, उस पर हमारे कंठ, गालों, दाँतों व जिह्वा की बनावट इत्यादि का प्रभाव उत्पन्न उप-स्वरों की तीव्रता के तारतम्य पर पड़ता है। अतः हमारी वह आवाज़ किसी भी अन्य मनुष्य की आवाज़ से भिन्न होगी; क्योंकि उसके मुख के भागों की रचना हमारे मुख की रचना से भिन्न है। यही नाद-जाति के भिन्न होने का कारण है। स्थल या स्थान भेद से स्वर का गुण बदल जाता है।

ध्वनि से सम्बन्धित कुछ अन्य बातें

ध्वनि का अनुरणन (Reverberation)

किसी बड़े कमरे में जब कोई ध्वनि या नाद उत्पन्न होता है, तो नाद के बन्द हो जाने के पश्चात् एक गूँजसी उत्पन्न होती है। वह नाद के संक्षिप्त परावर्तन के कारण वास्तविक गूँज (Echo) अर्थात् गुणज प्रतिध्वनि से कम होती है। ऐसा लगता है, जैसे उच्चरित नाद खिंचकर कुछ लम्बा-सा हो गया है।

ध्वनि का परावर्तन (Reflection of Sound)

जब ध्वनि तरंगें दीवारों से टकराती हैं, जिनका आकार ध्वनि-तरंगों के आकार से बड़ा होता है, तो तरंगों का कुछ अंश उसी माध्यम में परिवर्तित हो जाता है, जिसके द्वारा वह गया था। शेष भाग में से कुछ तो मल द्वारा शोषित हो जाता है और बाकी उस दूसरे माध्यम में आर-पार चला जाता है।

ध्वनि आवर्तक (Refraction of Sound)

जब ध्वनि-तरंगें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती हैं, तो यह क्रिया आवर्तन के साधारण नियमों के अनुसार ही होती है।

ध्वनि-विवर्तन (Diffraction of Sound)

जब ध्वनि के मार्ग में बाधा आ जाती है, तो वह मुड़ जाती है। ध्वनि का यह मुड़ाव उसके प्रकार और विशिष्ट गुणों पर निर्भर करता है, यद्यपि उसका वेग नहीं बदलता। इस गुण को 'ध्वनि का विवर्तन' कहते हैं।

ध्वनि का व्यतीकरण (Interference of Sound)

अवस्था-विशेष में दो ध्वनियाँ मिलकर शांत (Dead) हो जाती हैं। इस क्रिया को 'ध्वनि का विनष्टीकरण' या 'व्यतीकरण' कहते हैं। जब दो कंपनांक (Frequency) और कंप-विस्तार (Amplitude of vibration) बिलकुल बराबर

होते हैं और दोनों से एक-जैसी तरंगें उत्पन्न होती हैं तथा वे दोनों एक ही दिशा में चल रही होती हैं, तो माध्यम के कुछ निश्चित कणों पर तो ध्वनि अधिकतम और कुछ पर वह एकदम मंद पड़ जाती है। इसी क्रिया को 'ध्वनि का व्यतीकरण' कहते हैं।

अनुनाद (Resonance)

जब कोई वस्तु किसी वाद्य श्रोत से प्रेरित होकर स्वयं कंपित होने लगती है, तो इस क्रिया को 'अनुनाद' (Sympathetic Vibrations) कहते हैं।

प्रतिध्वनि (Echo)

जब बोलने वाले के शब्द एक से अधिक बार सुनाई पड़ते हैं, तो इस क्रिया को 'प्रतिध्वनि' कहते हैं। प्रतिध्वनि का कारण दूरस्थ परन्तु समतल स्थान होते हैं।

ध्वनि का दोलन और वहन

यह बताया जा चुका है, कि ध्वनि-कम्पन, तरंग, आंदोलन या दोलन से उत्पन्न होती है। लेकिन क्या हर कम्पन से ध्वनि उत्पन्न होती है ? कई बार ऐसा होता है, कि नेत्रों से हम वस्तुओं का कंपन देखते हैं, लेकिन वस्तुओं का अभाव पाते हैं। इसका कारण यही है, कि कंपन से ध्वनि तो उत्पन्न होती है, लेकिन हमारे कान उसको सुन नहीं पाते। कारण यही है कि कंपन की आवृत्तियाँ ध्वनि की तीव्रता को एक विशेष सीमा में रखती हैं। जिन ध्वनियों की आवृत्ति बीस चक्र प्रति सैकिंड से कम होती है, वे हमारे कानों पर प्रभाव उत्पन्न नहीं कर पातीं और न वे ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, जिनकी आवृत्ति बीस हज़ार चक्र प्रति सैकिण्ड से अधिक होती है। इसलिए बीस हज़ार आंदोलन प्रति सैकिण्ड उत्पन्न करने वाली वस्तुओं से ही मनुष्य के कान को ध्वनि सुनाई पड़ती है। बीस हज़ार से अधिक आंदोलन वाली ध्वनियाँ 'पराश्रव्य' (Ultra sonic waves) कहलाती हैं। इनके माध्यम से आजकल प्रयोगशालाओं एवं चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक उपयोगी कार्य सिद्ध किए जा रहे हैं। इन ध्वनियों को कुत्ते, चिमगादड़ और मछलियाँ सुन सकती हैं।

वायु का स्प्रिंग (Elasticity of winp)

वायु में स्प्रिंग गुण अथवा प्रत्यास्थता (Elasticity) होती है।

अनुदैर्घ्य तरंग (Longitudinal wave)

उपर्युक्त विवरण से वायु का लचीलापन सिद्ध होता है। वायु का भार जड़त्व प्रदान करता है। इसलिए यदि वायु में कोई वस्तु कम्पन करती है तो उसके द्वारा

वायु में सम्पीडन एवं विरलन उत्पन्न होता है। यही सम्पीडन और विरलन वायु में संचरण करके ध्वनि को स्रोत से आगे ले जाते हैं।

ध्वनि के शक्ति स्रोत (Energetic source of Sound)

ध्वनि की तीव्रता का ज्ञान स्रोत की शक्ति प्रस्तुत करता है। ध्वनि की शक्ति का महत्त्व संगीत तथा वाग्ध्वनि (Speech sound) के संदर्भ में अत्यधिक है।

ध्वनि वेग (Velocity of sound)

वायु में तरंग का वेग वायु का दाव बढ़ने से बढ़ता है और घनत्व बढ़ने से घटता है। हम देखते हैं, कि तार या दोलन को छेड़ देने पर, वह थोड़ी देर तक हिलता रहता है; फिर धीरे-धीरे हिलना बन्द हो जाता है।

अतिध्वनि या पराश्रव्य (Ultra sonic Waves)

ध्वनि की आवृत्ति बढ़कर जब बीस हजार चक्र प्रति सैकिण्ड से अधिक हो जाती है, तो मनुष्य के कानों को सुनाई नहीं पड़ती। इसी ध्वनि को अतिध्वनि, पराश्रव्य या कर्णातीत ध्वनि कहा जाता है।

कर्णातीत ध्वनि का उपयोग

ध्वनि तरंगों के द्वारा सागर को गहराई आंकना कर्णातीत ध्वनि का सबसे पहला उपयोग रहा है, जो तलहटो में जाकर परावर्तित या प्रतिध्वनित होकर लौटती है। इसके आने-जाने के समय का माप और वेग जानकर पथ की लम्बाई (गहराई) ज्ञात हो जाती है।

□□□

नृत्य में गणित का स्थान और ताल के दस प्राण

ताल प्रक्रिया ही संगीत का गणित है, जिसका उपयोग गायन, वादन और नृत्य तीनों में किया जाता है। छन्द से ताल की उत्पत्ति होती है अर्थात् विभिन्न मात्राओं से बनने वाले छन्द विशेष लय का निर्माण करते हुए तालों को जन्म देते हैं। साहित्य में उसे छन्द कहा जाता है और संगीत में ताल। सरल भाषा में लय को नापने की क्रिया ताल कहलाती है। जब विभिन्न तालों के अन्दर लय के साथ खिलवाड़ की जाती है, तो उसे लयकारी कहते हैं।

गणित के आधार पर लय और ताल के विभिन्न खण्ड रोचकता और चमत्कार उत्पन्न करते हैं। कथक नृत्य में पाव-गुन से लेकर सोलह-गुन तक की लयकारियां प्रस्तुत की जाती हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. **पाव गुन** : तीन ताल (१६ मात्रा) की चार मात्राओं में पैर से एक आघात मारने की क्रिया को पाव गुन की लय कहा जाता है।

२. **अधगुन या आधीगुन** : जब दो मात्राओं में पैर से एक आघात मारा जाए, तो उसे अधगुन की लय कहा जाता है।

३. **पौन गुन** : जब चार मात्राओं में पैर से तीन आघात मारे जाएं, तो उसे पौन गुन कहा जाता है।

४. **बराबर या ठा** : जब चार मात्राओं में पैर से चार आघात मारे जाएं, तो उसे बराबर की लय कहा जाता है।

५. **सवागुन या सवाई** : जब चार मात्राओं में पैर से पांच आघात मारे जाएं, तो उसे सवागुन की लय कहा जाता है। इसे कुआड़ी लय कहते हैं।

६. **डेढ़गुन या ड्योढ़ी** : जब चार मात्राओं में पैर से छह आघात मारे जाएं, तो उसे डेढ़गुन की लय कहा जाता है। इसे आड़ी लय कहते हैं।

७. पौने दो गुन : जब चार मात्राओं में पैर से सात आघात मारे जाएँ, तो उसे पौने दो गुन की लय कहा जाता है। इसे बिआड़ी लय कहते हैं।

८. दो गुन या दुगुन : चार मात्राओं में पैर से आठ आघात मारे जाएँ, तो उसे दोगुन की लय कहा जाता है।

९. सवा दो गुन : चार मात्राओं में पैर से नौ आघात मारे जाएँ, तो उसे सवा दो गुन की लय कहा जाता है।

१०. ढाई गुन : चार मात्राओं में पैर से दस आघात मारे जाएँ, तो उसे ढाई गुन की लय कहा जाता है।

११. पौने तीन गुन : चार मात्राओं में पैर से ग्यारह आघात मारे जाएँ, तो उसे पौने तीन गुन की लय कहा जाता है।

१२. तीन या तिगुन : चार मात्राओं में पैर से बारह आघात मारे जाएँ, तो उसे तीनगुन की लय कहा जाता है।

इस प्रकार बराबर की लय को दुगुनी, चौगुनी, अठगुनी और सोलहगुनी करके उनके बीच में अलग-अलग लयकारियाँ दिखाते हुए जब नृत्य प्रस्तुत किया जाता है, तो इसी को नृत्य का गणित कहते हैं। जब कुआड़ी, आड़ी और बिआड़ी लय की दुगुन कर दी जाती है, तो इन्हें क्रमशः महाकुआड़ी, महाआड़ी और महाबिआड़ी लय कहा जाता है।

तबले की दृष्टि से जब किसी ताल के बोल उसकी एक आवृत्ति के काल में ही दो बार बजा दिए जाएँ, तो उसे दुगुन, तीन बार बजा दिए जायें, तो तिगुन, चार बार बजा दिए जायें, तो चौगुन, पाँच बार बजा दिए जायें, तो पचगुन इत्यादि कहा जाता है।

काल

काल या समय को जब टुकड़ों में विभाजित किया जाता है, तो उसे काल के मापने की क्रिया कहा जाता है। एक 'क्षण' की परिभाषा करते हुए प्राचीन ग्रन्थों में बताया गया है, कि यदि एक समान सौ कमल के पत्तों को ऊपर नीचे रखकर कसकर बांध दिया जाए और एक तेज (तीक्ष्ण) सुई से शीघ्रतापूर्वक उनको छेद दिया जाए, तो जितना समय सुई एक कमल पत्र को छेदने में लेगी, उस समय अर्थात् काल को एक 'क्षण' कहेंगे। कुछ ग्रन्थों में क्षण 'कण' भी कहा गया है।

८ क्षण से एक लव, ८ लव से एक काष्ठ, ८ काष्ठ से एक निमिष, ८ निमिष से एक कला, २ कला से एक चतुर्भाग, २ चतुर्भाग से एक अणुद्रुत, २ अणुद्रुत से एक द्रुत, २ द्रुत से एक लघु, २ लघु से एक गुरु, ३ लघु से एक प्लुत और चार लघु

से एक काकपद कहा गया है। इनमें से पहले छह को 'सूक्ष्मकाल' और शेष को 'स्थूलकाल' कहते हैं। वर्तमान समय में अणुद्रुत, द्रुत, लघु और गुरु इत्यादि अंग तो प्रचलित हैं ,परन्तु इनके लिए कोई काल विशेष निर्धारित नहीं, जबकि इन्हीं के द्वारा ताल में काल का माप किया जाता है।

अंग

'लघु' अक्षर को एक मात्रा का काल माना जाता है। इस आधार पर अणुद्रुत ¼ मात्रा काल का हुआ। द्रुत ½ मात्रा काल का, गुरु २ मात्रा काल का, प्लुत ३ मात्रा काल का और काकपद ४ मात्रा काल का होता है। यदि इन्हें चार गुना कर दें, तो इनका क्रम इस प्रकार हो जाता है।

अणुद्रुत : १ मात्रा काल का हो जाएगा।
द्रुत : २ मात्रा काल का हो जाएगा।
लघु : ४ मात्रा काल का हो जाएगा।
गुरु : ८ मात्रा काल का हो जाएगा।
प्लुत : १२ मात्रा काल का हो जाएगा।
काकपद : १६ मात्रा काल का हो जाएगा।

मार्ग

'गुरु' का दूसरा नाम 'कला' है। कला का काल प्रमाण विभिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त है। अलग-अलग होने की यही प्रक्रिया मार्ग कहलाती है। नाट्यशास्त्र और संगीत-रत्नाकर ग्रन्थों में 'चित्र', 'वार्तिक', 'दक्षिण' और 'ध्रुव' की विशद व्याख्या मिलती हैं। 'मार्ग के द्वारा गायन वादन या नृत्य की मात्राओं को ठीक प्रकार से गिना जा सकता है और उन्हें लिपिबद्ध किया जा सकता है।

क्रिया

काल के गिनने के क्रम को क्रिया कहते हैं। इसी में ताल की आनन्दजनक शक्ति निहित रहती है। दोनों हाथों के संयोग से शब्द पैदा करना, अँगुलियों को गिनना आदि क्रिया कहलाती है।

ग्रह

गीत का आरम्भ और ताल का आरम्भ साथ-साथ होता है या आगे-पीछे, इस व्यवस्था का नाम 'ग्रह' है। यह चार प्रकार का होता है। जब गीत और ताल एकसाथ प्रारम्भ होते हैं, तो उसे 'सम ग्रह' कहते हैं। जब दोनों आगे-पीछे आरम्भ होते हैं, तो उसे 'विषम ग्रह' कहते हैं। विषम ग्रह दो प्रकार का कहा गया है—

१. **अतीत ग्रह :** अतीत का अर्थ हैं 'बीता हुआ'। अतः जब सम निकल जाने के बाद सम को दिखाया जाए, तो उसे 'अतीत ग्रह' कहते हैं।

अनागत ग्रह : अनागत का अर्थ है 'आने वाला'। जब सम आने से पहले ही सम को दिखा दिया जाए, तो उसे 'अनागत ग्रह' कहते हैं।

इस प्रकार सम ग्रह और विषम ग्रह और विषम ग्रह के दो भेद अतीत और अनागत मिलकर ग्रह के चार प्रकार माने गए हैं।

गायन, वादन और नृत्य में सुन्दरता और सम वाले ठीक स्थान का भ्रम उत्पन्न करने के लिए ग्रह का प्रयोग किया जाता है।

जाति

नाट्यशास्त्र और संगीत रत्नाकर ग्रन्थों में ताल की जाति 'त्रयस्त्र' और 'चतुरस्त्र' दो प्रकार की बतलाई गई हैं। त्रयस्त्र और चतुरस्त्र जाति को मिलाकर एक नई जाति 'मिश्र' उत्पन्न हुई अर्थात् ३+४=७। फिर मिश्र और त्रयस्त्र को जोड़कर दो खण्ड करने पर 'खण्ड' जाति मिली अर्थात् $\frac{७+३}{२}=५$। अब खण्ड जाति में चतुरस्त्र जाति जोड़ने पर जो जाति मिली, उसे 'संकीर्ण' कहते हैं अर्थात् ५+४=९। इस जाति को प्राप्त करने की क्रिया संकीर्ण अर्थात् $\frac{७+३}{२}+४=९$ है, इसलिए इसका नाम संकीर्ण पड़ा।

जाति शब्द के यह अर्थ और प्रयोग आज विस्मृत हो गए हैं। अब जाति नए अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। लघु के अक्षरकाल या मात्राकाल का नाम जाति हो गया है। लघु यदि तीन मात्रा काल का रहे, तो उस ताल को त्रियस्त्र जाति, चार मात्राओं का हो, तो चतुरस्त्र, पाँच मात्राओं का हो, तो खण्ड, सात मात्राओं का हो, तो मिश्र और नौ मात्राओं का हो, तो संकीर्ण जाति का कहते हैं। साधारणतया तालों की लम्बाई घटाने-बढ़ाने के लिए जातियों का प्रयोग किया जाता है।

कला

ताल के विभिन्न भागों को 'अवयव' या 'अंग' कहते हैं और कला शब्द का अर्थ है 'भाग'। इस प्रकार अक्षरकाल का सूक्ष्म विभाजन 'कला' कहलाता हैं। कला के समूहों को 'गति' कहा जाता है। एक जैसे अक्षर काल में तीन कलाओं के समूह को 'त्रयस्त्रगति' कहते हैं। चार कलाओं का समूह 'चतुरस्त्र गति', पाँच कलाओं का समूह 'खण्डगति', सात कलाओं का समूह 'मिश्र गति' और नौ कलाओं का समूह 'संकीर्णगति' कहलाता है।

दो क्रियाओं के मध्य में रहने वाले अवकाश या पहली क्रिया की विश्रान्ति का नाम 'लय' है, जो गीत, ताल या पैर की गति अर्थात् धीमी या तेज चाल को बताने वाली होती है। साधारणतया लय के तीन भाग कर लिए गए हैं, जिन्हें विलम्बित (धीमी), मध्य (बीच की) और द्रुत (तेज) कहते हैं। विलम्बित का दुगुना वेग (चाल) 'मध्य लय' है और मध्य लय का दुगुना वेग 'द्रुतलय' है।

लय को सुन्दर रूप देने के लिए जो 'सिद्धान्त', 'नियम' या 'मार्ग' हैं, उन्हें 'यति' कहते हैं। यति के ५ प्रकार माने जाते हैं।

१. समा : किसी टुकड़े के आरम्भ, मध्य में एक ही लय चले, तो उसे 'समा' यति (सम लय की) कहते हैं। जैसे :—

धागेतिट धागेतिट तागेतिट तागेतिट किटधागे तिटतिट इत्यादि।

२. स्रोतागता या स्रोतावहा : जिस प्रकार नदी के स्रोत से जल बहता है, उसी प्रकार इसकी चाल मानी गई है। इस आधार पर कुछ लोग शुरू में विलम्बित, बीच में मध्य और अन्त में द्रुतलय मानते हैं। जैसे :—

धाकिट तकिट,त काकिट; धाकिटतकधुम, किटधुमकिटतक धुमकिटतकधा किटधुमकिटतक; तकिटतकाऽकिटतकगदि गिनधाऽऽकिटतकगदिगि नधाऽऽतिटकत-गदिगिन धा इत्यादि।

कुछ लोग आदि में मध्य, बीच में विलम्बित और अन्त में द्रुतलय का प्रयोग करते हैं।

३. मृदंगा : मृदंग के दोनों मुख छोटे होते हैं और बीच का भाग बड़ा होता है। इसी आधार पर जब आदि और अन्त में द्रुत तथा मध्य में विलम्बित लय होती है तो उसे मृदंगा यति कहते हैं। जैसे :—

तिरकिटतक्धिरकिटतक्तिरकिट धिरधिरकिटतक्धातिरकिटतक् धा धा तू ना; कत्ततिरकिटतक्; धा,कत्ततिर किटतकधा कत्ततिरकिटतक धा इत्यादि।

४. पिपीलिका : पिपीलिका का अर्थ है चींटी। जिस तरह चींटी कभी धीमी गति में चलती है, कभी एकदम दौड़ने लगती है। इसी आधार पर जब आदि अन्त में विलम्बित लय और मध्य में द्रुत लय रहे अथवा आदि अन्त में मध्य लय और बीच के हिस्से में द्रुत लय रहे अथवा अन्त में मध्य लय और बीच में विलम्बित लय और आदि में द्रुतलय भी रखी जा सकती है। जैसे :—

किटतक ता किटतक ता; धा ऽ दिन् ता; क द्धाति क द्धाति द्धा क द्धाति द्धा इत्यादि।

५. गोपुच्छा : गाय की पूँछ की तरह जब गति हो तो उसे 'गोपुच्छा' यति कहते हैं। इसमें पहले विलम्बित लय या मध्य लय तथा बाद में द्रुत लय का प्रयोग किया जाता है और कुछ लोग प्रारम्भ में द्रुत लय और अन्त में विलम्बित लय का प्रयोग करते हैं अर्थात् स्रोतागता यति के विपरीत। जैसे :—

धाकिट धाकिट तकिटत काऽकिट धुमकिट तकिटत काकिट; दिन् ऽ; ता ऽ ऽ धा इत्यादि।

इन पाँच यतियों के अलावा शास्त्रों में दो यतियाँ और मिलती हैं जिन्हें 'डमरु यति' और 'विषम यति' कहते हैं। डमरु यति के प्रारम्भ और अन्त में द्रुत लय तथा बीच में विलम्बित लय का प्रयोग किया जाता है और विषम यति में इच्छानुसार सौन्दर्य की वृद्धि का ध्यान रखते हुए कभी विलम्बित लय कभी द्रुत लय और कभी मध्य लय का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार यति, जाति, ग्रह इत्यादि के गणितमय प्रयोग द्वारा कथक नृत्य के ताल प्रधान अंग को मनमोहक बनाया जाता है। यह गणित ही कथक नृत्य की विशेषता है जो इतने सूक्ष्म और विविध रूप में भारत की अन्य किसी भी नृत्य शैली में नहीं मिलता।

प्रस्तार

जिस प्रकार ताल के अंगों का प्रस्तार किया जाता है उसी प्रकार कथक नृत्य के बोलों का प्रस्तार किया जाता है, जो दर्शकों को बाँधे रखता है। ऐसा लगता है जैसे तरह-तरह के पटाखे, फुलझड़ियाँ और आतिशबाजियाँ छूट रही हों। वादक और नर्तक ताल एवं नृत्य के बोलों को एक प्राण कर देते हैं और उसी से नृत्य द्वारा रस का ठीक-ठीक संचार होता है।

जिस तरह तबला और पखावज के द्वारा टुकड़े, बोल, परन, तिहाई और गत बजाई जाती हैं, उसी के जवाब में नाच के बोल, परन, चाल, पदाघात, घुंघरुओं की झंकार और कवित्त के छन्द विधान द्वारा नृत्य में प्रस्तुति की जाती है। ताल और नृत्य का यह अद्भुत लड़गुथाव कथक नृत्य को शास्त्रीय नृत्यों की उच्चतम श्रेणी में प्रतिष्ठापित कर देता है। ऊपर वर्णित ताल के १० प्राण : काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति और प्रस्तार ही नृत्य के प्राण भी समझने चाहिए।

□□□

भातखण्डे तथा विष्णुदिगम्बर ताल लिपियाँ

उत्तर भारत में स्वर या ताल की लिपियों को लिखने के लिए प्रमुख रूप से दो पद्धतियां प्रचलित हैं। एक भातखण्डे पद्धति कहलाती है और दूसरी विष्णुदिगम्बर पद्धति।

भातखण्डे पद्धति

‿ यह अर्धचन्द्र एक मात्रा बतानेवाला है अर्थात् जिन बोलों के नीचे यह अर्धचन्द्र लगाया जाता है, उन्हें एक मात्रा में प्रस्तुत किया जाता है। जैसे : तत्, थेई, दिगदिग इत्यादि। एक-एक मात्रा में समझने चाहिए।

ऽ अथवा—जब किसी बोल को उसके निश्चित समय से अधिक लम्बा करना होता है तो ऽ अथवा—इन चिह्नों का प्रयोग किया जाता है। जिन बोलों के आगे ऽ या—के निशान होंगे उन्हें उतनी ही मात्राओं में बढ़ाकर बोला जाएगा। जैसे : तत् थेऽ ऽऽ ईऽ तिगदा ऽथे ऽई इत्यादि। ध्यान देने की बात यही है कि एक मात्रा में प्रत्येक शब्द पर जो ठहराव निश्चित किया जाए उतने ही काल का ठहराव ऽ या—पर भी देना चाहिए, लेकिन यह सब नीचे के अर्धचन्द्र की एक मात्रा काल में आ जाना चाहिए।

× जिन बोलों के ऊपर या नीचे × यह चिह्न लगा हो उसे ताल का सम स्थान समझना चाहिए।

० जिन बोलों के ऊपर या नीचे ० यह चिह्न लगा हो उसे ताल का खाली स्थान समझना चाहिए।

२, ३ या ४ जिन बोलों के ऊपर या नीचे किसी स्वरलिपि या ताल लिपि में संख्याएँ लिखी हों उन स्थानों पर सम्बन्धित ताल की दूसरी, तीसरी, चौथी या पाँचवीं ताली (आघात) समझनी चाहिए। उदाहरणार्थ :—

×				२				०			
ताऽ	थेई	तत्	थेई	तिगदा	दिगदिग	थेई	तत्	थेई	तथेई	ऽतत	थेई
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

३			
थेई	तत्	तत्	ताऽ
१३	१४	१५	१६

इसमें 'ता' अर्थात् पहली मात्रा पर सम है, 'तिगदा' अर्थात् पाँचवीं मात्रा पर ताली का दूसरा आघात है, 'थेई' अर्थात् नवीं मात्रा पर खाली है और अंतिम 'थेई' अर्थात् १३ वीं मात्रा पर ताली का तीसरा आघात है। इस प्रकार १६ मात्राओं के अन्दर नृत्य के बोलों की प्रस्तुति को समझना चाहिए।

'।' जबताललिपि के बीच खड़ी रेखा हो तो उसे ताल का खंड या विभाग समझना चाहिए जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, किसी-किसी ताललिपि में खड़ी रेखा न बना कर कौमा अर्थात् अल्पविराम का चिह्न , भी लगा दिया जाता है, जिसे तदनुसार लेखक की शैली के रूप में समझ लेना चाहिए। कुछ लोग बोल समूह के बीच में भी अल्पविराम का प्रयोग करते हैं ताकि उससे अगले वर्ण पर जोर दिया जा सके जैसे—ताऽऽऽ ऽऽ,थेई तऽत्त तऽत्त घड़ान,धा। इसका अभिप्राय यही है कि अल्पविराम के बाद लिखे हुए 'थेई' और 'धा' पर आघात बलपूर्वक होना चाहिए।

विष्णुदिगम्बर पद्धति

इस पद्धति में मात्रा के खण्डों को लिखने के लिए अलग-अलग चिह्न होते हैं। जो वर्ण या बोल जितनी मात्रा का होगा उतनी ही मात्रा का चिह्न उसके नीचे लगा दिया जाता है। अतः एक मात्रा के लिए वर्ण के नीचे पड़ी रेखा जैसे :—ता थेई तत्। आधी मात्रा के लिए गोल बिन्दु जैसे :—तत् थेई और चौथाई मात्रा दिखाने के लिए अर्धचन्द्र जैसे :—तत् थेई बना देते हैं। एक मात्रा का आठवां भाग लिखने

के लिए वर्ण के नीचे दो अर्धचन्द्र जैसे :—ततु थेई लगा देते हैं। यदि एक/तीन मात्रा लिखनी हों, तो वर्ण के नीचे १/३ लिख देते हैं या एक लहरदार रेखा खींच देते हैं जैसे :—त थेई थेई अथवा त थेई थेई। इसी प्रकार १/६ या १/१२ मात्रा

१/३ १/३ १/३

दिखाने के लिए उनके नीचे उन्हें लिख दिया जाता है अथवा दो लहरदार रेखाएँ खींच देते हैं जैसे :—

ता थेई थेई अथवा त थेई थेई

१/६ १/६ १/६

सम

जिस स्थान पर सम दिखाना होता है, वहाँ १ का अंक लिख दिया जाता है।

खाली

ताल की खाली मात्रा दिखाने के लिए + चिह्न का प्रयोग किया जाता है। [ध्यान रखना चाहिए, कि विष्णुदिगंबर पद्धति में + (धन का चिह्न) ताल की खाली मात्रा के लिए है, जबकि भातखण्डे पद्धति में × (गुणा का चिह्न) ताल की सम प्रदर्शित करने के लिए रहता है।]

जिस मात्रा पर अन्य ताली आती हैं, उन्हें मात्राओं की गिनती के अनुसार तत्सम्बन्धी अंकों में लिख दिया जाता है।

आवृत्ति

ताल का पूरा एक चक्र या आवृत्ति जब समाप्त हो जाती है,तो वहाँ एक खड़ी रेखा (विराम) लगा दी जाती है। जब गीत या काव्य के स्थायी की पंक्ति समाप्त होती है,तो दो खड़ी रेखाएँ और सम्पूर्ण काव्य की समाप्ति के बाद तीन खड़ी रेखाएँ लगा देते हैं। जैसे :—'।' ताल की एक आवृत्ति (चक्र) की समाप्ति पर; '।।' स्थायी की समाप्ति पर और '।।।' संपूर्ण काव्य की समाप्ति पर इन रेखाओं को लगा देंगे।

दोनों पद्धतियों में विलंबित एक ताल को निम्न प्रकार से लिखा जाएगा। भातखण्डे पद्धति में :—

धि धि	धागे तिरकिट	तू ना	क ता	धागे तिरकिट	धी ना
×	०	२	०	३	४

और विष्णुदिगंबर पद्धति में—

धि	धि	धा	गे	ति	र	कि	ट	तू	ना
		०	०	‿	‿	‿	‿	—	—
१		+						५	
क	ता	धा	गे	ति	र	कि	ट	धी	ना
—	—	०	०	‿	‿	‿	‿	—	—
+		६						११	

भातखण्डे पद्धति ही अधिक सरल है और छपाई की दृष्टि से मुद्रण में प्रिंटिंग प्रेस को कोई कठिनाई नहीं होती, इसीलिए इसका प्रचार अधिक है। परन्तु विष्णुदिगंबर जी की परम्परा में उनके शिष्य उन्हीं की पद्धति को अपनाते हैं। विद्यार्थी को दोनों पद्धतियों का उत्तम ज्ञान हो, तो अच्छी बात है।

भातखण्डे एवं विष्णुदिगंबर ताल लिपि का तुलनात्मक चार्ट

भातखण्डे पद्धति	विष्णुदिगंबर पद्धति
ताल चिह्न—	
सम : ×	१
खाली : ०	+
ताली : ताली की संख्या जैसे २,३ आदि	मात्रा की संख्या जैसे ५, १३
विभाग : ।	विभाग नहीं होता। एक आवृत्ति के बाद एक खड़ी लकीर खींचते हैं।
मात्रा काल—	
एक मात्रा : ता (कोई चिह्न नहीं)	ता —
	ता ०
	ता ०
१½ मात्रा : ता –ता	ता ऽ
२ मात्रा : ता –	ता० ऽ
३ मात्रा : ता – –	
४ मात्रा : ता – – –	ता ×

आधी मात्रा : तत तत	त त त त ० ० ० ०
चौथाई मात्रा : थेइतत्	थे इ त त्
१/३ मात्रा : तातेटे	ता ते टे १/३ १/३ १/३
१/६ मात्रा : दिगदिगदिग	दि ग दि ग दि ग १/६ १/६ १/६ १/६ १/६ १/६
अर्ध विराम : ता,तत ता=१/२,त=१/४,त=१/४	अर्ध विराम नहीं होता

नाट्य और संगीत सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द

अंग

शरीर के विभिन्न भाग, अवयव या हिस्सों को 'अंग' कहा जाता है। नृत्य की दृष्टि से इनके तीन भेद किए गए हैं अर्थात्—अंग, प्रत्यंग और उपांग। 'अभिनय दर्पण' के अनुसार अंग छः हैं, यथा—सिर, हाथ, छाती, बगल, कमर और पैर। कुछ आचार्य गर्दन को भी अंग मानते हैं। प्रत्यंग छः हैं, यथा—कंधा, बाहु, पीठ, पेट, जांघ और कूल्हा। कुछ आचार्य इसमें कलाई, कुहनी और घुटना इन तीनों को जोड़ देते हैं। कुछ आचार्यों के मतानुसार गर्दन भी प्रत्यंग की श्रेणी में आती है। बारह सिर के उपांग बताये गए हैं, यथा—नेत्र, भ्रू, आँख की पुतली, गाल, नाक, जबड़े, ओंठ, दांत, जिह्वा, ठोड़ी, कुहनी, मुख। कुछ आचार्य कंधे को उपांग की श्रेणी में मानते हैं। कुछ शास्त्रों में एड़ी, टखना, पंजे और उंगलियाँ भी अंग-प्रत्यंगों के अन्तर्गत बताई गई हैं। शास्त्र के अनुसार 'अंग' की विभिन्न चेष्टाओं द्वारा नृत्य की सृष्टि होती है, अतः निश्चेष्ट शरीर को अंग नहीं कहा जा सकता। शरीर के विभिन्न अवयवों के संचालन द्वारा उत्पन्न हुई शरीर की विविध आकृतियों को 'नाट्यशास्त्र' में 'अंग' कहा गया है। 'अंग' को नृत्य का शरीर माना है, मानव का नहीं। संगीत कला के कुछ अन्य शब्दों के साथ भी अंग शब्द जुड़ा होता है, जैसे—रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग, उपाङ्ग, वाद्याङ्ग, तालाङ्ग, पूर्वाङ्ग और उत्तराङ्ग इत्यादि। 'अंग' से ही मुद्राओं का जन्म होता है।

अंगक्रिया

अंग के दो रूप होते हैं—आरोही अंग (शरीर का संचालन नीचे से ऊपर की ओर होना) और अवरोही अंग (शरीर का संचालन ऊपर से नीचे की ओर होना)। जब अंग संचालन या अंग में गति होती है, तो उसे 'अंगक्रिया' कहते हैं।

अंगहार

शरीर के विविध अंगों को समुचित प्रकार से रखने का नाम 'अंगहार' है। करणों के क्रम विशेष को 'अंगहार' नाम दिया गया है। जिस तरह विभिन्न स्वरों से राग का निर्माण होता है, उसी तरह विभिन्न करणों से सुन्दर अंगहारों की रचना होती है।

विभिन्न करणों के योग से 'अंगहार' बनते हैं। भरत के अनुसार दो करणों के योग से एक 'मातृका' बनती है तथा दो, तीन अथवा चार मातृकाओं से एक 'अंगहार' बनता है। तीन करणों द्वारा एक 'कलापक', चार करणों से एक 'मण्डल' तथा पाँच करणों से एक 'संघातक' निर्मित होता है। इसी प्रकार छह, सात, आठ या नौ करणों के योग से भिन्न-भिन्न 'अंगहार' निर्मित होते हैं। शास्त्रों में ३२ प्रकार के 'अंगहार' बताए गए हैं।

अंचित

पैर का पंजा उठाकर एड़ी से आघात करना।

अंशस्वर

गीत का केन्द्रीय या प्रमुख स्वर जिसे अँग्रेजी में 'की-नोट' या 'टॉनिक' कहते हैं। अनेक संगीत रचनाओं में विशेषकर पाश्चात्य संगीत में 'अंश स्वर' अपना स्थान बदलता रहता है। मूर्च्छना का प्रथम स्वर होने के कारण इसे 'स्थायी' स्वर भी कहते हैं।

अग्रतल

दोनों पंजों के बल खड़े होकर आघात करना।

अचल ठाठ

जिस वाद्य में परदे या सारिकाओं को खिसकाया न जा सके, बल्कि वे अपने निश्चित स्थान पर कायम रहें, उसे 'अचल ठाठ' वाला वाद्य कहते हैं।

अचल स्वर

जो स्वर अपने स्थान से स्थूल रूप में ऊँचे या नीचे नहीं होते।

अच्चु

कर्नाटिक संगीत में ताल को 'अच्चु' कहते हैं।

अछोप

ऐसा राग या संगीत रचना जो अप्रचलित हो 'अछोप' कहलाती है।

अटी

मेरु।

अडवू

भरतनाट्यम् के प्रस्तुतीकरण में नृत्त का प्रारम्भिक भाग, जिसमें हाथ, पैर, सिर, आंखें तथा शरीर के अन्य भाग एक दूसरे से सन्तुलन और सामंजस्य रखते हुए संचालित होते हैं। अडवुओं के चार लक्षण होते हैं—स्थानक (अडवू के प्रारम्भ तथा अन्त में दिखाई जाने वाली स्थिर मुद्रा), नृत्त हस्त (अडवू में प्रयुक्त हस्त मुद्रा), चारी (हाथ तथा पैरों का संचालन) तथा हस्तक क्षेत्र (सम्पूर्ण नृत्य में प्रयुक्त हाथों की मुद्रा)। आचार्यों ने अडवू के और भी भेद विकसित किए हैं, जैसे—तट्टु, मेट्टु, नट्टु, कट्टु,एगरु तट्टु, एगरु मेट्टु, एगरु कट्टु, तट्टु-मेट्टु, मुक्त्य, पैक्कल, सरुक्कल सरिक्क अडवु, जारू, जति, तांडव, मंडि, अरुडि, माय, नडे, भ्रमरी, क्लवन, रंगाक्रमण, चोलकेट्टु, कुट्ट अडवु, मर्दितु अडवु, एकपाद-तांडव इत्यादि।

अड्ड

प्राचीन संगीत में सालग सूड नामक प्रबन्ध का भेद; अठताल; विडाल ताल ।

अताई

उत्तर भारत में संगीत के शास्त्रीय ज्ञान से शून्य अथवा अव्यवस्थित गायक को 'अताई' कहते हैं ।

अधिबल

वीथी का एक भेद; जहां नाटकीय पात्र एक दूसरे के प्रति वाक्यों का प्रयोग करते समय स्पर्धा से अपने आधिक्य की उक्ति कहें, उसे 'अधिबल' कहते हैं ।

अधोमुख शिर

शिरोभेद का एक प्रकार; पृथ्वी की ओर झुका हुआ सिर ।

अर्द्धमागधी

प्राचीन गीति शैली का एक प्रकार ।

अनभ्यास

एक बार उच्चारण; आवृत्ति न करना ।

अनागत या अनाघात

ग्रह का एक प्रकार; ताल में मात्राओं से पूर्व या बाद की ऐसी मात्राएं जिन पर स्वाभाविक आघात न किया जा सके ।

अनाहत नाद

यौगिक अभ्यास द्वारा अनुभव में आनेवाला अतिसूक्ष्म अव्यक्त नाद 'अनाहत नाद' कहलाता है ।

अनिबद्ध

छन्द के नियमों से रहित पद समूह; ताल विहीन आलाप; वाद्य से सम्बन्धित बोल ।

अनुगत

विलम्बित लय में गाये जाते हुए गीत के अनुकरण के साथ ही साथ वाद्य में द्रुतलय का प्रयोग चतुरता पूर्वक करके दिखाना और गीत से भिन्न स्थानों पर भी स्थितियों का प्रदर्शन 'अनुगत' कहलाता है ।

अनुदात्त

निम्न या नीचा ।

अनुपल्लवी

कृति में पल्लवी के पश्चात् गाये जाने वाला भाग ।

अनुभाव

स्थायी या संचारी भाव के उत्पन्न होने पर शरीर पर जो, रोमांच इत्यादि बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं, उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं ।

अनुमन्द्र

सप्तक के मन्द्र स्थान से भी नीचे के सप्तक वाले स्वरों को 'अनुमन्द्र' या 'अतिमन्द्र' सप्तक के स्वर कहते हैं ।

अनुलोम-प्रतिलोम

नृत्य में तिरछी दशा में पीछे जाना और आगे आना; पैरों द्वारा पृथ्वी के कूटने (ताड़न) को भी 'अनुलोम-प्रतिलोम' या 'अनुलोम-विलोम' कहते हैं; किसी भी क्रिया के सीधे या स्वाभाविक क्रम को 'अनुलोम' (सीधा) और उससे विपरीत क्रिया को 'प्रतिलोम' (उल्टा) कहा जाता है । बोल चाल की भाषा में इसे उलट-पुलट भी कह दिया जाता है ।

अनुलोम-विलोम

निम्न स्वर से उच्च स्वर में जाने की क्रिया 'अनुलोम' और उच्च स्वर से निम्न स्वर पर आने की क्रिया को 'विलोम' कहते हैं ।

अनुवाद

दो स्वरों का अनुकूल मिलन ।

अनुवादी स्वर

वादी और सम्वादी स्वरों के अतिरिक्त राग में प्रयुक्त अन्य स्वर 'अनुवादी स्वर' कहलाते हैं ।

अनुवृत्त दृष्टि

बार-बार ऊपर नीचे देखना ।

अन्तर्प्राण

नर्तक का आन्तरिक जीवन, जिसमें कोमलता, शुद्ध मुद्रा, भ्रमरी के प्रकारों का ज्ञान, नेत्रों का संचालन, बुद्धिमान, नृत्य रचना का ज्ञाता, अपनी कला के प्रति समर्पित और मधुर भाषी तथा गायन में कुशलता का समावेश रहता है ।

अन्तर भाषा

देशी गीत की शैली ।

अन्तरमार्ग

स्वर संगति; पकड़ ।

अन्तरा

गीत का दूसरा पद या अन्तिम भाग । कर्नाटिक संगीत में इसे 'अनुपल्लवी' कहते हैं ।

अपकर्ष

स्वर को उतारना; ततुवाद्यों में बाज के तार पर अन्दर से बाहर की ओर प्रहार करने की क्रिया ।

अपन्यास

गीत के पूर्वार्द्ध या स्थायी का अन्तिम स्वर 'अपन्यास' कहलाता है; न्यास स्वर के पूर्व बीच में कुछ अन्य स्वरों पर रुकना; गीत के मध्य-खण्ड के बीच में प्रयुक्त होनेवाला स्वर।

अपलन अलंकार

स्त्रियों के यौवनावस्था प्राप्त होने पर उनमें सत्व से उत्पन्न बीस अलंकारों की एक श्रेणी। इसके अन्तर्गत शोभा, कांति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य आदि आते हैं।

अपसृत

पार्श्व क्रम, जिसके अन्तर्गत विवर्तित चाल द्वारा स्वाभाविक मुद्रा में पीछे की ओर लौटा जाता है।

अपस्वर

कानों को अप्रिय लगने वाला या अशुद्ध स्वर।

अप्सरा

गीत, वाद्य और नृत्य में निपुण महिला।

अभिनय

लोक के किसी विषय का अनुकरण करके उसे मन, वाणी और चेष्टाओं से अभिव्यक्त करना 'अभिनय' कहलाता है। ये चार प्रकार के होते हैं। २२ अंग-प्रत्यंगों द्वारा किए जाने वाले को 'आंगिक अभिनय', वाणी प्रयोग द्वारा भावाभिव्यक्ति की क्रिया को 'वाचिक अभिनय', किसी भाव विशेष में तल्लीन होने पर सात्त्विक भाव के प्रदर्शन को 'सात्त्विक अभिनय', और वेशभूषा द्वारा अभिव्यक्त किए जाने वाले को 'आहार्य अभिनय' कहते हैं।

अराल

हस्त मुद्रा का एक भेद।

अलंकार

उत्तर भारतीय संगीत में वर्ण की नियमित रचना अथवा गीत को रंजक बनाने वाले विशिष्ट स्वर-समुदाय को 'अलंकार' कहते हैं। प्रचार में इसको 'पलटा' भी कहा जाता है। शरीर पर धारण किए जाने वाले गहने या जेवर भी अलंकार कहलाते हैं।

अलंकारम्

कर्नाटिक संगीत में पुरन्दरदास द्वारा निर्मित कुछ स्वर गतियाँ, जिनके आधार पर प्रारम्भिक सात तालें सिखाई जाती हैं। इन अलंकारों को गाने की सीमा एक सप्तक के अन्दर रहती है। स्वर तथा ताल ज्ञान के लिए ऐसे अलंकारों का प्रयोग उत्तर भारतीय संगीत में भी होता है।

अलपद्म

कमल की मुद्रा।

अल्पत्व

जब राग में किसी स्वर का महत्व कम दिखाया जाता है या प्रयोग कम किया जाता है, तो उसे 'अल्पत्व' कहते हैं।

अवतारण

पूर्व रंग, जिसके अन्तर्गत मंच पर संगीतज्ञ बैठते हैं।

अवतार हस्त

पृथ्वी पर अवतार लेने वाले राम, कृष्ण इत्यादि देवी देवताओं का अभिनय प्रस्तुत करने वाले हाथ या हस्त मुद्राएं।

अवनद्ध

चमड़े (खाल) से मढ़े हुए वाद्य यंत्र जैसे—तबला, मृदंग इत्यादि।

अवरोही

स्वर विशेष जब निम्नतर होते जाते हैं, तो स्वरों के नीचे जाने की यह क्रिया 'अवरोह' या 'अवरोही' कहलाती है।

अवरोही वर्ण

अवरोह क्रम से स्वरों का विस्तार; गान क्रिया का एक प्रकार।

अवलगित

वीथी का एक भेद; जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाए, वहाँ पहले ढंग का 'अवलगित' होता है; जहाँ एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो, वहाँ 'अवलगित' दूसरे प्रकार का होता है। इस प्रकार 'अवलगित' के दो भेद बताए गए हैं।

अवलोकित

दृष्टि का एक भेद; पृथ्वी की ओर देखना।

अवस्यंदित

वीथी का एक भेद; जहाँ भावावेश (रस) के कारण किसी वाक्य का प्रयोग कर दिया जाए और बाद में उस वाक्य की व्याख्या दूसरे ही ढंग से कर वास्तविकता को छिपा दिया जाए, तो उसे 'अवस्यंदित' कहते हैं।

अष्टक

षड्ज से षड्ज तक क्रमानुसार आठ स्वरों का समुदाय 'अष्टक' कहलाता है। अंग्रेजी में इसे 'ऑक्टेव' कहते हैं।

अष्टपद या अष्टपदी

कवि जयदेव की कृति 'गीत गोविन्द' की पदावली को 'अष्टपद' या 'अष्टपदी' कहा जाता है।

असंयुत हस्त

केवल एक ही हाथ की मुद्राओं द्वारा भाव को अभिव्यक्ति करने वाली हस्त मुद्रा। 'अभिनयदर्पण' में इसके २८ प्रकार बताए गए हैं।

असत-प्रलाप

वीथी का एक भेद; जहाँ ऊटपटाँग अर्थात् असम्बद्ध उक्ति तथा प्रलाप पाया जाय, वह 'असत-प्रलाप' कहलाता है।

अस्ताई

उत्तर भारतीय संगीत में गीत या बंदिश की स्थायी या प्रारम्भिक खण्ड; ख़याल, चीज़; गेय पद।

आंगिकाभिनय

शरीर तथा उसके अंग-प्रत्यंग तथा उपांगों द्वारा अभिनय प्रस्तुत करना 'आंगिकाभिनय' कहलाता है; चतुर्विध अभिनय का एक प्रकार, जिसके तीन भेद होते हैं—शरीरज, मुखज और चेष्टाकृत।

आकर्ष

तत् वाद्यों में बाज के तार पर बाहर से अन्दर की ओर प्रहार करने की क्रिया।

आगन्तुक स्वर

राग में जिस वर्जित स्वर का प्रयोग किया जाता है उसे 'आगन्तुक स्वर' कहा जाता है। पाश्चात्य संगीत में इसे 'ऐक्सीडेंटल नोट' कहते हैं।

आर्चिक

प्राचीन काल में एक स्वर से युक्त गायन को 'आर्चिक गान' कहा जाता था।

आचार्य

शिक्षक या शिक्षाविद; वेद का ज्ञाता; उस्ताद; ख़लीफ़ा; अल्लामः; आलिमफ़ाज़िल; मौलाना; 'नाट्यशास्त्र' के अनुसार आचार्य में ये गुण होने चाहिए, यथा—स्मृति, मति, मेधा, विचार पूर्वक खण्डन-मण्डन की क्षमता तथा शिक्षक को शिक्षा देने की क्षमता।

आड़ीलय

मध्य लय से ड्योढ़ी (१$\frac{1}{2}$) लय को 'आड़ीलय' कहते हैं।

आतोद्य

वाद्यवृन्द का प्राचीन नाम, जिसके अन्तर्गत तत्, घन, सुषिर तथा अवनद्ध वाद्य यन्त्रों का प्रयोग किया जाता था।

आदिअन्तवन्दनम्

नृत्य के प्रारम्भ और अन्त में प्रस्तुत किया जाने वाला भाग, जिसमें पृथ्वी के प्रति पूजा का भाव निहित रहता है। यह रंगमंच को एक मंदिर के प्रांगण का स्वरूप प्रदान करता है।

आन्दोलन

कम्पन । इसके आधार पर स्वरों की कम्पन संख्या निर्धारित की जाती है ।

ऑपेरा

संगीत नाट्य; इसमें गीत-संगीत के माध्यम से कथा का प्रस्तुतीकरण होता है। उत्तर भारत के 'नौटंकी' और 'स्वांग' इत्यादि इसी श्रेणी में आते हैं ।

आभोग

गीत के चौथे और अंतिम पद को 'आभोग' कहते हैं । कर्नाटिक संगीत में इसे 'पल्लवी' के नाम से जाना जाता है ।

आमुख

जब सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा वस्तु का संकेत करते हुए अपने कार्य का वर्णन करे, तो उसे आमुख कहते हैं। इसे प्रस्तावना नाम से भी पुकारा जाता है । इसके कथोद्धात, प्रवत्तक तथा प्रयोगातिशय, ये तीन अंग पाए जाते हैं ।

आरम्भ

पूर्व रंग, जिसके अन्तर्गत नृत्य से पहले गीत गाया जाता है ।

आरोह-अवरोह

स्वरों के ऊपर जाने की क्रिया को 'आरोह' और नीचे आने अथवा वापस लौटने की क्रिया को 'अवरोह' कहते हैं । आरोही स्वर विशेष जब उच्चतर होते जाते हैं, जो स्वरों के ऊपर जाने की यह क्रिया 'आरोह' या 'आरोही' कहलाती है ।

आरोही वर्ण

आरोह क्रम से स्वरों का विस्तार ।

आलप्ति

अनिबद्ध या ताल रहित आलाप; आविर्भाव और तिरोभाव करते हुए राग को पूर्ण रूप से प्रदर्शित करना 'आलप्ति गान' कहलाता है ।

आलाप

किसी राग या धुन को सार्थक अथवा निरर्थक ध्वनि के द्वारा गुनगुनाना 'आलाप' कहलाता है । राग के प्रारम्भ में उसका स्वरूप स्पष्ट करने के लिए 'आलाप' का प्रयोग किया जाता है । कर्नाटिक संगीत में इसे राग-आलापना कहते हैं ।

आलापना

राग के स्वरों का विस्तार करने की क्रिया 'आलाप' या 'आलापना' कहलाती है ।

आलीढ़

घुटनों को मोड़कर बैठना ।

आलोकित दृष्टि

दृष्टि का एक भेद; जल्दी-जल्दी घुमाते हुए विस्फारित नेत्रों से देखना।

आलोलित शिर

शिरोमुद्रा का एक भेद; मंडलाकार घूमता हुआ सिर।

आवर्त्त

निश्चित अवधि का चक्र 'आवर्त' या 'आवर्त्तन' कहलाता है।

आवाप

ताल की निःशब्द क्रियाओं में से एक।

आविद्ध नृत्त (उद्धत)

पुरुषोचित नृत्त को 'आविद्ध नृत्त' कहते हैं। इन्हें क्रमशः लास्य प्रधान और ताण्डव प्रधान जानना चाहिए।

आविर्भाव

गायन में मुख्य राग को स्पष्ट करने की क्रिया।

आवृत्ति

किसी ताल में सम से सम तक के पूरे भाग को एक 'आवृत्ति चक्र' या 'एक चक्कर' कहते हैं।

आश्रय राग

जनक राग या मेल राग।

आस या आँस

वाद्य यंत्रों में जब एक स्वर पर आघात करके उसी स्वर के मंद्र अथवा तार सप्तको स्वर को गुंजायमान किया जाता है, तो इस क्रिया को 'आस' या आँस कहा जाता है। तबला वाद्य में जब चाँटी का वादन करते हुए तबला-स्वर की गूंज में निरन्तरता बनी रहती है, तो उसे भी आंस कहते हैं।

आसारित

पूर्व रंग, जिसके अन्तर्गत विभिन्न लय खण्ड अर्थात् ताल-आघातों का अभ्यास किया जाता है।

आसीन

जहाँ किसी भी वाद्य की स्थिति न हो तथा शोक व चिन्ता से युक्त स्त्री गात्र को फैलाती हुई गीत गाए, उसे 'आसीन लास्यांक' कहते हैं।

आहत नाद

घर्षण द्वारा उत्पन्न होकर कानों से सुनाई देने वाला व्यक्त नाद 'आहत नाद' कहलाता है।

अहार्याभिनय

आभूषण, वेशभूषा एवम् रूप-सज्जा या अंगरचना द्वारा अभिनय प्रस्तुत करना 'आहार्याभिनय' कहलाता है; चतुर्विध अभिनय का एक प्रकार। इसके चार भेद बताये गए हैं— पुस्त, अलंकार, तीन अंग रचना और संजीव।

आक्षिप्तिका

निबद्ध गान का भेद; प्राचीन काल में खयाल, ध्रुपद, धमार इत्यादि गीत प्रकारों की तरह नई शैली में जो रचना तैयार की जाती थी, उसे 'आक्षिप्तिका' कहते थे।

इष्ट-अनिष्ट

'इष्ट' का अर्थ है 'प्रिय' या 'चाहा हुआ' और 'अनिष्ट' का अर्थ है 'अप्रिय' या 'न चाहा हुआ'। संगीत में जो दो स्वर एक साथ छेड़ने पर भले प्रतीत हों, वे परस्पर 'इष्ट' कहलाते हैं और एक साथ छेड़ने पर जिनकी ध्वनि भली प्रतीत न हो, वे परस्पर अनिष्ट कहलाते हैं। 'सामान्य इष्टता' को 'अनुवाद' और 'परम इष्टता' को 'सम्वाद' भी कहा जाता है। इसी प्रकार 'परम अनिष्टता' को 'विवाद' कहा जाता है; 'विष्णु धर्मोत्तर' पुराण में नृत्त सूत्रम् के अन्तर्गत सामान्य अभिनय की चर्चा के अन्तर्गत इन्द्रियों के पाँच विषयों का अभिनय करने के लिए तीन प्रकार बताए गए हैं, जिनके नाम हैं—'इष्ट', 'अनिष्ट' और 'मध्यस्थ'।

इष्टपद

इष्टदेव की स्तुति में प्रस्तुत किया जाने वाला पद।

ईहामृग

रूपक के दस भेदों में से एक; ईहा का अर्थ है इच्छा अर्थात् तृष्णा और मृग का अर्थ है अन्वेषण करना। इस रूपक में अमर स्त्रियों (दिव्य स्त्रियों) की खोज (मार्गण) की जाती है। तृष्णा से व्याकुल मृग के समान नायक भी नायिका को प्राप्त करने की इच्छा अथवा वांछा करता है। अतः इसे 'ईहामृग' कहते हैं। इसमें चार, पाँच अथवा छह नायक-प्रतिनायक हो सकते हैं। नाट्यदर्पणकार ने इसके बारह नायक माने हैं। इसमें नायक देव तथा मानव, दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। अधिकांश आचार्यों ने इसमें चार अंक स्वीकार किए हैं। यह कैशिकी वृत्ति से हीन होता है।

उक्तप्रयुक्त

लास्य के दस अंगों में से एक; जहाँ मान तथा प्रसाद हो, नायक का तिरस्कार हो, रस से युक्त हो, हाव और हेला से युक्त हो तथा चित्रबन्ध के कारण सुन्दर हो, जिसमें उक्ति प्रत्युक्ति पाई जाती हो तथा उपालंभ हो एवं झूठी बातें हों, शृंगार चेष्टा पाई जाती हो, ऐसा गीत 'उक्तप्रयुक्त' कहलाता है।

उघटत

कठिन बोलों को पढ़त के साथ नृत्य करते हुए जब रस और भाव का उदय हो, तो उसे 'उघटत', 'औघट' या 'उघरत' कहते हैं। यह शब्द उद्घाटन से बना है। नृत्य करते हुए ताल

देना उघटना कहलाता है । रासलीला के अनेक छंद तथा कवित्तों में 'उघटत' या 'औघट' शब्दों का प्रयोग मिलता है ।

उच्चंड

तांडव का एक भेद; इसमें रौद्र, वीभत्स तथा भयानक की संयोजना होती है । इसमें आकाशचारी, भ्रमरी, कर्ण व अंगहारों का द्रुतलय में प्रयोग होता है ।

उठान

स्तुति की बाद ताल या नृत्य का सर्वप्रथम टुकड़ा । गीत के आरम्भ में सम पकड़ने के लिए बजाया जाने वाला ताल सम्बन्धी टुकड़ा ।

उत्तमोत्तम

लास्य के दस अंगों में से एक; रस तथा भाव से युक्त गीत 'उत्तमोत्तम' कहलाता है ।

उत्तर भारतीय संगीत

संगीत की दृष्टि से भारत वर्ष की भिन्नता के आधार पर दो भागों अर्थात् उत्तर व दक्षिण में बाँट दिया है । अतः उत्तर की ओर प्रचलित संगीत को 'उत्तर भारतीय संगीत' कहते हैं और दक्षिण की ओर प्रचलित संगीत 'दाक्षिणात्य संगीत' या 'कर्नाटिकी संगीत' कहलाता हैं । कुछ समय तक 'उत्तर भारतीय संगीत' को 'हिन्दुस्तानी संगीत' भी कहा जाता था ।

उत्तर राग

उत्तरांगवादी राग ।

उत्तरांग

राग का दूसरा अंतिम भाग 'उत्तरांग' कहलाता है; सप्तक का उत्तरार्द्ध ।

उत्प्लवन

उछलना ।

उत्प्लवन भ्रमरी

घूम-घूमकर उछलना ।

उत्सृष्टिकांक

रूपक के दस भेदों में से एक; इसमें एक, दो या तीन अंक तक होते हैं । 'नाट्यदर्पणकार' के अनुसार यह रूपक युद्ध कथा पर आधारित वस्तु वाला, पुरुष नायक वाला, भांड़ की भाँति भारती वृत्ति तथा मुख व निर्वहण संधि वाला, वाग्युद्ध से मुक्त एवं करुण रस प्रधान होता है ।

उद्ग्राह

स्थायी; ध्रुवपद का प्रथम खण्ड ।

उदात्त

उच्च (स्वर) ।

उद्‌गाता

सामवेद की ऋचाओं का गान करने वाले मुख्य गायक को 'उद्‌गाता' कहा जाता है।

उद्‌गीत

गानोपयोगी वेदोक्त ऋचाओं को 'उद्‌गीत' कहते हैं।

उद्‌घट्टन पटु

सारङ्गी, इसराज, वॉयलिन इत्यादि गज से बजने वाले वाद्य यंत्रों का ज्ञाता 'उद्‌घट्टन पटु' अर्थात् 'विततवद्' कहलाता है।

उद्दिष्ट

किसी स्वर प्रस्तार के स्वरों की क्रम संख्या ज्ञात करने की पद्धति को 'उद्दिष्ट क्रिया' कहते हैं।

उद्धात्यक

वीथी का एक भेद; दो पात्रों की परस्पर ऐसी बातचीत, जहाँ गूढ़ अर्थ वाले पदों तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला पाई जाए; या फिर प्रश्न और उत्तर की माला पाई जाए। 'उद्धात्यक' दो प्रकार का होता है। जब पात्र के द्वारा प्रयुक्त गूढ़ार्थ पदों को दूसरा पात्र न समझ पाए और वह उसका व्याख्यान करे, उसके पर्याय का प्रयोग करे, तो वह पहले ढंग का 'उद्धात्य' या 'उद्धात्यक' होता है। जब पात्र अपनी उक्ति में किन्हीं बातों पर प्रश्न पूछकर उसके साथ ही उत्तर देता जाता है, तो यह प्रश्नोत्तर माला दूसरे ढंग का 'उद्धात्यक' है।

उद्वाहित शिर

ऊपर की ओर उठा हुआ शिर।

उपगान

सहगान अथवा संगति में किया जाने वाला गायन।

उपज

कल्पना से उत्पन्न स्वरसमूह या कलात्मक अभिव्यक्ति; गायन या वादन में जब स्थायी के अंश को तरह-तरह से अलंकृत या भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है, तो इसे 'उपज' कहते हैं। उत्पन्न होने की क्रिया ही 'उपज' कहलाती है। दूसरे शब्दों में संगीतकार की कल्पना शक्ति या तात्कालिक चिन्तन का प्रयोग 'उपज' कहलाता है।

उपनाह

वीणा का वह भाग, जिसमें तंत्रियां (तार) बांधी जाती हैं।

उपांग

अभिनय में प्रयुक्त होने वाले सिर के बारह अवयव; यथा—नेत्र, भ्रू, (भौंह), पुट (पलक), नेत्र (आंख) की पुतली (तारा), कपोल (गाल), नासिका (नाक), श्वास, अधर (होंठ), दांत, जिह्वा (जीभ), चिबुक (ठोड़ी) और मुख। आंगिक अभिनय के अन्तर्गत इन सभी अवयवों का प्रयोग होता है। कुछ आचार्यों के अनुसार स्कन्ध (कंधे) भी अंगों के अन्तर्गत बताये गए हैं।

अन्य उपांगों में एड़ियाँ, टखने, हाथों की उंगलियाँ तथा पैरों के पंजे एवम् तलवे भी बताए गये हैं; जन्य राग, जिसमें अनुस्वार नहीं लगाए जाते।

उपोहन

ताल रहित मोम्-तोम्; शुष्क मीत।

उप्पसु

ऋग्वेदोक्त नृत्य की अधिष्ठात्री देवी को 'उप्पसु' कहा गया है।

उरप

नृत्य में प्रसन्नता पूर्वक उछलते हुए उद्दाम भावनाओं का प्रदर्शन।

उरमई

आकाश में उछाल लेकर थोड़ी देर के लिए अधर में रुककर पुनः जमीन पर पैर रखना 'उरमई' कहलाता है। एक प्रकार के निढाल लटकने की क्रिया, जो रास नृत्य में कृष्ण के गले में हाथ डालकर निढाल होकर राधा के द्वारा सम्पन्न होती है।

उल्लोकित दृष्टि

ऊपर की ओर देखना।

उल्लोप्यक

नृत्य भेद (रूपक) का एक प्रकार।

उसी

विसर्जन।

ऋक् या ऋचा

ऋग्वेद के मंत्रों को 'ऋक्' या 'ऋचा' कहा जाता है।

ऋतु राग

हनुमन्मत में ऋतुओं के साथ रागों का सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है—ग्रीष्म में दीपक राग, वर्षा में मेघ राग, शरद में भैरव राग, हेमन्त में मालकोश राग, शिशिर में श्री राग और वसन्त ऋतु में हिन्दोल राग।

एककल

द्रुतलय वाला।

एकनट

नाट्य का प्रवर्तक मुख्य नट।

एकपाद भ्रमरी

एक पैर के बल खड़े होकर चक्कर लगाने की क्रिया।

एकल या एकाकी प्रदर्शन

जब एक ही कलाकार का प्रदर्शन हो, तो वह एकल, एकाकी प्रदर्शन कहलाता है। इसी को 'सोलो' कार्यक्रम भी कहते हैं।

एडुप्पु

ताल की आवृत्ति में किसी कृति का प्रारम्भिक बिन्दु ।

ओडम्

ऐसा गीत जिसमें नाव को खेने का अनुसरण किया जाता है ।

ओघ

गीत के अंत में विभिन्न वादकों के समुदायों द्वारा गीत का भागशः सामूहिक अनुकरण करना गीत का 'ओघ' कहलाता है ।

ओडिसी नृत्य

उड़ीसा की परम्परागत नृत्य शैली । ईश्वर को समर्पित भाव-भंगिमाएँ इस नृत्य-शैली का आधार हैं । इसमें कवि जयदेव की अष्टपदी का गायन और प्रदर्शन प्रमुखता से किया जाता है ।

कंपित शिर

ऊपर नीचे कांपता हुआ शिर ।

ककुभ

वीणा का वह भाग, जो चमड़े से आवृत्त रहता है ।

कच्चेरी

कर्नाटिक संगीत के कार्यक्रम को 'कच्चेरी' कहते हैं । उत्तर भारत में इसे 'कचहरी' कह दिया जाता है । विभिन्न ताल वाद्यों का सामूहिक वादन 'ताल कच्चेरी' कहलाता है ।

कजली

उत्तर भारत के पूर्वी अंचल की एक गायन शैली, जिसमें वर्षा ऋतु तथा विरह वर्णन को प्रधानता रहती है । इसे बरसाती गीत के नाम से जाना जाता है ।

कटपयादि संख्या

किसी मेल राग की संख्या के आधार पर उसकी क्रम संख्या ज्ञात करने की विधि ।

कटाक्ष

तिरछी और चंचल दृष्टि (चितवन) से देखना । कथक नृत्य में थाट या गत प्रदर्शन के समय जब मुखड़ा लगाकर सम पर निगाह को अचानक किसी एक ओर फेंका जाता है, तो यह क्रिया 'कटाक्ष' कहलाती है । शास्त्रीय परिभाषा में इसे 'साची दृष्टि' कहा गया है ।

कण-स्वर

मूल स्वरों को स्पर्श करने वाला स्वर । इसे 'खटका' भी कहते ।

कण्डिका

गीत का खण्ड ।

कर्तरि

उत्प्लवन; बांये पैर के पीछे 'कर्तरि' मुद्रा में हाथों को रखते हुए कमर पर नीचे की ओर शिखर हस्त मुद्रा का प्रदर्शन करते हुए पैर के पंजों पर उछलने की क्रिया ।

कथक

किसी कथा को अभिनय, गायन या नृत्य के द्वारा प्रस्तुत करने वाला नाट्याचार्य; कथिक; एक नट जाति ।

कथक नृत्य

कथा प्रधान भाव-नृत्य 'कथक नृत्य' या 'कत्थक नृत्य' कहलाता है, जिसकी प्रस्तुति एक निश्चित आधार पर की जाती है। यह उत्तर भारत की प्रमुख नृत्य-शैली है और इसका प्रदर्शन करने वाले 'कथक', 'कथिक', 'कत्थक' या 'नट' कहलाते हैं। इसे 'नटवरी नृत्य' से भी जाना जाता है।

कथकलि नृत्य

दक्षिण भारत के केरल प्रदेश का मुख्य नृत्य 'कथकलि' कहलाता है। किसी कथा को पात्रों के मुखौटे लगाकर संगीत और नृत्यमय अभिव्यक्ति के साथ प्रस्तुत करना ही 'कथकलि' नाम से जाना जाता है।

कथा

किस्सा, गाथा, कथानक या कहानी ।

कथानक

छोटी कथा ।

कथानकी

जब नर्तक किसी कथानक के प्रस्तुतीकरण में गतभाव के अन्तर्गत विभिन्न पात्रों के चरित्र के अनुरूप अभिनय करता है, तो उसे 'कथानकी' भाव कहते हैं।

कथापीठ

कथा का मुख्य भाग या प्रस्तावना ।

कथाप्राण

कथा से आजीविका कमाने वाला व्यक्ति ।

कथामुख

कथा की प्रस्तावना ।

कथावस्तु

सम्पूर्ण कथानक का सारांश या कथा का मूल रूप ।

कथिक

कथक; कथा का नाटकीय प्रस्तुतीकरण करने वाला एक सम्प्रदाय ।

कथोद्घात

सूत्रधार के समान घटना वाले वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए जब कोई नाटकीय पात्र मंच पर (प्रथम अंक में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को 'कथोद्घात' कहते हैं। यह दो तरह का हो जाता है—वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक ।

कर्नाटिक वाद्य

दक्षिण भारत के संगीत में प्रयुक्त वाद्य यंत्र, जैसे—वॉयलिन, मृदंगम्, कंजीरा, कोनककोल, घटम्, मोरसिंग, तम्बूरा, वीणा, नागस्वरम् (नादस्वरम्), गोट्टुवाद्यम्, तविल, वेणु (पुल्लाग कुलल), तालम् (जालरा), चिपल (कठताल की भांति), जलतरंगम्, सेक्सोफोन, क्लेरिनेट (क्लेरियोनेट), श्रुतिपेट्टि (श्रुतिबॉक्स), मेंडोलिन, नट्टुवांगम्, मंजीरम्, घुंघरिका (घुंघरु) इत्यादि ।

कर्नाटिकी या दाक्षिणात्य संगीत

संगीत की दृष्टि से भारत वर्ष को भिन्नता की दृष्टि से दो भागों अर्थात् उत्तर व दक्षिण में बांटा गया है । अतः दक्षिण की ओर प्रचलित संगीत को 'दाक्षिणात्य संगीत' या 'कर्नाटिक संगीत' कहते हैं और उत्तर की ओर प्रचलित संगीत को 'उत्तर भारतीय संगीत' कहते हैं । कुछ काल तक 'उत्तर भारतीय संगीत' को 'हिन्दुस्तानी संगीत' भी कहा जाता था ।

कबारे

एक विदेशी नृत्य पद्धति, जिसका अपभ्रंश 'कैबरे' है ।

कम्पन

हिलन-डुलन, आन्दोलन या थरथराहट; गमक का एक प्रकार ।

कल्पित संगीत

कर्नाटिक संगीत में पूर्व रचित संगीत को 'कल्पित संगीत' कहते हैं ।

कम्पित स्वर

आन्दोलित स्वर ।

करण

हाथ और पैरों के पारस्परिक एवं शास्त्राधारित संचालन की क्रिया 'करण' कहलाती है । इसका प्रयोग नृत्त में होता है, जिसके अन्तर्गत बिना रस-निष्पादन के कौतूहल एवं विलासपूर्ण क्रियायें प्रस्तुत की जाती हैं । करणों में प्रायः बायां हाथ छाती पर रहता है तथा दाहिना हाथ दाहिने पैर का अनुसरण करता रहता है । जहां कमर और हाथ समान स्थिति वाले हों और मस्तक तथा बाजू भी ऐसे ही हों एवं छाती ऊँची उठी हुई रहे, तो उसे 'सौष्ठव' कहते हैं, जो करणों में सौन्दर्य उत्पन्न करने की दृष्टि से प्रयुक्त किया जाता है । करणों का प्रयोग नृत्य में किया जाता है, परन्तु कभी-कभी अभिनय के बीच में समय की पूर्ति के लिए भी किया जाता है । इसके अतिरिक्त शस्त्र-युद्ध, बाहु-युद्ध तथा नृत्य सौष्ठव के लिए भी करणों का प्रयोग होता है । तण्डु मुनि से प्राप्त एवं महर्षि भरत द्वारा 'नाट्यशास्त्र' में उल्लिखित करणों की संख्या १०८ है । भरतोक्त करण 'मार्गी' तथा अन्य आचार्यों द्वारा उद्धृत करण 'देसी' कहे जाते हैं । जिस प्रकार विभिन्न स्वरों से रागों का निर्माण होता है, उसी प्रकार करणों के योग से 'अंगहार' बनते हैं ।

कला

१. किसी भी क्रिया में जब विशेषता उत्पन्न हो जाती है, तो वह क्रिया 'कला' कहलाती है। शास्त्रों में मुख्य रूप से चौंसठ 'कलाएँ' गिनाई गई हैं। इनमें संगीत कला, चित्र कला, काव्य कला और स्थापत्य कला को ललित कलाओं की श्रेणी में माना गया है। मनोरंजन और मुक्ति का साधन होने के कारण 'संगीत' की कला को विशेष स्थान प्राप्त है। उर्दू में कला को 'फ़न', 'करतब', या 'हुनर' कहते हैं; विद्या विशेष; क्रिया कौशल।

२. दो मात्राओं की एक कला होती है, 'गुरु' 'कला' का ही पर्याय है। ताल-भाग को 'कला' कहते हैं एवं निःशब्द तथा सशब्द क्रियाएँ भी 'कला' कहलाती हैं।

कलाकार

कला में निपुण व्यक्ति 'कलाकार' कहलाता है। उर्दू में इसे 'फ़नकार' कहते हैं।

कलायन

नर्तक।

कलास

कथकों में प्रचलित लास्य का अंग।

कल्पवली तथा परिजातक

नृत्य (रूपक) का एक प्रकार।

क़व्वाली

उत्तर भारतीय संगीत की एक गायन शैली। यह मुस्लिम-समाज की एक स्तुतिपरक गायकी है, जिसे 'क़ौल-कल्बाना' भी कहा जाता है। इसमें अधिकतर उर्दू व फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग होता है। 'क़व्वाली' गाने वालों को 'क़व्वाल' कहते हैं। 'ख़मसा' नामक गायन शैली भी कव्वाली से मिलती-जुलती है।

कवित्त

किसी कविता अथवा पद को 'कवित्त' कहते हैं। नृत्य में 'कवित्त' के साथ उसका भाव भी प्रदर्शित किया जाता है।

कसक

ताल-लय सहित सुन्दरता पूर्वक कलाई चलाने की क्रिया।

कांति

आभा से देदीप्यमान नायिका की शोभा जब सघन हो जाती है, तो उसे 'कांति' या 'कांति अलंकार' कहते हैं।

काक पद

कर्नाटिक संगीत में तालों की मात्रा और तालियां लिखने के लिए जो चिह्न प्रयोग में लाये जाते हैं, उनमें सोलह मात्राओं का बोध कराने के लिए जिस चिह्न का प्रयोग होता है, उसे 'काकपद' कहते हैं। यह चिह्न उत्तर भारतीय संगीत में सम के चिह्न के समान ही होता है।

काकु

स्वर की प्रकृति, गुण या विकार के आधार पर अर्थ की अभिव्यंजना 'काकु' कहलाती है।

काल

समय को ही 'काल' कहा जाता है। बीता हुआ काल 'भूत काल', आने वाला काल 'भविष्यत् काल' और इन दोनों के बीच वाले काल को 'वर्तमान काल' कहते हैं।

काव्य

नृत्य भेद (रूपक) का एक प्रकार; छंदोबद्ध रसात्मक साहित्य; पद।

किंकिणी

घूँघरू; नूपुर।

कीर्तन

ईश्वर के गुणानुवाद से युक्त संक्षिप्त शब्दावली या मंत्रों से युक्त गीत शैली को 'कीर्तन' कहते हैं। भक्ति भाव से पूर्ण इस शैली में स्वरों की अपेक्षा शब्दों का अधिक महत्व रहता है।

कुंचित

एड़ी ऊँची उठाकर केवल पंजे से पृथ्वी पर आघात करके उसे दूसरे पैर के पीछे ले जाना 'कुंचित' कहलाता है।

कुंचित भ्रमरी

झुककर घूमना।

कुआड़ी

जब ४ मात्राओं के काल में ५ मात्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो उसे 'सवाई' या 'कुआड़ी' लय कहते हैं।

जब चार मात्राओं के काल में ७ मात्राएँ प्रदर्शित की जाएँ, तो उसे 'पोनेदोगुनी' अथवा 'बिआड़ी' लय कहते हैं।

कुआड़ी लय

मध्य लय से सवा गुनी ($१\frac{१}{४}$) लय को 'कुआड़ी लय' कहते हैं।

कुचिपुड़ी-नृत्य

आंध्र प्रदेश में प्रचलित नृत्य-शैली, जो वैष्णव भक्ति-भावना-प्रधान नृत्य-नाट्य है।

कुट्टन

पैरों द्वारा पृथ्वी पर ताड़न (कूटना) करना।

कुतप

वाद्य वृन्द; उन वाद्यों का समूह, जो मंच पर इकट्ठे किए जाते हैं।

कुरवई

विभिन्न अडवुओं के सम्मिश्रण से निर्मित विशिष्ट नृत्य क्रिया।

कुशीलव

कथागान में निष्णात प्राचीन कथिक जाति; नट विशेष ।

कूट तान

जिस तान में स्वरों का क्रम या सिलसिला वक्र गति से हो, उसे 'कूट तान' कहते हैं। इसे 'वक्र तान' भी कह सकते हैं।

कृति

संगीत रचना; कर्नाटिक संगीत का एक गीत प्रकार, जिसमें साहित्य की अपेक्षा स्वरों का अधिक महत्व रहता है।

कृपालग

उत्प्लवन; दोनों हाथों को पैरों के बीच अर्द्धचन्द्र की मुद्रा में रखते हुए बारी-बारी से दोनों पैरों की एड़ियों द्वारा कमर का स्पर्श करते हुए उछलना।

कैशिकी वृत्ति

सौन्दर्य से पूर्ण अभिव्यक्ति।

कोण

तत् वाद्यों को बजाने के लिए लोहे अथवा लकड़ी इत्यादि से बना हुआ वादन-दण्ड। इसे 'अंकुश', 'नखी' या 'मिज़राब' भी कहते हैं। अँग्रेजी वाद्यों में विभिन्न आकार वाले ऐसे उपकरणों को 'प्लेक्ट्रम' या 'रॉड' कहते हैं।

कोनुगोल

ताल को सूचित करते हुए जाति का प्रदर्शन।

कोमल स्वर

जब शुद्ध स्वर अपने नियत स्थान से हटकर नीचे उतर आता है, तो उसे 'कोमल स्वर' कहते हैं।

कोलम्बक

वीणा का स्वरूप या कलेवर।

कोल्हाटिक

शस्त्रविद्या में निपुण, अत्यन्त भार का वहन करनेवाला, रस्सी पर चलने और छुरी लेकर नाचने में कुशल व्यक्ति 'कोल्हाटिक' कहलाता है।

कौथुवम्

स्तुति या स्तोत्र।

क्रमालय

नृत्त क्रिया 'ततकार' की बढ़त या 'पैर बजाना'।

क्रिया

कार्य करने की विधि 'क्रिया' कहलाती है।

क्रियापर

संगीत का कठोर साधन करने वाला कलाकार 'क्रियापर' कहलाता है।

खटका

द्रुतगति से प्रयुक्त स्वर को स्पर्श करते हुए स्वर लगाना। इसे 'कण स्वर' भी कहते हैं। अचानक उत्पन्न किसी सूक्ष्म ध्वनि या आहट को भी 'खटका' कहते हैं; गमक का एक प्रकार; कण स्वर का प्रबल स्पर्श करने की क्रिया। वाद्य संगीत में जिसे 'खटका' कहते हैं, उसी को गायन में 'गिटकरी' या 'गिटकारी' कहते हैं। यह शब्द गान क्रिया या गीत क्रिया का अंग है।

खण्ड

एक गति जिसमें तीन करण होते हैं।

खण्ड मेरु

कूटतानों के स्वर प्रस्तार की प्रक्रिया।

ख़याल

उत्तर भारतीय संगीत की एक शास्त्रीय गायन शैली। इसमें विलम्बित तथा द्रुत लय की बंदिशें होती हैं तथा तानों की बहुलता रहती है। विलम्बित लय वाले ख़याल को 'बड़ा ख़याल' और द्रुत लय में गाये जाने वाले ख़याल को 'छोटा ख़याल' कहते हैं।

खाली

ताल का स्वरूप निर्मित करने में जो भाग निर्बल या बेदम अर्थात् कमजोर पक्ष वाला दिखाया जाता है, उससे सम्बन्धित मात्रा को 'विषम मात्रा' 'खाली' कहते हैं। 'खाली' को 'रिक्त', 'शून्य स्थान', 'निपात', 'फाँक', 'विश्रान्ति स्थल' तथा 'अनाघात' भी कहा जाता है।

खूँटियाँ

तारवाद्यों में तारों को लपेटे जाने वाले अवयवों को 'खूँटियाँ' या 'कुंजियाँ' कहते हैं। अंग्रेजी में इन्हें 'हेड' या 'पेग्स' कहते हैं।

गंड

वीथी का एक भेद; जहाँ प्रस्तुत विषय में सम्बद्ध अर्थ से भिन्न वस्तु एकदम उपस्थित हो जाय, उसे 'गंड' कहते हैं।

गज़

धनुषाकृतिवाले जिस उपकरण या छड़ी से तार वाद्यों पर स्वर निकालने के लिए घर्षण किया जाता है, उसे 'गज़' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'बो' कहा जाता है।

ग़ज़ल

उत्तर भारतीय संगीत की एक गायन शैली, जिसमें उर्दू या फ़ारसी के शृंगार रस प्रधान शब्दों का प्रयोग होता है।

गण्डा

उत्तर भारतीय संगीत में शिष्य बनाने की प्रक्रिया में शिष्य के मणिबंध (कलाई) पर गुरु द्वारा बांधा गया पवित्र धागा 'गण्डा' कहलाता है और यह प्रक्रिया गण्डा-बंधन कहलाती है। गण्डा को 'कलाया', 'कलावा' या 'मणि सूत्र' भी कहते हैं।

गति

नृत्य में विभिन्न प्रकार की चालों अथवा चलने की क्रिया को गति कहते हैं। आचार्यों ने दस प्रकार के गति-भेद बताये हैं, यथा—'हंसी', 'मयूरी', 'मृगी', 'गजलीला', 'तुरंगिवी', 'सिंघी', 'भुजङ्गी', 'मण्डूकी', 'वीरा' तथा 'मानवी'।

गतिक

जिन स्वरों को संचालित या स्थानान्तरित करके उनके स्वरूप में परिवर्तन किया जाता है, वे 'गतिक स्वर' कहलाते हैं, जैसे—सप्तक में ऋषभ, गान्धार, मध्यम, धैवत और निषाद की विकृत अवस्था प्राप्त होने के कारण 'गतिक' कहा जायेगा। संचरणशील या गतिशील होने के कारण ही ऐसे स्वर 'गतिक' कहलाते हैं।

गन्धर्व

संगीत का ज्ञान रखने वाली एक प्राचीन जाति; मार्ग और देशी संगीत के ज्ञाता व्यक्ति को प्राचीन काल में 'गन्धर्व' कहते थे।

गमक

ज़ोरदार ध्वनि के सहित स्वर पर आन्दोलन करना 'गमक' कहलाता है; स्वर का रञ्जकता प्रदान करने वाला कम्पन युक्त प्रयोग। शास्त्र में इसके पन्द्रह भेद बताये गए हैं, यथा—तिरिप, स्फुरित, कंपित, लीन, आन्दोलित, वलि, त्रिभिन्न, कुरुल, आहत, उल्लासित, प्लावित, हुम्फित, मुद्रित, नामित और मिश्रित।

गाथक या गाथिक

कथा का गायन या स्तोत्र का गान करने वाला।

गाथा

छन्दोबद्ध कथा या कहानी।

गान

किसी वाक्य को इस ढंग से गाया जाए कि उसमें 'स्वर' अपने व्यवस्थित स्थान पर लगें, तो उसे 'गान' कहते हैं।

गान्धर्व

'संगीत' का पर्यायवाची नाम, जिसका प्रयोग प्राचीन काल में किया जाता था; सामवेद का एक उपवेद।

गायक

कण्ठ द्वारा संगीत प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति 'गायक' कहलाता है। प्राचीन काल में 'गायक' को 'गायन' कहा जाता था।

गायक लक्षण

शास्त्र में गायक के लक्षण इस प्रकार बताये गए हैं—मार्ग और देशी संगीत का ज्ञाता; नृत्य, संगीत और गीत में कुशल; ताल और लय का ज्ञाता; सुन्दर; श्रुति, स्वर और राग का ज्ञाता। उसे गायन में सिर नहीं हिलाना चाहिए और न चेहरे को विकृत करना चाहिए। इन सभी गुणों से सम्पन्न पुरुष एक आदर्श 'गायक' कहलाता है।

गायकी

गीत की नायकी अर्थात् परम्परागत पद्धति को सुचारु रूप से प्रस्तुत करना 'गायकी' कहलाता है।

गायन

स्वर, ताल व लय के साथ शब्दों का उच्चारण करना; संगीत की एक विधा, जो कंठ से प्रकट होती है।

गात्र वीणा

मानव शरीर गाने का साधन है, इसलिए उसे 'गात्र वीणा' कहा जाता है। 'गात्र वीणा' में स्वर और भाषा दोनों को साथ-साथ व्यक्त करने की सामर्थ्य है, परन्तु मनुष्य के द्वारा निर्मित वीणा वाद्य भाषा को व्यक्त करने में असमर्थ है। इसी दृष्टि से कहावत है—'उत्तम गायन मध्यम वादन', अर्थात् गान को वादन की अपेक्षा उत्कृष्टतर कहा गया है।

गात्रानुलेपनी

अंग राग; शरीर पर किया जानेवाला विशेष लेप।

गिटकिडी (गिटकिरी)

उत्तर भारतीय संगीत में गमक का एक प्रकार।

गीत

गीति; रंजक स्वर-सन्दर्भ; किसी साहित्यिक पद या काव्य को स्वर बद्ध करके जब गाया जाता है, तो उसे 'गीत' कहते हैं। गीत के प्रधान अंग हैं—स्वर-समूह या राग, पद, ताल और गति। भाव गीत, ऋतु गीत, बाल गीत, राष्ट्रीय गीत, फिल्मी गीत, महिला गीत, लोक गीत, मंगल गीत, भक्ति गीत, प्रेम गीत, उत्सव गीत जैसे नाम 'गीत' की विधा बन जाते हैं।

गीतम्

प्रबन्ध का आधुनिक नाम। इसे साहित्य में काव्य या कविता कहा जाता है।

गीतमान

किसी गीत (ठुमरी आदि) की विधा पर भाव प्रदर्शित करना 'गीतमान' कहलाता है।

गीति

प्राचीन काल में गीत को 'गीति' कहते थे। इसकी विभिन्न पद्धतियाँ या रीतियाँ होती थीं अर्थात् गीत के विभिन्न प्रकारों को राग के आश्रय से विशेष पद्धति द्वारा गाया जाता था।

शास्त्र में पाँच प्रकार की गीतियों का उल्लेख है जैसे—शुद्धागीति (सरल एवं ललित स्वर युक्त), भिन्नागीति (द्रुत उच्चारित एवं मधुर गमक युक्त), गौड़ीगीति (गम्भीर तथा तीनों स्थानों में गमक युक्त और अखण्डित प्रकार), वेसरा (वेग युक्त अर्थात् द्रुतलय का प्रकार), साधारणी गीति (पूर्वोक्त चारों प्रकारों के मिश्रण से युक्त)। वर्तमान काल की ध्रुपद गायकी में पाँच प्रकार—डागरवाणी, गौड़हारवाणी, नौहारवाणी, खण्डारवाणी, गोबरहारवाणी—का सम्बन्ध उक्त गीतियों से जोड़ा जाता है।

गुंडली नृत्त

लास्य का एक भेद, जो देशी ताल, वाद्य, देशी गीत, चौंसठ अंगों से युक्त गति तथा लय से युक्त होता है।

गुरु

साहित्य में दो मात्रा वाला अक्षर या वर्ण; शिक्षा देने वाला शिक्षक या पूज्य; बड़ा; दीर्घ; भारी।

गुलू

सितार और वीणा जैसे वाद्यों में जहाँ 'डाँड' और 'तूबाँ' जुड़े होते हैं, उस भाग को 'गुलू' कहते हैं।

गेयपद

लास्य के दस अंगों में से एक; जहाँ पुरःस्थित नायक के सामने वीणा के द्वारा शुष्क गान गाया जाए, वह 'गेयपद' कहलाता है।

गोष्ठ वादन

वाद्यों का स्वतन्त्र वादन 'गोष्ठ वादन' कहलाता है। इसे 'निर्गीत' अथवा 'शुष्क वादन' भी कहते हैं।

गोष्ठी

नृत्य भेद (रूपक) का एक प्रकार; लघु सभा; नाट्यगृह में संगीत कार्यक्रम; अर्द्धचन्द्राकार वृत्त; सामूहिक संवाद।

गोष्ठी गान

स्वरों और लय की अभिव्यक्ति करने वाले व्यंजन समूहों की सहायता से जिस गान की सृष्टि की जाती है, उसे 'गोष्ठी गान' कहते हैं। आजकल इसे 'नोम तोम्', 'आलापचारी', 'बेहेलावा' या वाद्य-वादन में 'जोड़ का काम' कह दिया जाता है।

ग्रन्थिक

कथावस्तु के संवादों का वाचक।

ग्रह

ताल के प्रारम्भिक स्थान को ग्रह कहते हैं, जिसके दो भेद होते हैं—'सम' और 'विषम'। 'सम' ताल की पहली मात्रा कहलाती है और 'विषम' का स्थान 'सम' के आगे या पीछे होता है।

'सम' के आगे वाले स्थान को 'अनाघात' (अनुगत या अनागत) और पीछे वाले स्थान को 'अतीत' कहते हैं।

ग्रह स्वर

संगीत रचना (राग) का प्रारम्भिक स्वर। इसे 'आधार' स्वर भी कहते हैं।

ग्राम

१. निश्चित व्यवस्था के अनुसार स्थापित सप्त विशिष्ट स्वरों का सप्तक 'ग्राम' कहलाता है। इसके तीन भेद माने गए हैं—षड्ज ग्राम, गान्धार ग्राम और मध्यम ग्राम।

२. ग्राम तथा जाति अथवा स्वर-संवाद के आधार पर स्वरों की क्रमिक्र रचना।

ग्रीवा

तारवाद्यों के सबसे ऊपरी भाग को 'ग्रीवा' सिर, सिरा, मुख, मस्तक या गरदन कहते हैं। यह भाग डांड के ऊपर होता है, जिसमें 'अटी, 'तारगहन' और 'खूँटियाँ' स्थापित रहती हैं।

घर्घर

घुंघरुओं से ध्वनि उत्पन्न करने की प्रक्रिया। जिसके छह प्रकार होते हैं—पड़िवाट (एड़ियों से पृथ्वी पर कुट्टन अर्थात् आघात करना), अपडप (तलवों से पृथ्वी पर आघात करना), सिरिपाट (पैर के तलवे को पृथ्वी का स्पर्श रखते हुए आगे-पीछे सरकाना), अलगपाट (दोनों पैरों को क्रमशः पृथ्वी से ऊपर कोमलता के साथ हिलाना), शिरहिर (एक पैर को आगे बढ़ाकर हिलाना अथवा पृथ्वी पर स्वाभाविक स्थिति में रखे दोनों पैरों को हिलाना) और खलुहुल (पृथ्वी पर पंजे को टिकाकर बाँधे पैर की एड़ी से ऊपर नीचे संचालन करना। दूसरे पैर को पंजे से इस अवधि में बांई तथा दांई ओर घुमाना)। आचार्य शाङ्र्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में घर्घर के उपर्युक्त प्रकार बताते हुए कहा है, कि इसी आधार पर अन्य प्रकारों का निर्माण भी किया जा सकता है। परन्तु सभी 'घर्घर' ताल से सामंजस्य रखते हुए होने चाहिए।

घनराग

कर्नाटिक संगीत के गौल इत्यादि दस राग 'घनराग' कहलाते हैं।

घराना

कुल; वंश; परम्परा या स्कूल।

घसीट

दो स्वरों के बीच में धनुषाकार द्रुतस्वर-लगाव को 'घसीट' कहते हैं। यह मीड़ का ही एक प्रकार है।

घुड़च

'घोड़ी', 'घुड़च', मेरु, जवारी और अँग्रेजी में इसे 'ब्रिज' कहते हैं, जिसके ऊपर से वाद्य के तार कसे जाते हैं। वॉयलिन जैसे ततुवाद्यों की पतली घुड़च को 'पत्रिका' कहते हैं।